मन के उस पार



विमला ठकार

मन के उस पार

(११ प्रवचनों और ४ प्रश्नोत्तरियों का शब्दशः संकलन)



विमला ठकार

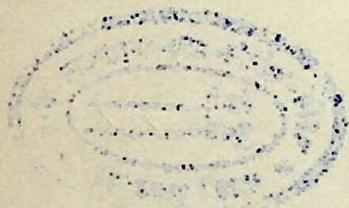
प्रकाशक

दी न्यू ऑर्डर बुक कम्पनी

एलिस ब्रिज, अहमदाबाद–६.

मुद्रक—

तारा यन्त्रालय, कमच्छा, वाराणसी



प्रथम संस्करण—फ़रवरी, १९६९

प्रकाशक

विमल प्रकाशन ट्रस्ट की ओर से
दी न्यू ऑर्डर बुक कम्पनी
अहमदाबाद ६.



प्राक्कथन

महामहोपाध्याय डॉ श्री गोपीनाथ कविराज

मानव की जागतिक सत्ता का विश्लेषण करने पर स्थूल दृष्टि से उसमें तीन विभाग दिखाई देते हैं—(१) भौतिक विभाग (२) मनोमय विभाग और (३) अतिमानस विभाग। भौतिक भाग में स्थूलदेह अथवा अन्नमय कोश और उसके साथ मिला हुआ प्राणमय कोश अवस्थित है। मनोमय विभाग में मनोमय कोश है। उसके बाद जो तृतीय विभाग है उसमें स्थूल दृष्टि से दो खण्ड हैं—एक विज्ञान का और दूसरा आनन्द या अमृत का। इस पञ्चकोश का जो अधिष्ठाता है, उसकी सत्ता प्रत्येक कोश में ही है; प्रत्येक कोश के अनुरूप भाव से उसकी सत्ता दिखाई देती है। एक विभाग के साथ दूसरे विभागों का सम्बन्ध (inter-connection) है। साधारणतया मनुष्य मनोमय कोश में सञ्चरण करता है, परन्तु सभी कोशों के साथ न्यूनाधिक रूप से सम्बन्ध रहता है। क्रियागत संस्कार प्रत्येक स्तर में उत्पन्न होता है और सञ्चित भी होता है। भौतिक देह में इन्द्रिय कार्य करते हैं। इन्द्रिय है बहिर्मुख शक्ति। बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध करने के लिए यह द्वार-स्वरूप है। मनुष्य बहिर्मुख वृत्ति की अवस्था में उन-उन इन्द्रियों के द्वारा उन-उन विषयों का ग्रहण करता है। चक्षु रूप का ग्रहण करता है, श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है, इत्यादि। रूप, रस आदि बाह्य जगत् का स्वरूप है। इन्द्रिय उसका आभासन करने वाला है, अवश्य ही प्रतिबन्धक न रहने पर। मन उसकी व्याख्या (interpretation) करता है। इस व्याख्या-व्यापार में स्मृति तथा संस्कार उसकी मदद

करते हैं—ज्ञात रूप से या अज्ञात रूप से (consciously or unconsciously)। सर्वत्र ही प्रकाशात्मक आलोक आता है अधिष्ठाता आत्मा से। देश, काल, प्रभृति उपकरण इस मनोमय राज्य के निर्माण में सहायक होते हैं, इस प्रकार से सुख-दुःखमय भोग-चक्र अज्ञात रूप से निर्मित हो जाता है, और जीव को जकड़ लेता है। इसी का नाम है संसार-बन्धन। दार्शनिक लोग कहीं-कहीं संस्कार को इसका हेतु बताते हैं। यही कर्म और भोग का स्वरूप-रहस्य है। मनुष्य अनादि काल से इस चक्र में गिर कर व्याकुल होकर छटपटाता है। यथासमय मरण होता है। मृत्यु के बाद फिर जन्म होता है। इस धारा का विराम नहीं है। इसका क्या कारण है? यही कि मनुष्य अपने को अपने शुद्ध द्रष्टाभाव में देख नहीं सकता है। शुद्ध दृश्य को विभिन्न रंगों से रञ्जित करके देखता है। जो चिदात्मक शुद्ध द्रष्टा है, वह विकल्पमयी मनोभूमिका में अवतीर्ण होकर इस रंगीन जगत् के सम्मुखीन हो जाता है। मन है विकल्पों का भाण्डार-घर। यह पूर्व-संस्कार के अधीन होकर तदनुसार दृश्य पदार्थों को रञ्जित कर डालता है। दृश्य के विशुद्ध स्वरूप का दर्शन आत्मा को मिलता नहीं है। चिदात्मा के प्रकाश में जगत् प्रकाशमान है, परन्तु जगत् का वैचित्र्यमय रंगीन आकार जो कि प्रत्येक व्यक्ति के निकट भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिभात होता है, वह मन की कल्पना से संजात है। अनन्त विकल्पों के आकार के सिवाय वह कुछ नहीं है। बाह्य जगत् का यह रंगीन माया-जाल अन्तरात्मा को मोहित करके उसे सत्य-दर्शन से वञ्चित रखता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि मनुष्य सोया हुआ है, निद्रित है, अभी तक उसका सुप्तिभङ्ग नहीं हुआ है। गीता की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य अभी संयमी होकर 'सर्वभूतों

की जो निशा है', उसमें जागृत नहीं हुआ है। अथवा जिस भूमिका में सर्वभूतों का जागरण है, उससे निवृत्त नहीं हुआ है।

जीवन के मार्ग में मनुष्य के लिए प्रधान लक्ष्य है प्रबुद्ध होना, जागृत होना अर्थात् अनादि निद्रा के क्रोड से उत्थित होना। गुरुकृपा और अपना पुरुषकार या तपस्या—इन दोनों से भी अधिक यह आवश्यक है। प्रबुद्ध होने का प्रधान लक्षण यही है कि मन आत्मा के नियन्त्रण में स्थित रहे। आत्मा का स्वातन्त्र्य उसी समय प्रतिष्ठित होता है, जब मन सर्वकाल के लिये आत्मा के अधीन रहता है, जब वह आत्मा को छोड़कर इन्द्रिय के साथ युक्त नहीं होता और इन्द्रियों के विषय-दर्शन को संस्कारों के द्वारा रञ्जित नहीं करता और न ही अनन्त प्रकार के विकल्पों की सृष्टि करता है। अनादि काल से शैथिल्य के कारण मन आत्मा का आनुगत्य स्वीकार नहीं करता; यदि ऐसा करता तो प्रत्याहार नामक योगाङ्ग की आवश्यकता ही न पड़ती। यह सबको परिज्ञात है कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष मात्र से विषय-साक्षात्कार नहीं होता, यदि मन के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न हो और सर्वोपरि आत्मा के साथ मन का सन्निकर्ष न रहे।

अतएव श्रेयःकामी को चाहिए कि मन को इन्द्रियों के साथ युक्त न होने दे। और उसे निरन्तर अपने नियन्त्रण में रखे। यह योगी के लिए सम्भव है। और यदि आत्मा मन पर नियन्त्रण न रखे तो यह चाहिए कि आत्मा स्वयं मन के साथ युक्त न हो। यह अत्यन्त उच्च स्थिति की बात है। इस अवस्था में आत्मा चित्शक्ति-सम्पन्न रहता है, अर्थात् आत्मा निजस्वरूप में स्थित रहता है, मन के प्रभाव के अधीन नहीं। अथवा यह भी हो सकता है कि हम समझें कि आत्मा परमात्मस्वरूप में युक्त रहता है। इस परिस्थिति में कुछ वैकल्पिक अवस्थाएं हो सकती

हैं—(१) मन का इन्द्रियों से युक्त न होना और उसका आत्मा से युक्त रहना; (२) मन के इन्द्रियों से युक्त रहने पर भी आत्मा का मन से वियुक्त रहना, परन्तु परमात्मा से युक्त न रहना; (३) आत्मा का परमात्मा से युक्त रहना। तृतीयावस्था अत्यन्त उच्च भूमिका है। इस भूमिका में भगवल्लीलादर्शन का अधिकार मिलता है। यह परा भक्ति की दशा है। इस अवस्था में इन्द्रियों के मन से युक्त रहने पर भी और विषयों के इन्द्रियों से युक्त रहने पर भी सर्वत्र भगवल्लीला का साक्षात्कार होता है। द्वितीय अवस्था ज्ञानी का दर्शन है, इस अवस्था में आत्मा मन से युक्त नहीं है और परमात्मा से भी युक्त नहीं है। यह निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है। आगमविज्ञान कहता है कि आत्मा दो प्रकार का है—एक पुरुष-रूपी, और दूसरा ईश्वर-रूपी। पुरुष-रूपी आत्मा मन पर नियन्त्रण नहीं रख सकता, इसलिये इन्द्रिय का अर्थ से संयोग होने पर ही मन इन्द्रिय से युक्त हो जाता है। ईश्वर-रूपी आत्मा स्वात्म-स्वानन्द में सिद्ध होने के कारण मन को नियन्त्रित करने में समर्थ होता है।

एक प्राचीन सिद्ध महापुरुष ने स्वरचित ज्ञानगर्भ स्तोत्र में परा शक्ति जगदम्बा को संबोधन कर के कहा है—

"विहाय सकलाः क्रिया जननि! मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियाऽनुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम्।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रिताऽसमसुखामृतस्यन्दिनी॥"

इसका तात्पर्य यह है कि साधक विभिन्न प्रकार की मानसिक

क्रियाओं का परित्याग करते हुए, और इन्द्रियों की क्रियाओं के अनुसरणरूप पारतन्त्र्य का परिहार करते हुए स्थिति-लाभ करता है। योगी लोग भगवती की कृपा से ऐसी एक अपूर्व परम रमणीय अवस्था का अनुभव कर सकते हैं कि जिस अवस्था में वे लोग नित्य जाग्रद् भाव में अतुलनीय सुखामृत की अभिव्यञ्जक एक परम आध्यात्मिक स्थिति का अनुभव करने में समर्थ होते हैं।

ग्रन्थ के प्राक्कथन में अधिक आलोचना (चर्चा) की आवश्यकता नहीं है। आयुष्मती सुश्री विमला ठकार के अंग्रेज़ी भाषणों के पुस्तकाकार में अनेक प्रकाशन मैंने देखे हैं—जैसे—From Heart to Heart (1964), Mutation of Mind (1966), Silence in Action (1968)—इत्यादि—और सदैव मुझे उनसे आन्तरिक प्रसन्नता हुई है। आप के इस सर्वप्रथम हिन्दी प्रकाशन का मैं हार्दिक स्वागत करता हूं। जीवन के स्वानुभव से स्फूर्त्त आप की वाणी में अपूर्व प्रसाद, सहज सौन्दर्य और माधुर्य एवं विशेष प्रभाव है। अभिव्यक्ति की सहजता, मन की गण्डी (मर्यादा) से बाहर निकलने के मार्ग का सरल निरूपण देख कर मुझे बहुत प्रसन्नता होती है। 'विमल' जीवन के अनुरूप ही 'विमल' वाणी है। आप में मानव के समग्र विकसित व्यक्तित्व का दर्शन करके मुझे सदैव बहुत प्रसन्नता हुआ करती है। आशा है यह हिन्दी-प्रकाशन भारत के जनसाधारण को अखण्ड जागृति की ओर उन्मुख कर सकेगा और शीघ्र ही आप के और भी हिन्दी-प्रकाशन सुलभ हो सकेंगे और उनके माध्यम से आप के जीवन का सौरभ अधिकाधिक लोगों में फैल सकेगा। आप ने मेरे आशीर्वाद की इच्छा प्रकट की, यह आप की सहज विनम्रता है। आशीर्वाद

तो क्या कहें—मेरी आन्तरिक शुभेच्छा आप के सम्पूर्ण व्यवहार के लिये चिरकाल उन्मुक्त है; उसमें देने-लेने का अन्तर कहाँ है ?

शिवरात्रि, शनिवार,
१५ फरवरी, १९६९

श्री गोपीनाथ कविराज
(२ए सिगरा, वाराणसी)

सम्पादकीय निवेदन

*वक्ता की इच्छाओं का सम्पादन में पालन नहीं हो सका है, यही इस निवेदन का केन्द्रबिन्दु है।

बोलने और लिखने में, प्रवचन और प्रबन्ध में जो सहज अन्तर होता है, उससे सभी परिचित होंगे। प्रवचन को लिखित रूप में प्रस्तुत करते समय उसका थोड़ा-बहुत 'संस्कार' आवश्यक होता है। साथ ही यह भी सत्य है कि 'संस्कार' बोझिल बनकर प्रवचन को 'प्रबन्ध' का रूप देने की कोशिश करने लगे यह भी वांछनीय नहीं होता। प्रस्तुत संवादों की सहजता के प्रति सम्पादिका को इतना मोह रहा है कि अपेक्षित 'संस्कार' बहुत ही कम हो पाया है, जिसे नगण्य ही कहा जा सकता है। इस कारण अन्याय वक्ता के प्रति अधिक और पाठकों के प्रति कम हुआ होगा, ऐसा उसका विनम्र विश्वास है।

वास्तविक स्थिति का निर्णय तो पाठक ही कर सकेंगे। केवल इतना निवेदन है, कि सम्पादिका के सामने, न जाने क्यों, पाठकों का 'श्रोता' रूप ही स्पष्ट झलकता रहा है; पाण्डुलिपि और प्रूफ़ पढ़ते समय स्वयं का भी उसे एक श्रोता के रूप में ही भान रहा है। इसलिये बहुत कुछ 'संस्कार' का काम जिसे अनावश्यक समझ कर उसने नहीं किया है, सम्भवतः पाठकों को आवश्यक प्रतीत होगा। यदि पाठक भी अपने को श्रोता मानकर इन सहज, उन्मुक्त, स्फूर्त संवादों को लिपि-बद्ध काया के माध्यम से सुनेंगे तो सम्पादन की त्रुटियाँ उन्हें शायद कम अखरें। वैसे, सम्पादन-

---

* 'वक्तृ' शब्द के स्त्रीलिंग रूप 'वक्त्री' का प्रयोग दुरूह हो जाता; इसलिये सुगमता के अनुरोध से 'वक्ता' ही रहने दिया गया है।

धर्म का पालन हो नहीं पाया है, यह बात सम्पादिका की चेतना में पूरी तरह स्पष्ट है।

वक्ता की वाणी जल के प्रवाह की भाँति है जिसमें कोई लहरी छोटी, कोई बड़ी, कोई ऊँची. कोई नीची, कोई धीमी, कोई तेज़, कोई बीच में ही खण्डित होकर नवीन रूप में उठने वाली और कोई अनेक छोटी-छोटी लहरियों के सम्मिलन को अपने में समेटने वाली रहती है। प्रस्तुत संवादों की वाक्य-रचना भी इसी प्रकार है। उसमें परिवर्तन बहुत कम किया गया है। कहीं-कहीं (बहुत कम स्थलों पर) वाक्य पूरा करने के लिये कुछ अंश कोष्टकों (brackets) में जोड़े गये हैं। अधिकांश स्थलों पर विभिन्न विराम-चिह्नों द्वारा ही लहरियों का उठना गिरना, टूटना-जुड़ना अंकित करने की कोशिश की गई है।

अंग्रेज़ी शब्दों, वाक्यांशों या वाक्यों को बिल्कुल हटा कर उनका हिन्दी रूपान्तर देने में ही वक्ता के प्रति न्याय होता। इस प्रसंग में अंग्रेज़ी-हिन्दी दोनों भाषाएँ जानने वाले पाठक या श्रोता सम्पादिका की चेतना में उभरने लगे और एक ही बात को दो जानी-पहचानी भाषाओं में सुनने से बात मनमें अधिक गहरी पैठती है, यह स्वानुभव आड़े आ गया। केवल हिन्दी के पाठकों की उससे कोई क्षति प्रायः नहीं होगी। इस बात का ध्यान रखने की कोशिश की गई है कि अंग्रेज़ी अंशों का शब्दार्थ अथवा भावार्थ हिन्दी अंशों में अवश्य रहे। बहुत स्थलों पर मूल में इस दृष्टि से कई हिन्दी अंश कोष्ठकों (brackets) में या सीधे वाक्यों, वाक्यांशों के रूप में जाड़े भी गये हैं। फिर भी कहीं कोई अंश हिन्दी में यदि न्यून रह गया हो तो सम्पादिका क्षमा-प्रार्थिनी है।

नदी के सहज प्रवाह में कोई कृत्रिम खण्ड बनाने की दृष्टि से नहीं चालू विषय का संकेत मात्र देने के लिये सभी पन्नों पर

शीर्षक लगा दिये गये हैं। पुस्तक के पन्ने उलटते-पलटते समय या एक बार पढ़े हुए अंश में से कोई स्थलविशेष खोजते समय ये शीर्षक कुछ उपयोगी रहेंगे ऐसी आशा है।

पुनरुक्ति—वाक्य की, वाक्यांश की या कथ्य (content) की—किसी बात पर ज़ोर देने के लिये, उसे हृदयंगम बनाने के लिये या स्मृति में दृढ़ करने के लिये उपयोगी होती है। श्रोताओं के प्रति स्नेहशील वक्ता के लिये वह सहज होती है। उस का लिखित रूप शायद समग्र संवाद के सौन्दर्य की कुछ क्षति करता हो, किन्तु इसका समूचा दोष सम्पादिका पर है। उसे ऐसा लगा कि पुनरुक्ति का जो प्रयोजन 'श्रोता' के लिये है, वही पाठक के लिये भी हो सकता है। पाठकों की राय यदि ऐसी होगी कि पुनरुक्ति अवधान में बाधा या बोझ बन जाती है तो अगले संस्करण में तदनुसार व्यवस्था की जाएगी। प्रस्तुत संस्करण में तो सम्पादिका केवल अपने अनुभव से प्रेरित रही है, (किसी की राय जानने की सुविधा नहीं मिल सकी है), पाठकों का अनुभव उससे भिन्न होगा तो वही उसे मान्य होगा।

पुनरुक्ति वाली बात उदाहरणों पर भी लागू होती है। वक्ता की इच्छा थी कि सब उदाहरण हटा दिये जाएं। किन्तु उदाहरणों का जो मूल्य श्रोता के लिये है, वही पाठक के लिये भी होगा; यही प्रतीति उदाहरण हटाने में बाधक रही।

कहीं-कहीं वक्ता के मुख से अपने जीवन या व्यक्तित्व के संबंध में कुछ बातें अनायास निकल गई हैं। उन्हें हटा देने में वक्ता की इच्छा का पालन होता। किन्तु यहाँ भी पाठकों के प्रति सम्पादिका का पक्षपात प्रबल हो उठा; ऐसे पाठकों का ध्यान आ गया जो पहली बार वक्ता का परिचय पाएंगे। इसलिये यहाँ भी वक्ता के प्रति अन्याय ही हुआ।

सत्य के विनियोग में देश, काल, पात्र की सापेक्षता करुणाशील वक्ता की चेतना में अवश्य रहती है। पाठकों को उस सापेक्षता की पृष्ठभूमि से परिचय कराने के लिये प्रवचनों के स्थान, काल और श्रोतृमण्डल का संकेत दे दिया गया है। बम्बई के शिविर और व्याख्यानों की तिथियों में, अनिवार्य कारण-वश, कुछ भूल हो गई है। पाठक कृपया निम्नलिखित सही तिथियां 'नोट' कर लें।

शिविर—१७–१६।११।६७
प्रथम व्याख्यान—१७–११–६७
द्वितीय ,, —१९–११–६७
तृतीय ,, —१६–११–६७

प्रस्तुत संवादों का स्थान गुजरात रहा है। इसलिये भाषा में कहीं-कहीं गुजराती का प्रभाव सहजरूप से आ गया है। हिन्दी का राष्ट्रभाषा'-रूप 'राष्ट्र' की सभी भाषाओं द्वारा समृद्ध होना चाहिये और हो सकता है, ऐसा सम्पादिका का विश्वास है। इसलिये कुरूपता के लिए 'कद्रूपता' और 'अखिलता' के लिये 'अखिलाई' इस प्रकार के शब्द ज्यों-के-त्यों रखने में उसे संकोच नहीं हुआ; अपितु जान-बूझ कर ही उसने ऐसा किया है।

मुद्रण की शुद्धि की ओर यथासम्भव पूरा अवधान दिया गया है। फिर भी छोटी-मोटी भूलें प्रमादवश अवश्य रह गई होंगी। आधुनिक औषधों के नामों का शुद्ध रूप मालूम न होने के कारण सम्पादिका को पाण्डुलिपि का ही अनुसरण करना पड़ा है; सम्भवतः उन नामों के मुद्रण में प्रमादवश नहीं, अज्ञानवश भूल रह गई होगी। सुधी पाठक सभी भूलों का कृपया मार्जन कर लें ऐसी प्रार्थना है। इसी प्रसंग में तारा यन्त्रालय को, मुद्रण

में हार्दिक सहयोग के लिए, धन्यवाद दिये बिना बात अधूरी रह जायेगी।

ऊपर लिखी त्रुटियाँ तो सम्पादिका को स्वयं विदित हैं, लेकिन उनके अलावा और बहुत-सी त्रुटियाँ हो सकती हैं, जिनका उसे भान तक न हो। पाठक सभी त्रुटियों पर अपनी राय ज़ाहिर करेंगे तो सम्पादिका पर बहुत अनुग्रह होगा। वक्ता की अपेक्षा पाठकों की राय कुछ विषयों में अधिक मूल्यवान् हो सकती है; किन्तु एक बात में वक्ता ही एकमात्र प्रमाण है और वह निम्नलिखित है।

वक्ता के प्रति और किसी ज़िम्मेदारी का पालन तो नहीं हो सका, किन्तु इस बात का पूरा ध्यान अवश्य रखा गया है कि किसी भी अंश में वक्ता के अभिप्राय का या उसके अभिप्रेत बल-अबल का व्याघात न हो। फिर भी यदि कहीं ऐसा व्याघात या विपर्यय हुआ हो तो वह अपराध अक्षम्य होगा।

अन्त में एक परम पुनीत कर्तव्य के सुखद पालन का अवसर सम्पादिका को विशेष सौभाग्य से मिला है और वह है पूज्यपाद विभूति-स्वरूप म० म० श्री गोपीनाथ कविराज के प्रति वक्ता की विनम्र कृतज्ञता और सश्रद्ध प्रणाम का निवेदन।

शिवरात्रि, शनिवार,
१५ फरवरी, १९६९

प्रेमलता शर्मा
न्यू ई ५, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—५

अनुक्रमणी

: १ :

अहमदाबाद

: २ :

संस्कारतीर्थ, आजोल (गुजरात)

: ३ :

बम्बई

: १ :

स्थान—अहमदाबाद

तिथियाँ—२०-२२।१।१६६८

दिनांक—२०-१-६८

(क) प्रात:काल। संवाद।

फूलोंकी सुगंध से अंदाज़ किया जा सकता है कि उस वृक्ष के बीज में, जड़ों में किस प्रकार का रस संचार करता होगा। शब्द तो प्रकाश के किरण हैं। किरणों पर से अंदाज़ लगाया जा सकता है कि जिस प्रकाशपुंज में से किरण निकलते हैं, उस पुंज में कितनी गहराई और कितनी शक्ति भरी है। लेकिन किरण सूर्य नहीं हैं, और पुष्प या फल वृक्ष की समग्रता नहीं है।

तो, शब्दों का यह जो व्यापार दो-तीन दिन हम लोगों के बीच चलेगा, उस व्यापार में आप भी उतने ही सावधान रहेंगे जितनी कि सावधानता वक्ता की रहेगी।

इस देशमें, 'धर्म' और 'अध्यात्म' इन दोनों के-बारे में एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी, ग़लत धारणा है। धर्म अध्यात्म नहीं है। धर्म अलग वस्तु है, अध्यात्म उससे नितान्त भिन्न है।

जल का धर्म है प्रवाहित होना; पृथ्वी का धर्म है स्थिर रहना; अग्नि का धर्म है उष्णता देना। उस प्रकार मनुष्य का धर्म है—चिंतन करके, मनन करके, जो उपादान उसको मिला है, जो शरीर मिला है, जो बुद्धि मिली है, जो मन मिला है, जो कुछ उसको प्रभु की ओर से दिया गया है, निसर्ग की ओर से मिला हुआ है, उसका सम्यक् उपयोग करना। यह तो धर्म हुआ। इसका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं है।

शरीर में छिपी हुई अनंत शक्तियों का जिसने विकास कर लिया है—यह मानना ज़रूरी नहीं है कि इस प्रकार के विकसित

व्यक्ति का आध्यात्मिक जीवन से कोई भी संबंध है। शरीर में छिपी हुई अनंत शक्तियों का विकास करना और उस विकास को उपलब्ध होना मनुष्य का धर्म हो सकता है। लेकिन उसका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं है।

मनुष्य को मन मिला है, शरीर से भी अधिक शक्तियाँ, यह जो मन नामका करण मिला है, इंद्रिय मिला है, साधन मिला है, उसमें छिपी हुई हैं। लेकिन मन की अनंत शक्तियों का विकास जिसने पा लिया है—यह मानने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा मानव आध्यात्मिक है। चेतन मन की शक्तियाँ हैं, अचेतन मन की शक्तियाँ हैं; चेतन-अचेतन से भी गहराई में जो अवचेतन है, उसमें भी अनंत शक्तियाँ हैं। लेकिन इन शक्तियों के विकास का धर्म से भले ही संबंध हो, अध्यात्म से नहीं है।

बुद्धि है। बुद्धि का धर्म है देखना। बुद्धि देखेगी अनंत विषयों का बहिरंग और अंतरंग। अनंत विषयों का ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होगा—लेकिन यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसा ज्ञानी व्यक्ति आध्यात्मिक होगा।

धर्म में और अध्यात्म में जो नितान्त भिन्नता है उसकी ओर आज संकेत करना चाहते हैं। नहीं तो भूलसे धर्मको ही अध्यात्म समझ बैठेंगे और जीवन उसीमें व्यतीत होगा। यह तो कर्तव्य है। शरीरमें; मनमें, बु ज शक्तियाँ हैं, उनका समग्रतामें विकास उपलब्ध करना, यह मानवका धर्म है। इसमें कोई बहुत बड़ी उसने बहादुरी की है या कोई विशेषता उसमें है, ऐसा मुझे दिखता नहीं है। यानी, गुलाब का पौधा है—उस पर गुलाब के फूल खिले हैं, तो उसकी सुगंध, उसका सौरभ, उसकी सुन्दरता का आस्वाद हम लेंगे; लेकिन यह न कहेंगे कि गुलाब के फूल के खिलनेमें कोई विशेष पुरुषार्थ है। वह तो धर्म है।

जलका स्रोत है, प्रपात है प्रवाह है, प्रवाहकी गतिसे आनंद होगा, शीतलता मिलेगी, उससे ताज़गी मिलेगी—लेकिन यह नहीं मानेंगे कि जलस्रोतने बहुत बड़ा पुरुषार्थ किया है कि जल प्रवाहित होने लगा।

उसी प्रकार मानवका जो धर्म है, जो कुछ उसको निसर्गकी ओर से मिला है, उसका समग्रतामें विकास उपलब्ध करना कोई बहुत बड़े पुरुषार्थ की बात नहीं है। यह तो होना ही चाहिये। न करें तो दोष है। करें तो उसमें कोई विशेषता नहीं है।

आगे इससे बढ़े, तो पता चलेगा कि सुख की खोज भी अध्यात्म नहीं है। जाने क्यों? सनातन काल से यह भ्रम संसार के अनेक देशों में फैला हुआ है कि मानव जीवन का प्रयोजन सुख की खोज है, सुख की प्राप्ति है। सुख तो एक संवेदना है। शरीर को, मन को अनुकूल संवेदना मिले तो उसे सुख कहते हैं। प्रतिकूल संवेदना हो उसको दुःख कहते... सुख और दुःख न जीवन के तथ्य हैं, न उनकी खोज जीवन का प्रयोजन है। निषेध की बात नहीं कह रही हूँ कि सुख का निषेध किया जाय। बिलकुल नहीं। शरीर के विकास के लिये, मन के विकास के लिये, बुद्धि के विकास के लिये साधन उपलब्ध कर देना, मंगलमय और सुन्दर साधनों से जीवन को अलंकृत कर देना, यह तो धर्म में निहित है। उसका समावेश धर्म में है। लेकिन इन साधनों से सजा हुआ जीवन आध्यात्मिक जीवन है, यह हम न मानें। नहीं तो, आज जहाँ भौतिक जीवन शारीरिक और मानसिक सुखों की एक चरम सीमा पर पहुँच चुका है, ऐसे देशों में फिर जीवन स्वस्थ होता, आंतरिक स्वस्थता होती, और सामूहिक जीवन में भी स्वस्थता का संचार होता। लेकिन वह होता हुआ नजर नहीं आता है,

इसका कारण यह है कि शरीर को सुख प्राप्त कर देना विज्ञान की सहायता से, यह तो धर्म है। यह जो न करेंगे तो दोष है। जिस समाज में शारीरिक सुखों का निषेध किया जाता होगा वह समाज अधार्मिक है। शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की जहां निंदा होती होगी, उन्होंने जीवन को समग्रता में देखा नहीं है। जीवन में निषेध के लिये अवकाश है ही नहीं। जीवन में किसी चीज़ की ओर से विमुख होने के लिये गुंजायश है ही नहीं। अभिमुखता जीवन है, विमुखता मौत है, मृत्यु है। लेकिन यदि यह मान लिया जाय कि सुख की उपलब्धि ही अध्यात्म है, तो फिर हम एक बहुत बड़े भ्रममें फंस जायगे।

सुखका साधन जुटाते-जुटाते ज़िंदगी निकल जायेगी, जीने का आनंद उपलब्ध नहीं होगा। इसलिये दूसरा विषय चिंतनके लिये आपके साथ छोड़ देना चाहते हैं कि जीवनका प्रयोजन सुख नहीं है। शारीरिक और मानसिक आवश्यकता है, और उसकी वैज्ञानिक, सुसंस्कृत पूर्ति हो, यह धर्म तो है—लेकिन वह जीवनका प्रयोजन नहीं।

सुख की जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति समुदायमें रहते हुए, समाज में रहते हुए किस प्रकार मनुष्य करता है, इसी पर उसका civilisation, इसी पर उसका culture है। यानी, जिस समाज में मनुष्यकी आवश्यकताओं की पूर्ति सहयोग में से होती है, एक दूसरेके सहयोग में से वह की जाती है, वह समाज सुसंस्कृत होगा। और जिस समाज में कुछ समूहों के लिये सुखसाधन उपलब्ध हैं और कुछके लिये नहीं हैं—एक दूसरेका शोषण करके जिसमें पूर्ति की जाती है वह असभ्य समाज होगा। Uncivilised होगा, barbarian होगा—जिसमें आज दुनिया जी रही है। लेकिन, यह जो धर्म है,

समाज में रहते हुए जिसका पालन करना अनिवार्य है, जो संस्कृति की, सभ्यता की जड़ है, वह अध्यात्म नहीं है। यह जबतक समझमें नहीं आयेगा तब तक मनुष्य धर्म को अध्यात्म समझेगा, नीति को अध्यात्म समझेगा। धर्म और नीति, ये जहां एकसे अधिक व्यक्ति उपस्थित हैं, वहां निर्माण हो जाते हैं। अकेला एक व्यक्ति रहता हो तो नीति शब्दका कोई अर्थ नहीं। Morality is a thing which comes into being as soon as there are more human beings than one. एकान्तमें नीतिके लिये अवकाश नहीं। तो ये सब व्यक्तिगत धर्म हैं, सामाजिक धर्म हैं, लेकिन इनको, मेहरबानी करके आप जिसको Spiritual enquiry कहेंगे, आध्यात्मिक जिज्ञासा कहेंगे, यह मत मानियेगा। यह सब इसलिये कह रही हूँ कि लोग समझने लगे हैं कि हम सब आध्यात्मिक जिज्ञासा रखने वाले हैं। और प्रवचन सुनने जाते हैं। और सत्संग करने जाते हैं। लेकिन भीतर जिज्ञासा का जन्म न हुआ हो, धर्म में, नीति में और सुख में ही उनकी आंतरिक परितृप्ति होती हो, तो सत्संग और प्रवचन सुनना बेकार जायेगा। जिसके भूख ही नहीं है उसके सामने पंचपकवानों का थाल रखने पर भी वह खा नहीं पायेगा, वह खायेगा तो अपने साथ भी अन्याय, और जो परोसा हुआ भोजन है उसके साथ भी अन्याय।

इसलिये पहली खोज यह करनी चाहिये कि भाई, मुझे अध्यात्मकी ज़रूरत है जीवनमें ? मुझे जीवनके लिये यह जो एक नया आयाम है—a new dimension of life which is neither biological nor psychological nor intellectual—एक ऐसा जीवनका आयाम जो शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक नहीं है, इस आयामकी ज़रूरत है ? या

मैं तृप्त हूँ ? स्वस्थ सुंदर शरीर है, हृष्टपुष्ट है, सुखके साधन उपलब्ध हैं, परिवार है, समाजमें प्रतिष्ठा है, पैसा है—इसमें मैं तृप्त हूँ ? या इन सब के बीच रहते हुए भी मुझे असंतोष है ?

असंतोष का वरदान न मिला हो, ब्रह्म-जिज्ञासा, अध्यात्म-जिज्ञासा का वरदान न मिला हो, तो एक नहीं सैंकड़ों आत्मोपलब्ध व्यक्तियों के प्रवचन सुनेंगे—शब्द के और विचार के प्रवाह में तैरने का मज़ा मिलेग, वह एक सूक्ष्म प्रकार का उपभोग है—Unexpensive indulgence; लेकिन है। तो, जब सोचा गया कि कुछ मित्र जो यहाँ रहते हैं, उनके साथ बैठेंगे दो तीन दिन, और विचार करेंगे, तो हृदय में यह प्रेरणा उठी कि पहले पूछूँ कि अध्यात्म की आप को ज़रूरत है ? क्या ज़रूरत है ? क्यों ज़रूरत है ? उसके बिना नहीं जी सकते हैं ऐसी कोई तड़प है भीतर ? बेचैनी है ? ऐसी बेचैनी, जैसी किसी प्रेमी को अपनी प्रेमिका के विरह में होती हो, इतनी भी बेचैनी है ? किसी बालक को अपनी माँ से अलग होने पर होती हो, इतनी भी बेचैनी है ? कि बेचैनी नहीं है, असंतोष नहीं है, लेकिन ऊब जाते हैं ऐन्द्रिय सुखों से, तो उस उद्वेगमें से कभी-कभी झाँकने की इच्छा होती है कि और भी कुछ है ?—उद्वेग में से या असफलता में से उठनेवाली यह जो इच्छा है—यह जिज्ञासा नहीं है। वह इच्छा बुरी नहीं है—हो सकता है कि उस इच्छा में से जिज्ञासा का जन्म भी हो। लेकिन सफलता के झूलें पर झूलते हुए अगर असफलता का धक्का लग गया तो फिर उससे विरत हो गये और देखने लग गये कि और कोई सुख है ? ऐन्द्रिय सुखों की जो सीमा है, उस सीमा पर पहुँच गये हैं। अब ऐंद्रिय सुखोंसे कुछ आराम नहीं मिलता है तो इन्द्रियों के परे कोई सुख है ? लेकिन चाहिये सुख ही। यह जिज्ञासा नहीं है।

ब्रह्म-जिज्ञासा या अध्यात्म-जिज्ञासा एक ऐसी पवित्र अग्नि है, जो सारे जीवनके आन्तर-बाह्यको जला देती है। मैं जब हज़ारों लोगोंको प्रवचनोंमें जाते हुए देखती हूँ, मन्दिरोंमें जाते हुए देखती हूँ, मस्जिदोंमें नमाज पढ़ते हुए देखती हूँ तो मैं भीतर ही भीतर काँप उठती हूँ कि हे प्रभो, ये सब लोग अपने जीवनके प्रति क्या खेल कर रहे हैं! ये खेल कर रहे हैं। क्योंकि एक बार उसका स्पर्श हो जाय, तो—सारी अनेकता के भीतरसे कोई एकता प्रवाहित हो रही है, या नहीं? इन इन्द्रयोंको विषयके संसर्गमेंसे जो सुख मिलता है, इस सुखका जन्म कहाँ है, विषयमें है या इन्द्रियमें है? इन इन्द्रियोंका संचालन करनेवाली ताकत कौन-सी है? जिसके सहारे यह श्वास लिया जाता है वह श्वासोच्छ्वासकी क्रिया करनेवाली शक्ति कौन-सी है? यह ऊर्जा कौन-सी है जो अणु-रेणु में प्रकाशित है—जिसकी झलक देखते हैं; ओतप्रोत है संसार जिसके तेजसे, वह ऊर्जा कौन-सी? वह शक्ति कौन-सी? एक बार यदि ये प्रश्न उठें तो इन प्रश्नोंका उठना ही आपके जीवनका जो status quo होगा, उसको उलट-पुलटकर फेंक देगा। इससे बहुत बचकर रहना चाहिये! यह हो नहीं सकता कि सत्य की जिज्ञासा हृदयमें जागृत हो और जैसा जीवन जिज्ञासाके जन्मसे पहले चल रहा था वैसा ही चले। असम्भव है। हो ही नहीं सकता और यदि वह होता है तो मान लेना चाहिये कि यह 'जिज्ञासा' नहीं है, यह समस्त प्राणोंकी पुकार नहीं है। यह समस्त व्यक्तित्वकी भूख नहीं है। एक बौद्धिक या मानसिक अनुरंजनका प्रकार है।

तो, उपभोगकी आकांक्षा, मानसिक या बौद्धिक उपभोगकी आकांक्षा एक वस्तु है और जिज्ञासा दूसरी वस्तु है। नये-नये विचारोंकी बुद्धिके लिये उतनी ही लालसा हो सकती है, जितनी किसी आजकल के लड़के-लड़की को नये-नये कपड़ों की हो। वस्त्रोंका

शौक और विचारोंका शौक,—उसमें बहुत अन्तर नहीं है। धनका संग्रह, अलंकारोंका संग्रह, वस्त्रोंका संग्रह, नये-नये फै.शनके साथ चलनेका आग्रह और नये-नये विचारों को खोजनेका और उनके संग्रहका बुद्धिका आग्रह—इसके पीछे जो चित्त है, उस चित्तकी दशामें बहुत फ़र्क़ नहीं है।

ख़तरनाक है वह चीज़ क्योंकि स्थूलका संग्रह तो एक बार छूट भी जायगा, सूक्ष्मका संग्रह ऐसा चिपक जाता है, कि चमड़ी उधेड़नी पड़ती है। तब वह निकलता है। क्योंकि इस विचारोंके संग्रहमेंसे जो एक व्यक्तित्व बनता है, जो personality बनती है, उसको हम अपना स्वरूप समझने लगते हैं। कोई कितना भी नादान हो, वस्त्रोंको 'मैं वस्त्र हूँ' यह तो नहीं मानेगा; 'मैं धन हूँ' यह तो नहीं मानेगा ; 'मैं मकान हूँ' यह तो नहीं मानेगा।

मकान छूट सकते हैं, धन छूट सकता है—लेकिन विचार और भावना, इनका जो संग्रह है, यह ऐसा चिपक जाता है, जैसे आपकी हड्डियों पर लपेटा हुआ चमड़ीका जो वस्त्र है। हाड़को, मांसको अलग नहीं कर सकते हैं, वैसे ही फिर विचारके संग्रहको अलग नहीं कर सकते हैं। मान लिया जाता है कि यही मेरा व्यक्तित्व है और Personality को अपना स्वरूप समझा जाता है। संस्कारोंका संग्रह, विचारोंका संग्रह, भावनाओं का संग्रह, संतोंके जीवनचरितोंमें उनकी जो अनुभूतियाँ विश्वासमें आती हैं—उन अनुभूतियोंका संग्रह—यह अध्यात्म नहीं हैं। यह संग्रह बड़ा घातक हो सकता है। इसलिये मैंने कहा कि जिस प्रकार शारीरिक उपभोग हैं—यानी श्रवण हैं,—श्रुति है—आपका घ्राण है, आपके नेत्र हैं—ये जिस प्रकार उपभोगमें लुब्ध हो सकते हैं—उसी प्रकार आपका मन और बुद्धि भी उपभोगमें लग सकते हैं और गत दो-एक शताब्दियोंमें मनुष्यने

यही समझा कि मैं पशु-योनिसे भिन्न हूँ—क्योंकि मैं सोच सकता हूँ। मेरे बुद्धि है, मेरे मन है, इसलिये बुद्धिको संस्कारोंसे भर देनेमें मानवने जीवनकी सार्थकता मानी।

यह नहीं कह रही हूँ कि उसको प्राकृत रखा जाय। संस्कार तो जीवनका सौंदर्य है। अनाज पर संस्कार करके अन्न बनाते हैं, आहार करते हैं। कोई नहीं कहेगा कि उसे कच्चा ही चबाते चलो। यह तो ठीक है—वह तो धर्म है। लेकिन संस्कारके संग्रहको यदि उपभोगका विषय बनाया जाय—इस विषयको आप ज़रूर गहराईसे सोचें और देखें कि संस्कार भी उपभोगका विषय बन सकता है या नहीं, नये-नये संस्कारके जो नमूने हैं, Patterns of conditioning, इन संस्कारोंकी जो पद्धति है, संस्कारमेंसे ही विचारकी पद्धति और जीवनकी पद्धति उद्‌भूत होती है, निर्मित होती है—तो इन पद्धतियोंको भी विलासका, उपभोगका, शृङ्गारका विषय बनाया जा सकता है या नहीं, और उसके विलासमें हम अपने जीवनको किस प्रकार व्यतीत करते हैं। फिर कभी हमको वैष्णव घरमें जन्म हुआ है—वह संस्कार है; जैन घरमें जन्म हुआ है—संस्कार हैं; शैव घरमें पैदा हुए हैं—संस्कार है,—शरीर पर संस्कार है, मन पर है, बुद्धि पर है, उसमेंसे जीवन-पद्धति बनी है. विचारकी एक प्रणालिका बनी है—और 'जिये' जा रहे हैं! 'जिये' जा रहे हैं!

उससे ऊब गये, कुछ पद्धति नई लगी, उसके पीछे दौड़े। संस्कारोंको तोड़ना, मरोड़ना, फोड़ देना, फाड़ देना—यह भी एक पद्धति जीवनकी है। फिर उसके संस्कार! यानी, किसी भी चीज़ के प्रति आस्थासे न देखा जाय, आदरसे न देखा जाय—यह भी एक सोचनेकी पद्धति बन सकती है।

भाई, आग्रह यदि विकृति है, तो निषेध भी विकृति है।

आग्रह और निषेध ये दोनों एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। जहाँ जिस किसी चीज़ का निषेध होगा, और निषेध हमारे जीवनकी भूमिका बन जायगी,—It will become a stand in life, तो मैं समझती हूँ—आग्रहमेंसे एक dogma आता है तो निषेधमेंसे भी dogma का जन्म होता है—संप्रदायका जन्म होता है और ऐसे निषेधात्मक संप्रदाय भारतके लिये नये नहीं हैं। निषेधका आचार्य चार्वाक तो था ही और इन सबका, आस्तिकोंका, नास्तिकोंका, आग्रहियोंका, निषेधकोंका, सह-अवस्थान इस विशाल देशमें चलता आया है। तो, निषेधका संप्रदाय भी बनाओगे तो ठीक है, चलेगा। लेकिन वह भी एक विचार-प्रणाली और जीवन-पद्धति बनेगी और अध्यात्म है जीवनको किसी भी पद्धतिमें न बाँधनेका साहस। अध्यात्म है जीवनको किसी भी प्रणालिकामें आबद्ध न करनेका साहस। अध्यात्म है जीवनकी गतिमें, उसकी लयमें अपने अहंकारका विलय करके गतिमें विलीन हो जाना—समरस हो जाना। यह भी भूलसे कहा। जीवनकी गति बन जाना ही अध्यात्म है।

धर्मों में से पद्धतियोंका जन्म हो सकता है और सामुदायिक जीवनके लिए कुछ पद्धतियोंका एक हद तक स्वीकार आवश्यक, अनिवार्य भी है। सामाजिक जीवन है, आर्थिक जीवन है, राजनैतिक जीवन है; पद्धतियोंका स्वीकार किये बिना सामाजिक जीवन असंभव हो जायगा। उसको Morality, ethics कहिये, उसको religion कहिये। उनका स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि मानव समाज कोई पशुओंका गिरोह तो नहीं है। मानव समाज कोई पक्षियोंका झुंड तो नहीं है! इसमें लेना है, इसमें देना है; इसमें साथ जीना है; साथ रोना है, साथ हँसना है। इसमें एक-दूसरेकी वेदनासे झुलस जाना है और

एक-दूसरेके आनंदसे आनंदित होना है। यह सहजीवन है, Sharing है। वहीं तो समाज है। वहाँ पद्धतियोंका स्वीकार एक मर्यादा तक अनिवार्य है। लेकिन अध्यात्म के क्षेत्र में, अध्यात्म के आयाम में पद्धतियों को, प्रणालिकाओं को, यमों को, नियमों को, धारणाओं को, आग्रह को, निषेध को, अवकाश ही नहीं है।

इसलिए मैंने कहा कि आध्यात्मिक जिज्ञासा के साथ खेलना नहीं चाहिये। यदि तृप्ति है; शारीरिक, भौतिक, बौद्धिक, मानसिक, उपभोग में तृप्ति है तो प्रामाणिकता से कहना चाहिये कि हमको अध्यात्म की ज़रूरत नहीं है। यह सत्य क्या, यह शिवम् क्या, सुन्दरम् क्या; जीवन की जड़ में कौन-सा तत्त्व है इसकी ज़रूरत नहीं—यह कह देना चाहिए और प्रामाणिकता से जीना चाहिये।

हो सकता है कि वह प्रामाणिकता एक मुक़ाम पर पहुँचा दे जहाँ जिज्ञासाका भीतर जन्म भी हो। लेकिन प्रामाणिकता न हो तो आध्यात्मिक जिज्ञासाके नकाब और बुर्खे ऊपरसे ओढ़नेसे पाखण्डका जन्म होगा, दंभ का जन्म होगा। भीतर व्यक्तित्व छिन्न-विच्छिन्न हो जायेगा। यह अपने आपको मनानेकी इच्छा होगी कि मेरे भीतर सत्यकी जिज्ञासा है; दूसरोंको दिखानेकी इच्छा होगी कि मेरे भीतर सत्यकी जिज्ञासा है। जिज्ञासा होगी नहीं। तो एक दंभ, एक पाखण्ड ऐसा घेर लेगा व्यक्तित्वको, और आँखें खोलकर हम अपने आपको देखें, तो पता चलेगा कि हम कहाँ तक पाखण्डी पहले ही बन चुके हैं। A spiritual enquiry also becomes a fashion of the day. May God save you from such an enquiry.

तो अपने आपको पूछना चाहिये कि मुझे जीवनमें आवश्यकता किस बातकी है? किसको फुर्सत है आध्यात्मिक

जिज्ञासा क्या है, यह देखनेके लिये; और उस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये जो परिश्रम करना पड़ेगा उस परिश्रमके लिये किसकी तैयारी है? समाजमें चार कौड़ी नहीं मिलती हैं परिश्रमके बिना। लेकिन अध्यात्ममें तो बिना परिश्रमके हम चाहते हैं।

जो मानते हों कि आत्माकी उपलब्धि, सत्यकी उपलब्धि, परिश्रमके बिना होती है, तो जहाँ तक मेरा देखना है, जितना कि जीवनको देख चुकी हूँ और जी चुकी हूँ, उसमें यह नहीं पाया कि परिश्रमके बिना भी आत्मोपलब्धि होती है। इसमें कोई short-cut नहीं है, Formulae and blue-prints नहीं हैं, इसमें कोई mathematical, logical equations नहीं हैं जो हाथमें दिये जायें आपके कि 'ये लो, कुल जोड़ है, लेलो। नहीं हो सकता है। यहाँ ऐसा आदान-प्रदान भी नहीं है कि गुरु बनकर शिष्य को कुछ दिया जाय।

हाँ, यह हो सकता है कि आत्मोपलब्ध व्यक्तिके सहवास में यदि जिज्ञासु जाय तो उस व्यक्तिके भीतर जो आनन्दकी हिलोलें उठती रहती हैं, लहरें उठती रहती हैं, उनके तुषार जिज्ञासु तक पहुँच जायें। बगीचेमें फूल हैं और आप यहाँ बैठे हैं और फूलकी सुगन्ध आप तक पहुँचती है तो आत्मोपलब्ध व्यक्तिके सहवासमें बैठ कर उसके आनन्द और शान्ति और प्रसादके तुषार आपको न मिलें? ज़रूर मिलेंगे। लेकिन जैसे शास्त्रीय संगीतमें यदि रागका ज्ञान न हो, रागका या उस रागिणीका जो व्यक्तित्व है, उसकी जो खुमारी है, उसकी जो छटायें हैं, nuances हैं, उनसे परिचय न हो तो हमारे लिये तीव्र स्वर क्या और कोमल स्वर क्या, और मुलतानी राग क्या या तोड़ी राग क्या, भैरवी क्या, नीलाम्बरी क्या, हमारे लिये सब समान हैं।

सुननेवाले के जो कान हैं, खूबियोंको पकड़ लेंगे। आप भी

बैठे हैं, वह व्यक्ति भी बैठा है। फिर बीनकारका 'झाला' काम क्या है? हमारे लिये सितार भी बजती रहे, कि बीन बजे कि तानपुरा बजे, हारमोनियम बजे, हमारे कान पकड़ नहीं पायेंगे।

इसी प्रकार जिज्ञासाकी जागृति जिसके हृदयमें, अन्तःस्थलमें हो चुकी है ऐसा व्यक्ति यदि आत्मोपलब्ध व्यक्तिके सहवासमें हो, तो तुषार पकड़ लेगा। जो उन्मेष है, उससे उसका लाभ ज़रूर हो सकता है—और हो सकता है कि जिज्ञासाका जन्म हो तो उसकी गति बढ़ जाये—Accelerating the speed—।

लेकिन अध्यात्मके क्षेत्रमें ऐसा आदानप्रदान नहीं है कि एक वस्तु उठाई और आपके हाथमें रख दी। यह नहीं हो सकता। यहाँ उधारी का सौदा नहीं। न जिज्ञासा उधार ली जा सकती है, न जिज्ञासाकी पूर्ति उधार ली जा सकती है। सत्यकी अनुभूतियोंका आदान-प्रदान नहीं है। खरीद और बिक्री भी नहीं है। यह तो हरेकको अपने ही भीतर खोजते हुए अनुभूति तक पहुँचनेकी चीज़ है। और दुर्भाग्य यह है कि उसके लिये हमारी तैयारी नहीं है।

उपजीविकाके लिये धनोपार्जन करना है, २४ घंटेमेंसे १२ घंटे काम करना पड़े तो करेंगे। वह Compulsion है न! अनिवार्यता है न! नहीं कमायेंगे तो कल अन्न नहीं मिलेगा। मकानका किराया नहीं चुकाया जायेगा। इसलिये उसमें हम समय देंगे। परिवार है, परिवार के लिये परिश्रम करना है, परिश्रम करेंगे। समाज है, समाजमें रहना है, उसकी courtesies हैं, social calls हैं, उसके रस्म हैं, रिवाज हैं—उनका भी पालन होगा; समाज में रहना है, नहीं तो समाज क्या कहेगा? लेकिन सत्यकी कोई जिज्ञासा न रखें तो उसको कोई क्या करेगा? उसकी न प्रतिष्ठा घटती है, कोई आपत्ति आती नहीं, कोई विपत्ति आती

नहीं, उसके पीछे कोई external compulsion है ही नहीं। इसलिये होता यह है कि सब चीज़ोंमेंसे समय मिले तो फिर बात होगी, तो फिर जिज्ञासाके लिये समय दिया जायगा। कहते हैं न कि क्या करें, समय नहीं मिलता है। वह तो ठीक है, एक घंटा जाकर प्रवचन सुन लिया। लेकिन बाकी हमको समय नहीं मिलता। समय नहीं मिलता है, इसीका मतलब यह है कि भीतर उसकी भूख नहीं है।

मैं दोष नहीं दे रही हूँ। जिनके भीतर जिज्ञासा की जागृति न हुई हो, उनको दोष नहीं दे रही हूँ। फिर उनको धर्म, नीति, सामाजिक प्रतिष्ठा—इनसे संतुष्ट होकर जीना चाहिये, और कहना चाहिये कि भाई, उस रास्ते हम नहीं जायेंगे। और फिर ऐसे अपने दैनिक जीवनमें असंतोष पैदा करने वाले व्यक्तियोंके पास जाना ही नहीं चाहिये, फटकना ही नहीं चाहिये। आनंदमें रहना चाहिये। लेकिन जायेंगे, सुनेंगे, ग्रंथ भी पढ़ेंगे, उसके लिये समय नहीं, परिश्रम की तैय्यारी नहीं—यह चलता नहीं।

यह सब क्यों कह रही हूँ ? कि हिन्दुस्तान में जबसे आयी हूँ; (अब डेढ़ साल होने आया), तो देख रही हूँ कि हज़ारों लोग बड़े आध्यात्मिक प्रवचनोंमें, सत्संगों में, शिविरोंमें जाकर बैठते हैं। If spiritual enquiry also becomes a vulgar commercialised proposition—मैं समझती हूँ कि फिर दुःखका कोई अंत नहीं, खेदका कोई पार नहीं रह जायगा। यह vulgarisation है।

यह नहीं कह रही हूँ कि शिविर न हों, यह नहीं कह रही हूँ कि प्रवचन न हों। लेकिन वहां तक ही, उसके उपभोग तक, सुनने को अच्छे विचार मिले अच्छे व्यक्ति के, उसको देखने को मिला है; वहां तक ही यदि रुक जाना है तो एक नये प्रकारका

पाखंड, एक नये प्रकारका दंभ समाज में फैल रहा है। मंदिरोंमें जानेवालोंको, मस्जिदमें जानेवालोंको आप कहते हैं कि पाखंडी हैं, भक्ति नहीं है भीतर। वहाँ जाकर घर की, संसार की बातें करते हैं। और नये प्रकारके ये जो प्रचार चलते हैं उनमें जानेवाले कम पाखंडी हैं? यह एक सवाल मैं आपके सामने चिंतनके लिये रखती हूँ। क्योंकि आप अहमदाबादके मेरे स्नेही परिवारके लोग हैं, अंतरंग मित्र हैं। मैं आध्यात्मिक विषय पर बोलती नहीं हूँ। क्योंकि अध्यात्म एक नितान्त inter-personal communication का विषय है। एक व्यक्तिगत विषय है, उसकी ऐसी पवित्रता है; लोग आजकल गोपनीयता को भी पाप समझने लगे हैं। वह तो व्यक्तियों को एक-दूसरे के सहवास में सहज उपलब्ध होनेवाली व ऐसी पवित्र चीज़ है जिसका broadcasting नहीं हो सकता। इसलिये मैं उस पर बोलती नहीं हूँ। लेकिन मेरे कुछ मित्रों ने कहा कि नहीं, सोचिये तो सही, बोलिये तो सही। मैंने कहा, भाई, दुःख होगा आप लोगोंको, लेकिन एक नये प्रकारका दंभ, एक नये प्रकारका पाखंड जो समाजमें फैल रहा है—कुछ चित्तको चिंतित कर देता है कि यह क्या हो रहा है?

तो अध्यात्म क्या है यह देखने के लिये हमने पहले धर्म से उसकी जो नितान्त भिन्नता है, उसको देखा। व्यक्तिगत और सामाजिक धर्मसे वह किस प्रकार भिन्न है, इतना ही नहीं—नया परिमाण है जीवनका, नया dimension है, यह आज हमने देखा। और यह देखा कि जो जिज्ञासा सत्यकी जिज्ञासा है, यह जिज्ञासा एक बड़ी दाहक वस्तु है।

आप देखिये। जितने लोग इस सत्यकी खोज में लगे।

सुखकी खोजमें लगनेवाला कोई खतरेमें नहीं। लेकिन सत्यकी खोज में लगनेवाला जो व्यक्ति है—आज तकके दृष्टांत देख लीजिये आप जीवनमें। चाहे वह गौतम बुद्ध हो, चाहे ईसा हो, चाहे शंकराचार्य हो, चाहे महावीर हो, चाहे रामकृष्ण परमहंस हो, चाहे विवेकानंद हो, चाहे रामतीर्थ हो, चाहे श्रीमद्राजचंद्र हो, चाहे अखा हो, चाहे ज्ञानेश्वर हो। मैं नाम कितनोंके दूं? कई हो गये हैं सत्यशोधक। लेकिन आपने देखा कि उस सत्यकी जिज्ञासा ने उनके जीवन के साथ क्या किया? वह अखा फिर सुनार नहीं रह सका। और श्रीमद् राजचन्द्र का व्यापार नह रहीं सका। और नरेन्द्रनाथ दत्त की वकालत नहीं रह सकी।

मैंने कहा—वह जीवन का नया आयाम है—एक नया परिमाण है। आप यह समझते हैं कि हम दोनोंमें समझौता कर लेंगे; शारीरिक, मानसिक बौद्धिक उपभोगका क्षेत्र और यह आध्यात्मिक क्षेत्र, दोनोंमें हम समझौता करेंगे; हम दोनों में एक ऐसा समन्वय करेंगे जो आजतक नहीं हुआ है। वह हम करेंगे! God-speed to you! कीजिये! होता नहीं। It is an all-consuming flame; it is a passion which will consume your total personality; it will take away from you everything that you have created. जो शतकानुशतक personality को, व्यक्तित्व को आप बनाते आये हैं उसको चूर-चूर कर देगा। यह चेतावनी देती हूँ मैं।

हाँ, इस अग्नि की दाहकता में से होकर, गुज़रकर, फिर जीने का साहस हो, तो फिर जो स्वरूप है, उस स्वरूप में प्रतिष्ठा होगी। लेकिन इसमें से गुज़रे बिना नहीं होगी। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक—सभी प्रकारका जो

status quo है वह तो maintain होना चाहिये, और जीवन का जो सत्य है वह भी उपलब्ध होना चाहिये—status quo maintain करते हुए—(यथापूर्व बनाये रखते हुए)।

मैं समझती हूँ कि यह एक, incompatibles को, जो एक साथ नहीं रह सकते हैं ऐसे तत्त्वों को, एक साथ लानेकी कोशिश है। ऐसा क्यों होता है? status quo maintain क्यों नहीं होता? यथापूर्व को बनाये क्यों नहीं रखा जाता? क्योंकि जीवनकी, सत्यकी खोजके लिये अपने आपको चीर-फाड़ कर उसका विश्लेषण करना होता है। इसलिये पहले उसमें संहार आ जाता है। धारणाका प्रयत्न नहीं, विश्लेषणका प्रयत्न करना पड़ता है। खोदना पड़ता है। खोजना पड़ता है कि यह शरीर क्या है, ये इंद्रियाँ क्या हैं, फिर श्वास के पीछे जा कर देखना पड़ता है कि श्वास कहाँ से उठता है, नीचे जाकर देखना पड़ता है कि श्वास कहाँ जाकर समा जाता है; वह कुंड कहाँ है जहाँ यह हम inhaling exhaling करते हैं। वह जाकर जहाँ समाता है, उस कुण्ड में जो शक्ति है वह कुण्डलिनी क्या है; उसका संचार कैसे होता है; ये नाड़ियाँ क्या हैं, यह मज्जा क्या है—तोड़फोड़ करके सबको देखना पड़ता है। हाथों से नहीं तोड़फोड़ करनी पड़ती है। समस्त मानसिक क्रियाओंको शांत होने देना होता है—और फिर मनसे परे जो एक अन्धकारका सुन्दर साम्राज्य है उस साम्राज्यमें संचार करना होता है। हम तो मानसिक क्रियाओंको शांत होने देनेसे घबराते हैं। मानसिक क्रियाओंके शांत होनेको मनकी मौत समझ लेते हैं। घबरा जाते हैं। मृत्युकी मंगलताको न हमने देखा—न समझा है। इसलिये मनकी मौत!—कल्पनासे ही डर जाते हैं।

तो, धर्ममें मनकी क्रिया सम्यक् करनी होती है और

अध्यात्ममें मानसिक समस्त क्रियाओंको शांत होने देना पड़ता है। देखिये, कैसे भिन्न आयाम हैं।

बुद्धिसे सम्यक् दर्शन और शरीरसे सम्यक् वर्तन धर्म है और बुद्धिकी जो धृति है, स्मृति है, मेधा है, प्रज्ञा है—ये सारी जो उसकी कलाएँ हैं, इन कलाओंको समेटकर बैठना यह अध्यात्म है। परस्पर विरोधी हैं या नहीं ? आप देख लीजिये। तो जिस प्रकार इन कलाओंको बिखेर देनेमें शक्ति का एक प्रकारसे व्यय होता है, उस प्रकार समेट लेने में शक्ति का व्यय होता है—दूसरी प्रकारसे होता है। फिर उस समेटी हुई शक्ति में प्रतिष्ठित होकर जीना, उसकी जो उत्कटता है, उसकी जो गहराई है, उसको बरदाश्त करना, उसके लिए अपने ज्ञानतन्तुओं को समर्थ बनाना, यह सारा अध्यात्म का क्षेत्र है जिसको साधना कहा जाता है। तो, फिर आजका जो आहार है, आजका जो विहार है, आजका जो व्यवहार है, इन सबसे पहले तो हट जाना पड़ता है।

लोग उसको बेकार निवृत्ति नाम देते हैं। मैं निवृत्ति शब्दसे उतना ही भय खाती हूँ जितना प्रवृत्ति (शब्द) से। प्रवृत्ति और निवृत्ति ! कैसे शब्द हैं ! अजीब, विचित्र !! गतिमें प्रवृत्ति भी नहीं है, और निवृत्ति भी नहीं है। अब स्थितिको निवृत्ति कहना हो और गतिको प्रवृत्ति कहना हो तो मैं लाचार हूँ। कह लीजिये। जीवनमें तो ऐसी गति है, ऐसी गति है, infinite motion है, और infinite motion में और स्थितिमें कोई फ़र्क नहीं है। इसलिए मैं कह रही थी कि अध्यात्मकी खोजमें एक नये परिमाणमें, जीवनके एक नये आयाममें प्रवेश करना होता है। इसको खूब समझ लेना चाहिए। यह जो प्रवास है, यह जो अंतर्यात्रा है—अंतर्यात्रा इसलिए कि हम इंद्रियाभिमुख हैं, अपने को अंतर्मुख बनाना है, इतनी ही यात्रा है। नहीं

तो, यात्रा शब्द भी बहुत सार्थक नहीं है यहाँ। उसका भी प्रयोजन नहीं है। लेकिन करूँ क्या? शब्द अपूर्ण है।

शब्द एकदेशीय है। शब्द जिस ओर इंगित कर सकता है वह सत्यका सिर्फ एक अंश है। कोई शब्द नहीं है जो सत्यकी पूर्णताका संकेत आपके सामने रख सके। शब्दका जन्म जहाँसे होता है, वहाँ पूर्णता है। लेकिन अभिव्यक्ति आंशिक होती ही है। अभिव्यक्ति एकदेशीय होती ही है। इसलिए मौनमें सार्वदेशिकता है और वाग्व्यापारमें आंशिकता है। इसलिए मौनमें चेतनाकी न सिर्फ ऊष्मा है, लेकिन चेतनाकी समग्रताकी झलक है। और शब्द चाहे कितने ही निर्दोष हों, चिंतन चाहे कितना ही तर्कशुद्ध हो, फिर भी अपूर्णताकी बू से वाग्व्यापार भर जाता है।

ये प्रवचन नहीं हैं और ये कोई शिविर भी नहीं हैं। यह मित्रोंका एक प्रामाणिक सहचिंतन है। सोचा यह गया है और मुझसे कहा यह गया है कि सुबह आप अपने निवेदनको रखिये, और रातको बैठकर चर्चा होगी। जो यहाँ पर कुछ अपरिचित, मेरे लिए अपरिचित—व्यक्ति आये हैं, उनको मैं हृदयपूर्वक धन्यवाद देती हूँ कि अहमदाबादके हमारे स्नेहपरिवारमें आप भी शामिल हो गये।

यह किसी संतका, मुनिका, ऋषिका प्रवचन नहीं है। एक बहनका, अपने भाई-बहनोंके साथ बैठकर, आंतरिक व्यथा और वेदनाका बाँटना है। अध्यात्मकी पवित्रताको, उसकी निगूढ़ताको जब कोई एक भद्दी-सी, vulgar level पर लानेकी चेष्टा करता है, प्रयत्न करता है, तो दुःख होता है। इस देशमें राजनैतिक और आर्थिक या सामाजिक परिस्थिति जितनी खेदजनक है, उतनी ही अध्यात्मके नाम पर और धर्मके नाम पर चलनेवाली

जीवनपद्धति खेदजनक है, लज्जाजनक है। उस लज्जाको उस खेदको आपके साथ बाँट रही हूँ और कम-से-कम हम अपने जीवनको उस दंभसे, उस पाखंडसे, उस अप्रामाणिकतासे बचा सकें—इतनी ही एक साथ बैठकर कोशिश करनी है।

अंतमें, इतना ही कह दूँ कि अध्यात्म यानी सत्यकी उपलब्धि। अध्यात्म यानी स्वरूपमें प्रतिष्ठा। इसमें आग्रह नहीं, निषेध नहीं, भागना नहीं, हट जाना नहीं, और यह कुछ चंद व्यक्तियोंकी monopoly भी नहीं। यह मानवजातिके लिये है; गृहस्थों के लिए संभव नहीं, यह सामान्य व्यक्तिके लिए संभव नहीं; तो आपके सामने एक नितान्त सामान्य व्यक्ति ही बैठी है जिसने अग्निमें जलना भी देखा है, जलने का मज़ा भी लूटा है, और जलनेके उस पार जो जीवन है, मनके और बुद्धिके परे जो चेतनाका साम्राज्य है उसको भी देखा है। जो कहता है कि सामान्य व्यक्तिका काम नहीं, वह आपको ठग रहा है। यह मानवमात्रका अधिकार है कि धर्मसे परे जाकर अध्यात्मके क्षेत्रमें वह प्रवेश करे।

स्वरूप में प्रतिष्ठा होने पर लाभ क्या है? स्वरूप में प्रतिष्ठा होने पर लाभ यह है—(लाभ और नुकसानकी भाषा यहाँ तो, गुजरातमें तो, बोलनी ही चाहिये!—) तो लाभ यह है कि स्वरूपमें प्रतिष्ठा होनेके बाद क्रियाओंका अन्त होकर स्वायत्तकर्म का प्रारम्भ होता है। स्वरूपमें प्रतिष्ठा होने पर लाभ क्या है? जो आंशिकता है दर्शनकी और वर्तनकी, वह समाप्त होने पर हम समग्रतामें ओतप्रोत हो जाते हैं। स्वरूपमें प्रतिष्ठा होने पर लाभ क्या है? सुख और दुःख, सफलता असफलताके परे जो आनन्दका साम्राज्य है—सुख अलग है, आनन्द अलग है—प्रवृत्ति और निवृत्तिके परे जो शान्तिका साम्राज्य है वहाँ जाकर जीते हैं। और उस जीवनमें न मस्ती है, न बेहोशी है—

न होश है; वहाँ न राग है, न विराग है, न आसक्ति है, न अनासक्ति है; वहाँ बस है तो जीवन है; वहाँ बस है तो ऐसी गति है जिसके कोई हेतु नहीं, जिसके कोई दिशा नहीं।

और मैं मानती हूँ कि मनुष्य वैश्विक चेतनाका ऐसा मुक़ाम है कि जहाँसे ऊर्ध्वगति होकर इस आत्मिक क्षेत्रमें जाना है। इसकी भूख और प्यास आज सारे संसारमें कहीं-न-कहीं; किसी-न-किसी रूपमें उसकी ओर मनुष्यको खींच रही है। तो, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकाससे परे अध्यात्मके क्षेत्रमें जाना है, जाना ही अपनी समस्त संभावनाओंको खिलाना है।

इसलिये यह प्रत्येकका अधिकार है, जो चाहेगा। जो चाहेगा उसके लिये वह सम्भव है।

आज प्रातःकालके लिये इस विषयको यहीं पर हम समाप्त करेंगे।

यह सहज उन्मुक्त संवाद है। प्रतिपादन नहीं। जहाँ तक बुद्धिका साम्राज्य है, वहाँ तक प्रतिपादन हो सकता है। जहाँ तक मनकी पहुँच है, वहाँ तक अभिनिवेश और आवेशके साथ, आग्रह के साथ किसी विषयको रखा जा सकता है। लेकिन आवेश और अभिनिवेश, प्रतिपादन, प्रचार,—यह सब कुछ शान्त हो जाता है। बच जाता है सिर्फ़ सुखसंवाद। शेष रह जाता है सिर्फ़ सुख-संवाद। और इस सुखसंवादमें आप सब आये—आप सबको मैं हृदयपूर्वक प्रणाम करती हूँ।



(ख) सायंकाल। प्रश्नोत्तरी

[श्रीशंकराचार्य के साधन-चतुष्टय और श्रीपतंजलि के योगसूत्रोंके विषय में प्रश्न था—इसके सिलसिले में कहा गया निवेदन नीचे है।]

पहले ऐसा सोचा था कि जो विषय सुबह यहाँ रखा गया, उसके बारेमें ही संध्याको, शामको, चर्चा होगी। अब आपके जितने प्रश्न हैं, वे, जो हिन्दुओंके धर्मग्रन्थ हैं, उन पर आधारित हैं।

शंकराचार्यके साधन-चतुष्टय की व्याख्या हो या पतंजलि के योगसूत्रोंमें यम-नियम की परिभाषा हो—एक विशिष्ट दर्शन पर आधारित परिभाषा है। अब यह तो नहीं हो सकता कि यहाँ सब जो बैठे हैं वे उसे जानते होंगे। यह तो ऐसे प्रश्न पूछना हुआ कि जैसे कोई जैन व्यक्ति पूछें कि भाई, हमारे आगमोंके अनुसार चौदह गुणस्थान हैं तो दशम गुणस्थान के बारेमें आपका क्या कहना है? या ग्यारहवें गुणस्थानमें जानेके बाद आदमी लौटता नहीं है—उसकी गति आगेको होती है—आप क्या सोचते हैं? तो, अब एक विशिष्ट दर्शन पर आधारित प्रश्न जो है, वह ग्रंथाधारित प्रश्न है।

मैं उस जिज्ञासाको, enquiry को सही enquiry मानती हूँ जो अपने जीवनमें से उठती है। तो शंकराचार्य जिन्होंने नहीं पढ़ा, वे साधन-चतुष्टय क्या जानेंगे? उनके लिये शम क्या, दम क्या, विवेक क्या, वैराग्य क्या—वे नहीं जानेंगे। तो यदि आपके जो प्रश्न हैं, उनको, पारिभाषिक शब्दोंको टाल कर, आप रखेंगे तो अच्छा होगा।

प्रश्न: What leads to अध्यात्म-जिज्ञासा? जिज्ञासा कैसे जागृत होती है? सामाजिक और व्यवसायी जीवन, और

अध्यात्म का क्या मेल है ? ज्यादा करके व्यक्ति व्यवसायी होते हैं—तो इनके लिये अध्यात्म का कोई द्वार नहीं है ?

उत्तर : यह कहा था कि सत्यकी जिज्ञासा जागृत होनेके बाद जिज्ञासाकी जागृतिसे पहले जैसा सब जीवन चलता रहा है—उसी प्रकार वह चलेगा—ऐसी अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये—यह मैं कह रही हूँ।

यह कहा था कि सत्य क्या है, जीवनका अर्थ क्या है, बन्धन क्या है, मुक्ति क्या है—इसकी जिज्ञासा हृदयमें जागृत होनेके बाद जिज्ञासाकी अपनी गति होती है। वह आपके मनकी गति नहीं। आपकी बुद्धि की गति नहीं। जिज्ञासा एक बड़ा विस्फोटक तत्त्व है। उसका अपना momentum, उसका अपना dynamism, उसकी अपनी गति होती है। वह गति जब काम करने लगेगी, तो आजतकका जो जीवन है, वह वैसा ही चलेगा, वे मान्यताएं वैसे ही रहेंगी, वह सामाजिक प्रतिष्ठा वैसी रहेगी—इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। यह मैं कह रही थी कि यदि धन, दौलत, पारिवारिक जीवनकी सुरक्षा, व्यावसायिक जीवनकी सुरक्षा—इनकी आकांक्षा है, तो अध्यात्मके रास्तेसे मनुष्यको दूर ही रहना चाहिये। कहनेका मतलब यह नहीं है कि उस रास्ते पर वह आदमी नहीं चल सकेगा। यह कहती हूँ कि जहाँ सत्यकी जिज्ञासा जागृत हो गई, वहां वह असत्यके, अधर्मके, अन्यायके मुकाबलेमें आपको पल-पल में लड़ाना शुरू कर देगी।

मान लीजिये कि आपको बोध हुआ, जिसको कहते हैं जीवनकी एकताका—Unity of Life. आपके ध्यानमें आया कि Physics भी बतलाता है कि जीवन-मात्र एक है। Biology भी बतलाती है कि अणुरेणुमें ओतप्रोत एक ऊर्जा है, एक

energy है। उसको आत्मतत्त्व कहिये, चैतन्य कहिये। ऊर्जा कहिये, Energy कहिये—वह एक है। सारे विश्वमें एक है। इसका बोध होने पर आप किस का द्वेष कर पायेंगे? आप किससे नफ़रत कर पायेंगे? आप किससे स्पर्धा कर पायेंगे?

जिस दिन बोध होगा कि शरीर और मन और बुद्धि—ये हमारे उपकरण हैं, साधन हैं, हमारा सत्त्व नहीं हैं, हमारा सत्त्व मन और बुद्धि से परे है, उस दिन फिर मानसिक और बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धामें आप किस प्रकार रहेंगे?

कहना यह चाहती हूँ कि सत्यकी जिज्ञासा जागृत होते ही आज तकका, मनने, अहंकारने, सुरक्षाका जो किला बनाया है, जो घर बनाया है, उसकी दीवारें ढहने लगती हैं। समाजमें रहेंगे; लेकिन स्पर्धा, प्रतिस्पर्धा, क्रोध, द्वेष, तिरस्कार, संग्रह, संग्रहकी सुरक्षाके लिये प्रयास, राग, विराग—ये सब जो हैं—यह चल नहीं पायेगा। यह मैं कहना चाहती हूं। ये दो चीजें साथ नहीं चल सकतीं। यानी, अध्यात्मका जिज्ञासु हो, और फिर वह nationalist भी हो! जिसके ध्यानमें यह आ जाय कि राष्ट्रकी और राज्यकी रेखायें मानव-निर्मित हैं और उसके आधार पर मानवोंका एक दूसरेका द्वेष करना, एक दूसरे के साथ लड़ना—यह वृथा है, तो उसके मनमें petty nationalism (क्षुद्र राष्ट्रवाद) आयेगा ही कैसे?

समाज तो ऐसे व्यक्ति से क्या कहेगा? यह traitor (गद्दार) है! तो समाज में देशभक्तके नाते आपकी प्रतिष्ठा तो नहीं रहेगी। फिर व्यवहार में आप करेंगे—जैसा श्रीमद् राजचन्द्रने कभी किया था। सौदा किया और जिसके साथ सौदा हुआ था, जो देनेवाला था diamonds (हीरे) ला करके,—उसने देखा, उसके

बाद दाम बढ़ गये। prices बढ़ गयीं। वह चिन्तामें था कि contract तो श्रीमद् के साथ पहले कर चुका। न दूँ तो सौदे में अप्रामाणिक रहूँगा। देता हूँ तो इतने लाखोंका मेरा नुकसान होता है।'

उसकी खबर मिलते ही सुबह उठकर उसके घर जाते हैं, कागज जेबमें रखकर। कहते हैं, "चिन्तामें हो, मेरे भाई? तुम्हारी चिन्ताका कारण मैं लाया हूँ। यह सौदेका कागज है।" फाड़ दिया। "श्रीमद् राजचंद्र दूध पी सकता है, लहू नहीं पी सकता।" अब क्या कहेंगे आप? कैसा मूर्ख था? उसका क्या दोष था? prices बढ़ गईं, तो श्रीमद् राजचन्द्र का क्या नुकसान? उसका तो कोई गुनाह नहीं था। इतने पैसेका नुकसान किया! वह व्यवहारी आदमी नहीं था!

इसलिये मैंने कहा कि व्यावहारिक मान्यताएँ और सत्यका स्पर्श, आजकी सुरक्षाकी भावना, इसके लिये होनेवाला प्रयास, पुरुषार्थ, इनकी—qualitative गुणात्मक भिन्नता रहेगी।

तो, संसारमें रहते हुए, सत्यके रास्ते पर चलना—तो, आज जिसको संसार सफलता-विफलता कहता है, सम्मान-अपमान कहता है, सुख-दु:ख कहता है, उस परिभाषा से ऊपर उठना होगा। संसार में रहेंगे। काम करेंगे। लेकिन इसका जो जीवन का मूल्यांकन है, उस मूल्यांकन पर ऐसा व्यक्ति चल नहीं पायेगा।

आप कह रहे थे कि सत्यकी जिज्ञासा का जन्म कैसे होगा? उसके लिये कोई तैय्यारी करनी पड़ती है या नहीं? पारिभाषिक शब्द मैंने इसलिये नहीं टाले हैं कि उन शब्दों की कोई सार्थकता नहीं है। शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यम-नियम हो, धारणा-ध्यान हो, प्रत्याहार हो, ये शब्द जो हैं, ये बड़े अर्थ-गंभीर शब्द हैं। लेकिन उस चर्चामें नहीं उतरना चाहती हूँ।

सत्यकी जिज्ञासाके लिये कोई तैय्यारी चाहिये या नहीं ? उसके लिये कोई pre-requisites हैं, उसके लिये कोई अनिवार्यता है—आवश्यकता है ?

ज़रूर। जिज्ञासाकी जागृति के लिये पहली आवश्यकता यह है कि जीवनसे जो भय है उस भयको निकाल देना। जीवनके स्पर्शसे हम बहुत डरते हैं। हमने जीवनको एक अंकगणित, बीजगणित, भूमितिका ग्रंथ समझ लिया है। या कोई तर्कशास्त्र का ग्रंथ समझ लिया है, कि उसमें सब जितने प्रश्न और उत्तर लिखे हुए हैं उनको याद कर लेंगे और जैसे-जैसे समस्या खड़ी होगी, वैसे-वैसे समस्याका समाधान करते जायेंगे। इतना जीवन से भय है कि जीवन जिन समस्याओंको, चुनौतियों को सामने उपस्थित करेगा उनके प्रतिकारका, कलकी, परसोंकी, अगले सालकी, अगले जन्मकी समस्याओंका, समाधान आज तैय्यार रखना चाहते हैं। Ready-made formulae, blue-prints, plans—इन सबकी खोज किस लिये ? कि जैसे घर-गृहस्थी बसानी है तो चलो भाई, एक साल भरका अनाज रखो। संसारमें चलना है, business करना है, medical line में जाना है, engineering में जाना है, तो उसकी जानकारी, उसका ज्ञान प्राप्त करो। वैसे हमने अध्यात्मको भी समझ लिया है। यहाँ भी blue-prints काम देंगे ! आत्माकी उपलब्धिके लिये भी हम कोई न कोई नुस्खे निकालेंगे ! मैं यह कह रही हूँ कि जीवनके स्पर्शसे हम डरेंगे नहीं। यह निर्भयता, यह अभय पहले होना चाहिये। हम तो बच्चोंको डरना ही सिखाते हैं। सारी की सारी शिक्षण-पद्धति कुछ नहीं है—जितना शिक्षण आज दिया जाता है समाज में, यह systematic development of fear-complex and fear-psychosis है। बच्चोंको समाजसे डरना, लड़का है तो

लड़की से डरना, लड़की है तो लड़के से डरना, अपने आप से डरना, अपने शरीर से डरना, अपने मन से डरना, और बचाव की पूरी तैय्यारी रखना ! जैसे कोई लड़ने के लिये जाते हैं, तो लड़ने का साज़ सारा शरीर पर चढ़ाते हैं। तो न जाने चेतन मन में क्या पड़ा है,—न जाने अचेतन मन में क्या पड़ा है। अचेतन मन में यह विकार उठेगा, है ऐसा प्रतिकार करो ! वह विकार उठेगा तो वैसा प्रतिकार करो। यह सब तैय्यार करके, रटरटाके लड़के को बड़ा कर दिया, लड़की को बड़ा कर दिया। मान लिया हाँ, अब जीनेकी तैय्यारी है ! इसका मतलब है कि कहीं से, किसी भी झरोखे से जीवन की—मुक्त जीवन की—हवा, पवन, वहाँ तक पहुँचे ही नहीं !

तो आध्यात्मिक जिज्ञासा के रास्ते में ये जो संग्रामकी तैय्यारियाँ हैं, ये सबसे बड़ी बाधा हैं। जीवन संग्राम करनेकी वस्तु नहीं है। जीवन संघर्ष करने का तत्त्व नहीं है। जीवन समझनेका, आनंद लूटनेका और लुटानेका एक पवित्र अवसर है, जो जन्म के बाद मनुष्यको मिलता है। एक।

तो, यह अभय पैदा करना पड़ेगा। डरे हुए लोग क्या अध्यात्मकी खोज करेंगे ? जो भयग्रस्त लोग हैं, जिनको मृत्युका भय है, जिनको हानिसे भय है, जिन्होंने जीवनको एक सौदेकी चीज़ समझ लिया है, भक्ति भी सौदा, ज्ञान भी सौदा, साधना भी सौदा, तपस्या भी सौदा, इतना करेंगे तो इतना मिलेगा, इतना करेंगे तो इतना मिलेगा—

ऐसे भयग्रस्त मानसमें और भयसे अपने आपको बचानेके लिये संघर्ष की तैय्यारी रखनेवाले मानसको सत्यकी जिज्ञासाका स्पर्श नहीं हो सकता। You have to expose yourself completely to the touch of life. और क्यों डरते हैं—

मालूम है ? क्योंकि जीवनमें पुनरावृत्ति नहीं होती, जीवनमें प्रतिक्षण नवीनता है। यह जो जीवनका अपूर्व सौंदर्य है कि कलका क्षण अभी नहीं, अभीका क्षण एक घण्टे बाद नहीं। तो आप तैयारी कर रखते हैं आज के अनुभव पर, कलके अनुभव पर, लेकिन आजके अनुभव पर की हुई तैय्यारी आनेवाले कल काम नहीं देती। तो, जीवनकी यह जो नित्य नवीनता है, नूतनता है, इसमें उसका सुन्दर स्वरूप छिपा हुआ है, यह जो जानेगा, वह फिर अपनी सुरक्षा और बचावकी तैय्यारी नहीं करेगा। अध्यात्म यानी जीवनके प्रतिक्षण आलिंगन और स्पर्श के लिये तैय्यार रहना।

"जिन खोजा तिन पाइया,
गहरे पानी पैठ—
मैं बौरी डूबन डरी,
रही किनारे बैठ।"

यह किनारे बैठनेवालोंको धंधा नहीं है जीना। वे तो किनारे पर बैठकर हिसाब लगायेंगे—पानी यहाँ इतना गहरा है, वहाँ उतना गहरा है। इस पानी में calcium ज्यादा है, इसमें iron ज्यादा है। हिसाब लगायेंगे कि इस नदी का प्रवाह कहाँ से हुआ था—गंगोत्रीसे हुआ कि जमनोत्री से हुआ! इसका volume कितना है ? इसकी speed कितनी है ? बैठे, philosophy बनायी, किनारे पर बैठे। लेकिन ऐसे philosophies या theologies लिखनेवालों ने कभी जीवन में छलांग लगाकर इसका शीतल स्पर्श नहीं पाया। उसकी ताज़गी नहीं पायी।

इसलिये, भाई, अध्यात्म तो जीवनसे आलिंगन करनेवालोंका खेल है। उसके लिये बहादुरी चाहिये, शूरता चाहिये, वीरता

चाहिये, कायरता, calculations; हिसाब लगाना—नक्शे—blue-prints तैय्यार रखना, निष्कर्ष उधार ले-लेकर उनकी भी एक जंत्री बना लेना, सूची बना लेना यह अध्यात्म नहीं हो सकता। इसमें धर्माचरण होगा। इसमें नैतिक आचरण होगा। इसमें सामाजिक संबंधोंकी मर्यादाओंका पालन होगा। किन्तु यहाँ हदसे बेहदमें और बेहदसे अनहदमें जानेका सवाल है। एक चीज़।

दूसरी तैय्यारी आप जो पूछ रहे हैं सत्यकी जिज्ञासा के लिये, वह तैय्यारी यह है कि जो साधन मुझको मिले हैं—आखिर सत्यकी जिज्ञासा भी पूरी करनी होगी, खोज करनी होगी, तो शरीर से काम लेना है। इस शरीरमें रहना है, मन है, बुद्धि है—ये जो उपकरण मिलें हैं—इनको स्वस्थ रखना, सुन्दर रखना, निरामय रखना—यह है दूसरी तैय्यारी। आजकल लोगोंको बड़ा भ्रम हो गया है कि अध्यात्मके लिये कुछ नहीं करना पड़ता! यह तो बस एक प्रवचन सुन लिया—और एकदम—Switch on and off! हो गया यह! यह सिर्फ़ शब्दों के व्यापार से उपलब्ध होनेवाला तथ्य है। इतना अध्यात्म सस्ता नहीं है कि कुछ भी न करना पड़े इसके लिये।

मैंने कहा था सुबह कि परिश्रम करना पड़ता है। अब कोई कहेगा, कि यम-नियम के द्वारा करो, आहारविहार और निद्राके संतुलनमेंसे करो। लेकिन मैं समझती हूँ कि आजके ज़मानेमें छोटे-छोटे लड़कों-बच्चों को, सब लोगोंको जब विद्यालयों में पाठ पढ़ाते हैं—physiology सिखाते हैं—hygiene सिखाते हैं—biology सिखाते हैं,—दुनिया भरके ग्रंथोंका पाठ तो कराते हैं। एक गधेका बोझ लाद-लादकर तो बच्चे स्कूल जाते हैं। इसलिए यह ज़रूरी नहीं है कि कोई एक व्यक्ति

बैठकर उनको यह बतायें कि तुम ऐसा खाना खाओ, ऐसा भोजन करो। यह कोई कहेगा क्या कि 'मैं नहीं समझ सकता हूँ कैसा भोजन करूँ?' लेकिन इतना ही कहती हूँ कि इतने सब साधन उपलब्ध होने के बाद भी कोई विचार नहीं करता, यह दुर्भाग्य है, कि मेरे शरीरके लिए किस प्रकारका आहार अनुकूल है, मेरी प्रकृति कैसी है—कफ प्रकृति है? वात प्रकृति है? पित्त प्रकृति है?—प्रकृति को समझने के बाद उसके अनुकूल आहार और उसके अनुकूल प्रमाण में उसको दिया, अब उसको यम कहो, नियम कहो,—न कहो—, तुम्हारी non-conformism की और एक भाषा निकालो। मुझे भाषासे लड़ना-भिड़ना नहीं है। लेकिन यह कहूँगी कि ध्यानावस्था में प्रवेश करना या निर्विचार अवस्थामें जीवित रहना—यह कमज़ोरोंका का काम नहीं है। उसके लिये फ़ौलाद जैसे ज्ञानतन्तु चाहिये—nervous system like steel.

तो अध्यात्मकी जिज्ञासाके लिये शरीरका और मनका स्वास्थ्य और सन्तुलन आवश्यक है। यह नहीं कहती हूँ कि उसे साधने पर यह प्राप्त ही होगा। लेकिन सुबह जिस चीज़ का मैंने उल्लेख किया था कि शारीरिक और मानसिक अनन्त शक्तियाँ हैं। Harmonious development of the infinite powers of the mind and body—उन शक्तियोंका विकास कर लें—यह तो धर्म है। न करें तो दोष। करें तो उसमें पुरुषार्थ नहीं। आप जब पूछते हैं तो कहती हूँ कि अध्यात्मकी, सत्यकी जिज्ञासा में इसकी मदद होती है। इसके बिना भी हो सकता है, अपवाद-भूत, लेकिन सौ में से निन्यानवे व्यक्तिओं के लिये शरीर और मन का स्वास्थ्य और संतुलन तैय्यारी है।

यह (तैय्यारी) कैसे की जायेगी—किसी प्रकार की कोई

Gymnastics करेगा, कोई योगासन करेगा, कोई प्राणायाम करेगा, किसीको आठ घंटे निद्रा चाहिये, किसीको छः घंटे निद्रा चाहिये। हम यह किसीके लिये तय नहीं कर सकते हैं। आध्यात्मिक साधना नितान्त व्यक्तिगत विषय है। एक व्यक्ति दूसरेको कोई पथ नहीं बतला सकता है कि मुझे छः घंटे निद्रा चाहिये, इसलिये तुम भी छः घंटे की निद्रा में चला लो। लेकिन हाँ, उस व्यक्तिको खोजना चाहिये कि मेरे शरीरको और मेरी जीवनचर्याको, कितनी निद्रा आवश्यक है। यह फ़ैसला करें। उसके बाद प्रमाद करें—तो गुनाह है। मैं नहीं बताऊँगी। वह व्यक्ति तय करें। ये आहार हैं। इतना आहारका प्रमाण है। वैज्ञानिक दृष्टिसे शरीरको, मनको कोई नहीं देखते। Suppression, denial, वैराग्य, निग्रह, आत्मपीड़न—इनकी आलोचना सब करते हैं। और उच्छृंखल भोगवाद, उत्तान भोगवाद—इसको स्वतन्त्रता मानते हैं। यह नहीं चलेगा। तो सत्य-जिज्ञासाके लिये शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओंकी तरफ़ वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना और उनमें सन्तुलन उपस्थित कर देना—इसकी बहुत मदद होती है, हो सकती है। आपका यही न सवाल था ?

आपने कहा था कि आपके पास, ये जो शंकराचार्यके साधनचतुष्टय के निर्देश हैं—या यमनियम के निर्देश हैं—इनसे कोई quicker (अधिक तेज़) हैं ?—यह आपने एक प्रश्न में पूछा।

अब quicker (अधिक तेज़) है कि slower (अधिक धीमा) है—यह तो मुझे मालूम नहीं। लेकिन हाँ, एक प्रकार आज़माया जा सकता है, प्रयोग किया जा सकता है, सत्य की खोज एक प्रायोगिक विज्ञान है—Experimental

science है और अपने शरीर के भीतर, मन के भीतर ही वह प्रयोगशाला है जहाँ प्रयोग करने होते हैं। दूसरों के किये हुए प्रयोगों का कोई वर्णन आपको किसी मंज़िल तक पहुँचा नहीं सकता। प्रयोग यह करने लायक़ है कि शरीरको और मनको चौबीस घंटे में कुछ समय निकाल कर स्वस्थ रहने का मौक़ा देना चाहिये। इन्द्रियाँ जो मिली हैं न, इन इन्द्रियोंको रातदिन जो काम में लगाये रखते हैं—आँख से देखते ही जाते हैं, देखते ही जाते हैं, देखते ही जाते हैं, कानसे सुनते ही जाते हैं, नाकसे सूँघते ही जाते हैं—मनसे सोचते ही जाते हैं। तो आपकी इन्द्रियाँ ऐसी जर्जर हो जाती हैं। और मनसे इतना काम लेते हैं कि सामने कोई करनेका काम न हो, तो स्मृतिके साथ खेलते हैं। छोटे बच्चे खिलौनेके साथ खेलते हैं न। मैंने ऐसे कोई मनुष्य नहीं देखे कि जो खिलौनेके साथ नहीं खेलते हैं! अब, स्मृतिके साथ, दुःखकी स्मृतिके साथ खेलते हैं, सुखकी स्मृतिसे साथ खेलते हैं—इतना नहीं, तो कल क्या होगा, परसों क्या होगा, फिर क्या होगा, आगे क्या होगा—एक महीने के बाद, दो महीने के बाद—भविष्यके स्वप्न देखते हैं। बेचारे मनको कोई आराम नहीं देता। मैंने अपने मनके साथ निर्दयता न करनेवाले मनुष्य बहुत कम देखें हैं। चौबीस घंटे काममें लगायेंगे। रात को बिस्तर में सोये हैं तो चेतन मनको सोने देंगे, तो अचेतन मनसे स्वप्न देखना शुरू कर देते हैं। कभी चौबीस घंटे में एकाध घंटा तो ऐसा निकालना चाहिये कि जब बैठे हों शान्त—आँख देख नहीं रही हैं, कान सुन नहीं रहे हैं, घ्राणको सूँघनेका यह जो कष्ट है—वह नहीं दे रहे हैं। मनको सोचनेका कष्ट नहीं दे रहे हैं। श्वासोच्छ्‌वास जो हैं—उसको तो ऐसी बेरहमीसे, ऐसी क्रूरतासे काममें लाते हैं। उसमें कोई संगीत नहीं, उसमें कोई लय नहीं। उसमें कोई ताल नहीं है। कितना श्वास लेना चाहिये—कितना बाहर छोड़ना

चाहिये, कोई नहीं देखता। अपने लिये सोचनेको और देखनेको फ़ुर्सत किसको है? सबको दुनियाकी पड़ी है। सुख-सुविधाओं का, शारीरिक और मानसिक सुख-सुविधाओं का सामान जुटाते-जुटाते ज़िन्दगी निकल जाती है—जीनेकी फ़ुर्सत ही नहीं है। ऐसा समय निकालना चाहिये भाई, जब आप शान्तिसे—आप बैठे रहिये, आप खड़े रहिये, आप लेटे रहिये—किस position में posture में आप हैं, इससे हमें कोई वास्ता नहीं। हाँ, इतना कहेंगे कि आपके पीठकी जो रीढ़ (spine) और गरदन है—वे सीध में हों। तो, जो blood-circulation है, जो रुधिर-निःसरण है, वह निर्विघ्न रीतिसे चलता है। और आपकी श्वासकी जो गति है, उसमें धक्का नहीं लगता है। जो झुककर बैठते हैं, उनकी श्वासकी गतिमें लय नहीं आता। इसलिये इतना ही कहेंगे—लेटना है तो सीधे लेटो, खड़े होना है तो सीधे खड़े हो जाओ, बैठना है तो सीधे बैठो। अपनी-अपनी पसन्दकी बात है। लेकिन ऐसा कुछ समय निकालना चाहिये जब आप शरीरको, शरीरके स्नायुओं को, मज्जाओं को, glands को, ग्रंथियों को, nerves को ज्ञानतन्तुओं को, मन को, सबको शान्ति दें। सावधान होकर इन वाहनोंको—आपका जो वाहन है शरीर, आपका जो वाहन है मन और बुद्धि, इनको ज़रा आराम तो दो। एक घंटा। अब इनको जब आप आराम देते हैं—मनसे सोचते नहीं है, वह न सोचने की अवस्थामें, यदि आप सिर्फ़ मन हो और सिर्फ़ बुद्धि हो, तो फिर न सोचनेकी अवस्थामें तो मृत्यु होनी चाहिये न? वह तो होता नहीं है। न सोचनेकी अवस्थामें भी जीवित रह जाते हैं। इसका मतलब है कि मन भी एक आवरण है। तन जैसे आवरण, वैसे मन भी आवरण है। और आवरणके भीतर भी जीवन है। तो, तन और मनके आवरणोंके भीतर जो छिपा हुआ जीवन है, उससे साक्षात्कार वहाँ होता है। चौबीस घंटे में कुछ समय ऐसा

निकालें—खोज करने के लिये कि मन की क्रियायें और शरीर की क्रियायें शान्त होने पर होता क्या है ? वह जब देखने में आयेगा, मानसिक क्रियाओंके शान्त होने पर चेतना में जो घटित होता है, उसका साक्षात्कार होगा—तो जो सत्यका चसका है, उसका ज़ायका है, उसका लुत्फ़ है, उसका मज़ा है वह आने लगेगा। कमरेमें अन्धकार है और खिड़की खोल दी। बहुत थोड़ीसी खोली है और एक प्रकाशकी किरण आयी। कहते हैं, 'हाँ हाँ, सूर्योदय हो गया है, बाहर प्रकाश है'। वैसे ही अन्तर्मुख होकर मानसिक क्रियाओं के उपशममें जो एक गति अनुभवमें आती है। उस गति को देखनेके बाद फिर ध्यान में आता है कि अरे ! ये तन के और मन के और बुद्धि के हिसाबमें लगे रहें—यह तो ठीक नहीं है। वह तो करना चाहिये। लेकिन, सत्त्व हमारा भीतर पड़ा है। वह घर है हमारा। वह हमारा मकान है, वह घर है। वह हमारी जड़ है। वह हमारा बीज है।

तो, इसका एक प्रयोग करके देखने लायक़ चीज़ है—हो सकता है या नहीं ? फिर वह जो चेतनाका साक्षात्कार होता है, इस चेतनाका साक्षात्कार फिर खुली आँख से रहकर होता है या नहीं ? शरीरसे हिलते हुए, चलते हुए, मुंहसे बोलते हुए भी, इसमें हमारा निवास रह सकता है या नहीं ?—फिर चला। जो स्पर्श यहाँ हुआ था, इस स्पर्शको जीवनके हर क्षेत्रमें देखनेकी जो चेष्टा है, जिसको लोग साधना कहते हैं, वह फिर शुरू हो जाती है।

प्रश्नः [धर्मका आचरण करते-करते ही अध्यात्म तक पहुँच सकते हैं या नहीं ? इस आशय का प्रश्न था।]

उत्तर—सुबहकी सभामें यह कहा गया था कि धर्म एक वस्तु है और अध्यात्म दूसरी। जहाँ तक स्मरण है—यह कहा गया था

कि जलका धर्म है प्रवाहित होना, पुष्पका धर्म है सौरभ देना। पृथ्वीका धर्म है स्थिरतामें रहना। इस प्रकार मानवका धर्म है—दृष्टिसे सम्यक् देखना और शरीरसे सम्यक् व्यवहार करना। लेकिन ये जो सम्यक् दर्शन और सम्यक् वर्तन हैं,—अपने-अपने धर्मशास्त्रके अनुसार करने वाला व्यक्ति—यह ज़रूरी नहीं है कि आध्यात्मिक अनुभूतिसंपन्न हो। यह कहा था।

यह ज़रूरी नहीं है कि जो बहुत नैतिक व्यक्ति है, सदाचारी है, लोग जिसको पुण्यशील कहते हैं, लोग जिसको सज्जन कहते हैं—ऐसा नैतिक और सदाचारी व्यक्ति, यह ज़रूरी नहीं है कि आध्यात्मिक भी हो। मैंने कहा था कि अध्यात्म जीवनका एक नितान्त भिन्न आयाम है, परिमाण है, dimension of life है। अब यह बहन पूछ रही हैं कि धर्मका आचरण करते-करते अध्यात्म तक पहुँच सकते हैं या नहीं? धर्मपालनमेंसे ही अध्यात्ममें प्रवेश, इसका रूपांतर हो सकता है या नहीं अध्यात्ममें?—

मुझे बहुत खेद है कि जहां तक जीवनको देखा और समझा—धार्मिक या नैतिक आचरण करनेवाले अध्यात्ममें पहुँच ही जाते हैं ऐसा पाया नहीं। क्यों? क्योंकि धर्माचरण में शास्त्रों को प्रमाण और व्यक्तियोंको प्रमाण मानना अनिवार्य हो जाता है। एक उदाहरण दूं। मनुस्मृति है। अब आप और मैं कोई स्मृति लिखनेके लिये तो नहीं बैठेंगे। जो धार्मिक Scriptures हैं, सामुदायिक जीवनके लिये जो नियम बनाये गये, कौटिल्यने एक धर्मग्रंथ—शास्त्र लिखा। तो नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र—ये हैं शास्त्र। पंडितोंने बनाये। अब इन लोगोंको प्रमाण मानकर, अपनी स्वतंत्रताको कुछ मर्यादित करके, दूसरे लोगों की स्वतंत्रता का संरक्षण करते हुए मनुष्य जीता है। समाजमें जो जीना होता

है—you have to relegate certain powers—जैसे Politics में करना पड़ता है। वैसे सामाजिक जीवनमें आप एक-दूसरेके लिये, जैसे कुटुंब में आप करते हैं कुटुम्बके लिये, वह जो इकाई है—कुटुम्बकी जो इकाई है उसकी रक्षाके लिये आप अपने अधिकार, अपना स्वातंत्र्य—इसको स्वेच्छासे छोड़ते हैं। और कुछ मर्यादाओंका स्वीकार करते हैं। ऐसे धर्ममें करना होता है।

तो आपने पहले तो शास्त्रको प्रमाण माना, या शास्त्र स्वयं पढ़कर समझने की बुद्धि न हो तो किसी व्यक्तिको प्रमाण माना—वहाँ आपने सत्य की खोज नहीं की। प्रमाण मानकर आप चले। जैसे आपको geometry में करना पड़ता है। यह point है, तो point की definition यदि आप नहीं मानेंगे तो geometry आगे सीख नहीं सकते हैं। Point को—without length and without breadth ऐसा एक unit है, space and time के focus में, यह यदि—if you are not willing to presume that such an unit or such an entity, without length and without breadth can exist, इतना नहीं मानेंगे तो आप भूमिति नहीं सीख सकते। Trigonometry भी नहीं।

उसी प्रकार, धर्मशास्त्रोंमें, विभिन्न धर्मोंमें, कुछ उन्होंने प्रमाण मान लिये है। आपको मालूम हैं न,—हिन्दू लोगों की कुछ परिचित है परिभाषा, इसलिये कहती हूँ—वह प्रत्यक्षको प्रमाण मानते हैं, अनुमानको मानते हैं—आप्त वाक्यको मानते हैं—गुरुवाक्य को मानते हैं—इस प्रकार प्रमाण मानकर फिर धर्माचरण करते हैं। ऐसा ही जैनधर्म में होगा, ऐसा ही बौद्धधर्म में होगा। तो धर्माचरणके लिये, इस प्रकारकी authority को

मानना, इस प्रकारकी sanction को मानना अनिवार्य हो जाता है। जैसे Indian constitution आपने और हमने नहीं लिखी। उसका penal code आपने और हमने नहीं लिखा। लेकिन उस penal code के जो नियम हैं—उनको तोड़कर आप चलेंगे तो आपको सज़ा होती है। कैदमें जाना होता है। ये तो मानवनिर्मित सामाजिक जीवनकी व्यवस्थाके लिये बनाये हुए code langauges हैं। इनका सत्यकी खोजसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अध्यात्म तो है—सत्यकी व्यक्तिगत खोज और अनुभूति। It is a personal discovery of the ultimate reality of the world. इसमें किसी को authority माननेसे चलता नहीं। किसीको प्रमाण माननेसे चलता नहीं है। वहाँ तो पग-पग पर और पल-पलमें research student जैसा जाग्रत् रहकर बैठना पड़ता है। और देखना होता है। इसलिये, मैंने कहा कि धर्म जीवनका एक आयाम है, और अध्यात्म जीवन का दूसरा आयाम है। उनमें विरोध नहीं कह रही हूँ मैं। लेकिन एक मर्यादा है। अब आप कहेंगे कि जो शास्त्रवचन हैं उनमें से जितना हमको तथ्य अनुभव में आया, उतनेका हमने आचरण किया—बाकी हमने छोड़ दिया—परंपराओंको छोड़ दिया—संप्रदायोंको छोड़ दिया—तो फिर आपकी सत्यकी खोज शुरू हुई। फिर आपने शास्त्रोंको प्रमाण नहीं माना। आपने व्यक्ति को प्रमाण नहीं माना, आपने धर्म में भी सत्यकी खोज को लेकर प्रवेश किया। ऐसे व्यक्ति को समाज कभी धर्मशील नहीं कहेगा।

उदाहरण मैं दूँ आपको। आज तो समाज कुछ बदल गया है। लेकिन पंद्रह साल पहले तक, दस साल पहले तक, यह माना जाता था कि मातृत्वके बिना स्त्रीके जीवनकी सार्थकता नहीं है। तो कोई लड़की कहे कि विवाह नहीं करना है, तो वह कितना ही

शुद्ध जीवन व्यतीत करती हो, समाजमें उसको प्रतिष्ठा मिलना बहुत मुश्किल होता था। वह किसीके साथ हँसे, बोले तो संदेह की निगाहसे देखा जाता था। समाजकी दृष्टिसे वह धर्माचारिणी नहीं। क्योंकि उसने विवाह नहीं किया, किसी पुरुषके रक्षणमें न रही, मातृत्व उसने नहीं धारण किया, तो समाजकी दृष्टि से ऐसी व्यक्ति अधार्मिक है। आप देखिये। कोई भी, धर्मके जो विधियुक्त अनुष्ठान होते हैं न, rituals होते हैं, उसमें ऐसी स्त्रियोंका प्रवेश नहीं है। यज्ञ करना हो, होम करना हो, हवन करना हो, वे कहते हैं—"उसको नहीं, वह नहीं चलेगा।" तो धर्मकी दृष्टिसे, समाज की दृष्टिसे वह अधार्मिक है। और उसने यदि सोचा कि 'नहीं, यह तो मेरा जीवन है—मैं जिऊँगी; विवाह की आकांक्षा नहीं है—नहीं करेंगे', तो समाजकी दृष्टि अलग हो गई। धर्माचरण करना होता तो वह मर्यादा मानकर उसमें चलती। मैं धर्म शब्दका प्रयोग किस अर्थ में कर रही हूँ यह आप देख लीजिये। धर्म शब्दका प्रयोग मैं इस अर्थमें कर रही हूँ कि परस्पर व्यवहारके लिये सर्वसंमत कुछ जो नियम बनाये गये हैं—उनको मैं कह रही हूँ। तो ऐसे आचरण करनेवाले अध्यात्मके जीवन तक पहुँच नहीं पाते हैं।

प्रश्न: सत्यके आचरणके लिये, 'ऐसा करना चाहिए', 'ऐसा करनेसे उसकी मदद होती हैं—slight-(थोड़ी-सी)'—यह भय नहीं है ?

उत्तर: मदद होनी चाहिये, यह तो नहीं कहा—हो सकती है यह कहा। किसीने प्रश्न पूछा था कि इससे मदद हो सकती है या नहीं ? मैंने कहा कि हो सकती है। यह कहा कि अनिवार्य नहीं है। लेकिन इसमें भय कहाँ ? अभी मैं यह कहूँ कि आप यदि यहाँ बैठे हैं सुनने के लिए—आपका शरीर स्वस्थ होगा तो

आप ठीक तरहसे सुन पायेंगे—और अगर सिरमें दर्द है, पेटमें कुछ कब्ज़ है, कहीं पीठमें दर्द है तो आप यहाँ बैठे हैं, शब्द कानों तक पहुँचते हैं, बुद्धि उसका अर्थ भी बतलाती है, लेकिन बोध भीतर उठता नहीं है। क्योंकि शरीरमें distraction है।

तो, यदि मैं कहूँ कि श्रवणके लिए—For the art of listening, poise of the body or health of the body is indispensable—शरीरकी स्वस्थता श्रवणके लिये आवश्यक है—यह कहूँ तो उसमें भय कहाँ आया ? उसमें भय आता है ? मान लीजिये कि आपको नींद नहीं पूरी मिली है, दो-तीन रातों से, और फिर आप जाकर बैठे हैं। तो कान सुन रहे हैं। कानोंका धर्म है शब्द को सुनना। तो श्रुति सुन रही है और बुद्धिको आदत है कि स्मृतिमेंसे शब्दोंका अर्थ निकाल-निकालकर लगाते जाना, और उसको Categories में label में, बाँटते जाना। वह भी होगा। लेकिन बोध भीतर नहीं उठेगा, क्योंकि निद्राके अभाव में उतनी तरलता, उतना अवधान वहाँ पर है नहीं कि उसको आत्मसात् कर लें। तो यह यदि कहूँ कि भाई, निद्राका अभाव हो, अन्न का अभाव हो पेट में, शरीरमें स्वस्थता का अभाव हो तो सत्संग नहीं हो सकता। तो यह क्या भय दिखलाना हुआ ? Have I understood him properly or........

[Response—] "yes, yes".

प्रश्न : Everybody is a little conscious about his activity. He likes, for example, to feel from the humanity point of view, leaving aside the religious point of view. He just sticks to humanity. He just argues that whatever I do, I should not hurt somebody else,—I should be honest and all that.

Has it got any relation with अध्यात्म ? Or [is it] just a make-believe story of humanity and helping others and doing your best and doing good to others and all that ? Am I clear in what I ask ?

उत्तर : आप कह रही हैं, कि धर्मकी दृष्टिको अलग छोड़ दीजिए। लेकिन एक मानवजाति का सवाल सामने आता है कि सच बोलना चाहिये—सबके साथ प्रेमसे रहना चाहिये—कर्त्तव्यका विचार आता है समाजके प्रति—इस विचारका अध्यात्मके साथ क्या संबंध है ? संबंध है या नहीं ?

देखिये जहाँ प्रेम है, वहाँ कर्त्तव्यके लिए अवकाश है ? आपका किसी व्यक्तिसे प्रेम है—माताका पुत्रसे, भाईका बहनसे है—पतिका पत्नीसे है। मित्रका मित्रसे है प्रेम। जब उस मित्रके साथ आपका व्यवहार होता है तो आपको सोचना पड़ता है कि इस व्यक्तिको दुःख न हो ? अनुभव है न, इसलिये कहती हूँ। यह 'प्रेम'—जो चार दिनका मोह है तो भी यह सब चलता है, नखरा सब चलता है। तो, प्रेममें तो होता ही है। ऐसे ही अध्यात्मके क्षेत्रमें हेतुके लिए कोई,—motive के लिए कोई, अवकाश नहीं कि मैं किसीको दुःख न दूँ, सबके साथ प्रेमसे रहूँ, सबका हित मेरे द्वारा हो,—यह जो हेतु हैं—even the noblest possible motive cannot enter the realm of love, love is a realm where there is no direction and no motive.

तो, ये हेतु और प्रयोजन, मानवजातिका विचार, बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय, ये सब मैं करूं, तो "मैं" रहा,—यानी 'अहम्' रहा, 'करना रहा' और 'किसीके लिये' करना रहा। त्रिपुटी बन गई न ! त्रिकोण बना कि मैं करूंगा, 'ऐसा व्यवहार

करूंगा' कि 'किसीको' दुःख नहीं होगा। इतना consideration है। अब यह जो triangle है, यह जो त्रिपुटी है—यह आध्यात्मिक जीवनमें नहीं है। आध्यात्मिक जीवनमें स्वकेन्द्रित सभी हेतुओंका विलय हो जाने के कारण शेष रह जाता है प्रेमका सहज प्रवाह, जिसमेंसे तनमनकी सभी धाराओंमें से झंकृत होता है जीवनका संगीत। उसमें, दूसरोंको दुःख देनेकी संभावना ऐसे व्यक्ति में, रहती नहीं। मुझ से किसी को दुःख होने की संभावना तब तक है, जब तक अहंकार शेष है, और अहंप्रेरित क्रिया होती है। action और activity कर्म और क्रिया—में अंतर है। अहंकेन्द्रित जितनी हैं वे क्रियायें हैं। और आत्मामें से जो जन्म लेता है वह संपूर्ण कर्म है। इसलिये मैंने कहा कि धर्माचरण एक अलग आयाम है, जिसमें से मनुष्य सीख सकता है। लेकिन धर्माचरण और अध्यात्म एक नहीं हैं। तो, यह तो हेतुओंका साम्राज्य है। लोग कहते हैं कि बुरे हेतुओंको हटाओ, अच्छे हेतुओं को लाओ, यह सारा द्वैत का साम्राज्य है।

प्रश्न : [उत्तर में ही प्रश्न को दोहरा दिया गया है।]

उत्तर : कह रहे हैं कि स्मृतिके बिना और भविष्यकालके सपनेके बिना, नाम-रूपके बिना, किसी भी वस्तुको देखना कैसे संभव होता है? क्या उसके लिये कोई ख़ास अभ्यास करना पड़ता है? क्योंकि आप जानते हैं न,—आज जो हम देखते हैं—बड़ी मज़े की चीज़ है—।

लोग समझते हैं 'हम देखते हैं'। 'हम सुनते हैं'। 'हम समझते हैं'। यह सब कुछ नहीं होता है। असलमें 'इसका नाम table है' यह बचपन से बतलाया गया है। इसलिये मैं इसको table कहती हूं। यह table है कि नहीं—यह मुझको

मालूम नहीं है। लेकिन वस्तुओंके आकार, प्रकार, नाम और गुण—मेरे मस्तिष्कमें बचपनसे भर दिये गये हैं। इसलिये मैं उनको re-cognise करती हूं, पहचानती हूँ। बुद्धिको यह आदत हो गई है बचपनसे, और मेरे मातापिता को आदत थी, उनके माता-पिता को आदत थी, उनके माता-पिताको आदत थी, तो बुद्धि को ऐसा अभ्यास हो गया है। मातापिताओं की आदतें भी तो बच्चों में उतरती हैं, पुरखों की उतरती हैं। जिस समाजमें पैदा हुए हैं वहांकी, ये सब आदतें लग गई हैं। तो, वस्तुओंके आकार, प्रकार, नाम, गुण—ये हमारे लिये पहलेसे ही सब निश्चित किये हुए हैं—तो, तमाशा तो यह है कि cognition का हमें मौक़ा ही नहीं मिलता है, हम सिर्फ़ re-cognise करते हैं। जिस प्रकारके संस्कार भर दिये गये हैं—उनके अनुसार हमारी पहचान है। अब ये सब आदि मानवसे लेकर आज तक, सारे संसारमें जो मानवीय जीवनका विकास हुआ है, उसमें जो अनंत अनंत संस्कारोंकी राशि—आज जो हम खड़े हैं जहां पर, उसमें भर दी गई है—वह हमारे भीतर पड़ी है। कुछ संस्कार चेतन मन में हैं। कुछ संस्कार मनकी जो नीचेकी तह है अचेतनकी, उसमें पड़े हुए हैं। तो, यह re-cognition जहां तक है वहां तक cognition तो नही है। जहां तक आप वस्तुओंको आपको बतलाये गये नामोंसे और गुणोंसे अलंकृत करके ही देख सकते हैं, वहां तक उसका जो सत्य स्वरूप है उसका दर्शन नहीं होता। और अध्यात्म है नामके, रूपके, गुणों के जितने वस्त्र हैं उनको उतार करके सत्यको अनावृत रूप में देखना। आप कहते हैं कैसे होगा? यह कैसे होगा?

तो, पहले तो यह समझमें आनेकी चीज़ है, यह देखनेकी चीज़ है—इसका बोध, इसका प्रत्यय होना चाहिये कि मुझे

देखना नहीं आता है। मुझे सुनना नहीं आता है। मुझे पहचानना नहीं आता है। मेरा जो उपकरण है— the instrument of perception is not equal to the task of perceiving. यह तो पहले मालूम होना चाहिये न! ऐसा गर्वहरण होता है भाई, एक बार जो अध्यात्म के रास्ते पर चल पड़ा न, घमंड चूर-चूर हो जाता है। जिस मनके भरोसे चलता है, उस मनकी मर्यादायें उसको दिखने लगती हैं—जिस बुद्धि के भरोसे जाने लगता है उस बुद्धिके दोष दिखने लगते हैं—बड़ी मुश्किलमें मनुष्य आता है। पहले यह पहचानना चाहिये कि 'मैं जो देख रहा हूँ'—यह देखना मुझे आता नहीं है। नाम और रूपके बिना मैं देख नहीं सकता। विचारके बिना, हेतु के बिना मैं देख नहीं सकता। आप सोचिये कल ही उठकर प्रयोग कीजिये कि सुबहसे रात तक जितने व्यक्तियोंसे आप मिलेंगे, या जितनी वस्तुओंके साथ आपका संबंध आयेगा, उन वस्तुओं और व्यक्तियोंके साथ आपका अहेतुक संबंध है कि सहेतुक संबंध है? संसारसे अल्प भी सुखेच्छा रहेगी, तब तक निर्हेतुक संबंध, व्यक्तियोंसे, वस्तुओंसे होता ही नहीं। क्योंकि हमको तो प्राप्त करना है, हर व्यक्तिसे कुछ प्राप्त करना है। हर वस्तुसे कुछ प्राप्त करना है। हम तो सब चारों तरफ़ कमाई की दृष्टि से देखते हैं और हेतु के चश्मे से जब देखते हैं न, तो फिर व्यक्ति का दर्शन नहीं होता—आप बैठे हैं न, लेकिन आपके दर्शन मैं नहीं कर पाती क्योंकि मेरे मनमें हेतु है कि मेरा जो संवाद चल रहा है आपको प्रिय लगे, फिर आपकी आंखोंमें और चेहरेमें स्मितकी झलक उठे, यह सारा हेतु—मुझे प्रतिसाद मिले, और response मिले, वह response should be eloquent in the lines of your face—यह सारा हेतु मनमें हो तो मैं आपको देख नहीं सकती हूँ। मैं तो अपना हेतु project

करती हूँ आपके ऊपर। आपके साथ अन्याय करती हूँ। आप देखेंगे कि सुबहसे रात तक, पति पत्नी के साथ या मां-बाप बेटेके साथ, भाई-भाईके साथ, एक दूसरेको सचमुच देखता है या अपने हेतु और अपनी स्मृतिमें जो कुछ भरा हुआ है, उसके चश्मे लगा-लगाकर देखता है। तो फिर वैसा ही काला-हरा-पीला-लाल उसको दिखता है। तो पहली चीज़। एक बोध—कि हम देखना जानते नहीं—We do not know how to observe—we do not know how to look at a thing.

यह जिस दिन मालूम होगा न, क्या हालत होगी मनुष्यकी! कितनी नम्रता उसमें आयेगी। जब उसको मालूम होगा कि यह देखनेका तरीका नहीं है, सत्यके स्पर्श का यह साधन नहीं है, तो साधन कैसे बनेगा? तो मैं, हेतुरहित, without the motive, जी सकता हूँ या नहीं?

आप कह रहे हैं न, कि अभ्यासका विषय है या नहीं? अभ्यास तो बाद में आयेगा। पहले, जीवनमें व्यक्तियोंके और वस्तुओंके साथ हेतुपूर्वक संबंध या निर्हेतुक संबंध—इन दोनोंके बीच मनुष्यको साहस करके देख लेना चाहिये। अब यहां पर एक बात और clear कर दूँ, साफ़ कर दूँ। नौकरी करते हैं—व्यापार करते हैं—घरमें बैठे हैं—काम करना है—रसोई बनानी है—तो अब सब्ज़ी कितनी लेनी है, चावल कितने लेने हैं—यह तो देखना पड़ता है। कपड़े धोने हैं, साबुन कितना लेना है यह देखना पड़ता है। मैं इस बातमें नहीं बोल रही हूं। इस विषयमें नहीं बोल रही हूँ। मैं यह कह रही हूं कि जहां आपको किसी प्रकारका दायित्व नहीं है, किसी प्रकारकी responsibility नहीं है आपके ऊपर—ऐसे क्षणों में भी आपका व्यक्तियोंके और वस्तुओं के साथ जो संबंध आता है—वहां निर्हेतुकता से देखते हैं

कि सहेतुक देखते हैं—इसका थोड़ा-सा प्रयोग करके देख लें। यह कहनेका कारण है। आप microscope रखिये। microscope के नीचे कोई एक वस्तु रख लीजिये। उसको आप आंखसे देखें। शास्त्रज्ञों का कहना है—वैज्ञानिक, शास्त्रज्ञ यानी Scientist अर्थमें बोल रही हूँ—वैज्ञानिकोंका कहना है कि जो व्यक्ति देख रहा है, उस व्यक्तिके जैसे विचार होंगे, विकार होंगे, उसका परिणाम microscope के नीचे रखे हुए पत्ते पर होता है—if you keep even a leaf of flower—वे कांपने लगते हैं। व्यक्ति क्रोधी हो—तो उसकी आँखमेंसे जो क्रोधके स्पंदन पहुँचते हैं दृष्टिमें, उसके श्वासोच्छ्वासमेंसे;—वह कांपने लगता है अपनी जगह। इस व्यक्तिकी आँखके बदले microscope के साथ आप computor machine जोड़ दीजिये। तो, उसके जो पत्ते के vibrations हैं—स्पंदन हैं—वे अलग होंगे। इतना हमारे देखने का वस्तु पर परिणाम होता है। तो जहां हम देखने गये, वहां हमारे विकार और विचार उस पर थोपने गये। और वह कांपने लगा। उसका जो यथार्थ स्वरूप है—उसकी जो वास्तविकता है—वह दिख ही नहीं सकती है—क्योंकि निर्हेतुक, निर्विकार, निर्विचार दृष्टि नहीं है। यह पहले तो समझ में आना चाहिये न! निर्विकारता और निर्विचारता का महत्त्व क्या है? महत्त्व इसलिये है कि फिर आपके द्वारा किसी पर आक्रमण नहीं होगा। हिंसा नहीं होगी आप से। निर्विकारता और निर्विचारता ही अहिंसा है। जब तक विचार है तब तक हिंसा है। जब तक विकार है तब तक हिंसा है। क्योंकि ऐसे विकार में और विचार में व्यक्ति के श्वासोच्छ्वास, उसकी उपस्थिति, उसका हलन-चलन सभी का परिणाम होता है। यह चिंतन करके, यह समझ करके, जब चलने लगेंगे तो ऐसे क्षण

आयेंगे कि २४ घंटे में आधा घंटा, एक घंटा आप बैठेंगे तो, आप बुद्धि और मनको बिना उपयोग में लाये देख सकेंगे। लेकिन यह यदि समझे नहीं हैं और फिर शरीरको स्वस्थ बैठा करके, आंख बंद करके, बैठे हैं—कुछ नहीं होगा। The prerequisite of every step is the understanding of that step.

स्मृति, भूतकालकी,—उसके साथ हम क्यों खेलते हैं ? और भविष्यके सपने हम क्यों देखते हैं ? इसको समझना होगा। यानी मेरे मनमें स्मृति नहीं आनी चाहिये—मेरे मनमें भविष्यके सपने नहीं आने चाहिये—ऐसा उनका निषेध करके उनको हटाया नहीं जा सकता। लेकिन वहाँ मन क्यों दौड़ता है ? भविष्य भी उपस्थित नहीं है, भूतकाल भी उपस्थित नहीं है। फिर मेरा मन वर्तमानको देखनेके बदले भूतकाल या भविष्यकालकी ओर जाता क्यों है ? बच्चा जब खेलता है—खेलते समय उसको खाने पीनेकी याद नहीं। माँ बुलाती है दस बार—"बेटा, चल खाने, चल खाने। "आता हूँ, आता हूँ।" खेलसे प्रेम है न! सिनेमा देखनेके लिये आजकलके लड़कोंको, लड़कियोंको भेजिये। खूब Suspense का खेल है, ऐसे tensions हैं! भेजिये उनको! वहाँ उनको कुछ नहीं याद आयेगा। और school की किताब उनके हाथमें दे दीजिये। फिर तो भूतकाल की स्मृति भी और भविष्यकालके सपने भी—brooding over the past and dreaming over the future! किताब दे दीजिये हाथ में कि शुरु। क्योंकि किताब से प्रेम नहीं है। यदि एक दूसरे से प्रेम करनेवाले यानी एक दूसरे से प्रेम जिनको है—ऐसे व्यक्ति बैठेंगे तो भूतकाल को और भविष्यकाल को वहाँ प्रवेश नहीं है। फिर हमारे जीवन में इनको प्रवेश मिलता है इसका

मतलब है—वर्तमान से हमें प्रेम नहीं है। वर्तमान में हमें आनन्द नहीं है—इसलिये पलायन करते हैं, कभी भूतकाल की गुफा में और कभी भविष्यकाल की। जिसको वर्तमान में आनन्द आता है, उसका मन तो जाता ही नहीं न! उपन्यास दे दीजिये—नवलकथा, दे दीजिये किसी को पढ़ने के लिये। रातभर बैठकर पढ़ जायेंगे। शुरू किया है तो खत्म करेंगे ही।

उसे खत्म किये बिना सोयेंगे नहीं। उस समय फिर दूसरे दिन कहेंगे कि थकान नहीं आई है मुझे। क्योंकि उसके पसंदकी किताब थी न! और वही, परीक्षा है दूसरे दिन और paper करना है। फिर पढ़ना है तो चार बार माँके पास चाय-कॉफी माँगेगा—ऐसा बोझ हो गया है। जिसको जीवनसे और जीनेसे प्रेम है, उसकी कुरूपता, कदरूपता, सुंदरता—उसके सुख, उसके दुःख, उसकी तीक्ष्णता, उसकी कोमलता;—जीवनकी समग्रतामें जिसको जीवनसे प्रेम है वह भूतकालमें जायेगा नहीं और भविष्यमें आश्रय खोजता नहीं है। वह वर्तमानके प्रत्येक क्षणकी मुट्ठीमें जो प्रभुका संदेश है, उसको देख-देखकर खुश रहता है। तो पहली चीज़ मैंने आपको बताई और दूसरी यह चीज़ बतलाती हूँ कि देखना चाहिये कि जीवनसे हमें प्रेम है या नहीं। यह जो जीवन मिला है,—या तो जन्म हुआ ही है, मरते नहीं है—तो चले जा रहे हैं जीते-जीते,—वह जीना नहीं है। मरते नहीं हैं, इसलिए शरीरको घसीटते चल रहे हैं—प्राण जाने के बाद चार लोग कंधे पर उठाकर ले जाते हैं और हम दो पाँव पर उसको घसीटते हैं। यह शवयात्रा है—यह शिवयात्रा नहीं है। तो सोचने का, देखने का सवाल यह है—Do WE LOVE LIFE? जीवन से मुहब्बत है या नहीं? जीवन से प्रेम है या नहीं? यह जीवन

क्या है? और यदि जीवन की समग्रता से प्रेम नहीं है, और मैं चाहूँगा वैसा जीवन मुझे मिलना चाहिये—मुझे पसंद है ऐसे मित्र मिलने चाहिये, मैं खुश रह सकता हूँ ऐसी परिस्थिति बनानी चाहिये, 'मैं, मैं चाहता हूँ' ऐसा - यानी जीवन का dictator यदि मैं बन जाता हूँ। तब तो, ऐसा व्यक्ति जो है—वह क्या करेगा? जीवनकी समग्रताको छोड़कर उसके किसी अंशको पकड़ लेगा। सुन्दरताका प्रेम, सौंदर्यका प्रेम यानी कदरूपतासे नफरत और घृणा यदि है—तो उसके जैसा अरसिक व्यक्ति नहीं। मुझे जो पसन्द है, मेरी जो choice—पसंदगी—है, मेरी पसन्दगीकी वस्तुयें, मेरी पसन्दगी के व्यक्ति, मेरी पसन्दगी का वातावरण—यह खोजनेवाले जो हैं—वे जीवनके प्रेमी तो नहीं है—वे जीवनका अनादर करते हैं। सामने जो आया, उसका अर्थ समझकर जीना।

तो, जीवनसे एक बार प्रेम हो जाय, ऐसे व्यक्तिको फिर पलायनकी आवश्यकता नहीं रहेगी। लेकिन किसको प्रेम है जीवन से! और जीवन ही प्रभु है। जीवन से बाहर कहीं प्रभु नहीं है। सुन्दरता में यदि प्रभु की आँखों की झलक है, तो कदरूपता में भी प्रभु का निःश्वास है। जिसको आप सज्जन कहते हैं उसके सौजन्य में यदि प्रभु की उपस्थितिका सौरभ है—तो जिसको दुर्जन कहते है उसमें भी कन्दर्प की बू भरी हुई है।

[इसके बाद का कुछ अंश 'टेप' में नहीं आया।]

(२)

दिनांक २१-१-६८

(क) प्रातःकाल। संवाद।

आँख है, रूप का भोग कर लिया। श्रुति है, श्रुति से नाद का भोग किया; घ्राण है, गंध का भोग किया। गुजराती भाषा में भोग शब्द का अर्थ नितान्त भिन्न है। उपभोग के अर्थ में हिन्दी भाषा में भोग शब्द का प्रयोग होता है। तो आप लोग, जब भोग शब्द का प्रयोग होगा, तो उसका हिन्दी में जो आशय है, connotation है—उतना ध्यान में रखें।

तो यह मान लिया कि मन से और बुद्धि से, जो इंद्रियों के अतीत सृष्टि है, उसका उपभोग करना अध्यात्म है। Passion for the transcendental experiences is not spirituality. अतीन्द्रिय अनुभूतियों की आकांक्षा और अभिलाषा अध्यात्म नहीं है।

यह समझने की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि अध्यात्म के नाम पर उन अनुभूतियों के पीछे आदमी दौड़ता रहता है। यानी इन्द्रियों के प्राकृत जीवन से ऊपर उठ कर वह अतीन्द्रिय सृष्टि में अपने अहंकार को लेकर विचरण करता है। घूमता रहता है अनुभूतियों की खोज में।

आप देखेंगे। थोड़ी भी रुचि जिनकी सत्य की ओर हो गई है; थोड़ी भी रुचि आत्मा की ओर हो गई है; ऐसे सत्याभिमुख और आत्माभिमुख लोग अतीन्द्रिय सृष्टि में खो जाते हैं। यानी इन्द्रियों के उपभोग करते हैं, उनका नशा तो क्षणिक है। इसलिये उस नशे से मुक्त होना कठिन नहीं। लेकिन अतीन्द्रिय सृष्टि में

४

जो अनुभूतियाँ आती हैं, उनका नशा काफ़ी देर तक चलता रहता है। और उस नशे में झूमनेवाले, उस मस्ती में फँसनेवाले कितने ही साधक नज़र आते हैं। तो जहाँ तक अनुभूति की संभावना है, अनुभव लेनेवाला मौजूद है, उपस्थित है—समझ लेना कि वह प्रदेश अध्यात्म का नहीं है।

कल कहा गया था कि धर्म के क्षेत्र में मानसिक क्रिया के लिये अवकाश है, अध्यात्म में समस्त मानसिक क्रियाओं के शांत होने की आवश्यकता है। लेकिन लोग कहते हैं—"मैं ध्यान करने बैठा, और मुझे नाद सुनाई दिया।" तुमने ख़ाक ध्यान किया भाई! "मैं ध्यान करने बैठा, और मुझे कृष्ण की मूर्ति दिखी। ईसा दिखे। बुद्ध का साक्षात्कार हुआ।" अरे, मन का खेल था रे।

रूप है, आकार है, नाद है, गंध है—इनकी अनुभूतियाँ तूने अतीन्द्रिय क्षेत्र में कीं।

कल जैसा कहा गया था प्रारम्भ में—ये सभायें प्रतिपादन की सभायें नहीं हैं। आत्म-साक्षात्कार, आत्मरति, प्रतिपादन का विषय नहीं है। इसमें संवाद हो सकता है। लेकिन प्रतिपादन नहीं। प्रतिपादन बुद्धि की मदद से, तर्क के सहारे, भूतकाल में घटित घटनाओं के आधार पर हो सकता है। लेकिन फिर आपने आत्मा को और आत्मदशा को भी बुद्धि का विषय बना लिया—जो वह है ही नहीं। इसलिये जो यहाँ कहा जायगा--या कहा जा रहा है--उसे प्रतिपादन के अर्थ में मत लीजियेगा। इसीलिये कल रात को शंकराचार्य के या पतंजलि के प्रश्न उपस्थित होने पर कहा गया कि इस प्रकार की चर्चा यहाँ नहीं होगी। यहाँ किसी विषय का प्रतिपादन करके किसी के परिवर्तन की अभिसंधि रखकर हम नहीं आये हैं।

तो सब से बहुत विनम्र अनुरोध है कि वे इस भ्रम को हटा दें कि अध्यात्म में मानसिक कर्म के लिये अवकाश है; कुछ प्राप्त करने का है, कुछ अनुभव करने का है। आत्मसाक्षात्कार प्राप्त नहीं करना पड़ता। आत्मा का अनुभव करना नही पड़ता है। अनुभव करना, अनुभूति को प्राप्त करना—यह सब मन के स्तर पर खेलना हुआ। It is a mental activity. ऐंद्रिय अनुभूति हो या इन्द्रियातीत अनुभूति करते हों; जहाँ तक अनुभूति है, वहाँ अनुभूति करनेवाला, अनुभव लेनेवाला अहंकार उपस्थित है। उसने स्थूल विषयों को हटा दिया और सूक्ष्म अव्यक्त सृष्टि को उपभोग का विषय बना लिया। आप यह न समझें कि जितना व्यक्त है और इन्द्रियगोचर है उतना ही जगत् है। यह न समझें। यह व्यक्त की छायामात्र है। तो व्यक्त सष्टि से हट कर जब अव्यक्त में प्रवेश करते हैं, तो अनन्त प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। लेकिन उन अनुभूतियों का आत्मसाक्षात्कार से, निर्वाण से, मुक्ति से, आत्मदशा से, साक्षित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। साक्षित्व में अनुभव कौन करेगा? कर्तृत्व की भावना न हो, और कर्ता उपस्थित न हो तो,—भोक्ता उपस्थित न हो तो,—अनुभव कौन करेगा?

लेकिन इस देश में लोग समझते हैं कि जिनको कुछ अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ होती हैं—वे लोग आध्यात्मिक हैं। हम लोग अपनी शक्तियों का विकास नहीं करते हैं। और कुछ लोग उन शक्तियों का विकास कर लेते हैं। यहाँ बैठे-बैठे देहली में क्या हो रहा, लंदन में क्या हो रहा है, देख लिया—clair-voyance। सुन लिया कलकत्ता में क्या होता है—clair-audience। अब ये दूरश्रवण और दूरदर्शन जो हैं इनसे ही लोग समझते हैं—ओहो! बड़ा पहुँचा हुआ पुरुष है! यहाँ बैठे-बैठे कलकत्ते का हाल देख लिया! उसको कृष्ण का सगुण साक्षात्कार हुआ।

बहुत पहुँचा हुआ है। उसने भगवान् महावीर के दर्शन किये हैं! गौतम बुद्ध के दर्शन किये हैं! भाई, किये होंगे। सिनेमा के नट-नटियों को देखने के बदले उनको देखना—यह तो अच्छा, सात्त्विक विषय हुआ। लेकिन वह अध्यात्म नहीं है। आत्मा के क्षेत्र में अनुभूति को अवकाश नहीं। आत्मा के क्षेत्र में कुछ प्राप्तव्य नहीं। कुछ कर्तव्य नहीं। यह बोध जब तक स्पष्ट नहीं होगा, साधना शुरू ही नहीं होती है। क्योंकि कदम ग़लत रास्ते पर पड़ते हैं।

और फिर मुझे अनुभव हुआ,—नाद का, रूप का, गंध का ; दूसरेको नहीं हुआ—तो अहंकार जो पुष्ट होता जाता है—पुष्ट होता जाता है!

घोर संसार में फंसे हुए कम से कम इतना तो जानते हैं कि हम फंसे हैं। अतीन्द्रिय अनुभूतियों में अटके हुए लोग यह भी नहीं जानते हैं कि हम फंसे हुए हैं। तो फिर उनका जो अहं-पवित्रवाद है—Self-righteousness—Obsession of self-righteousness—बढ़ता जाता है। उनकी जिन अचेतन मन की शक्तियों का उन्होंने विकास किया है उन शक्तियों के सहारे दूसरे अज्ञानी लोगों का शोषण करते हैं और अध्यात्म एक व्यवसाय बन जाता है। Professional spiritualists। कोई पैसे के सहारे शोषण करता है। कोई सत्ता के सहारे शोषण करता है। कोई विद्वत्ता के सहारे शोषण करता है और इस देश में अतीन्द्रिय अनुभूतियों के आधार पर शोषण करने वालों का भी एक वर्ग खड़ा हो गया है, एक जमात खड़ी हो गई है।

सत्याभिमुख और आत्माभिमुख लोगों को जमात से सावधान रहने की बहुत आवश्यकता है। लेकिन क्या करें! हम इतने

लालची लोग हैं, इतने लोभी लोग हैं कि हमने यही मान लिया है कि 'हम आत्मा का अनुभव प्राप्त करें'। "आप को कुछ अनुभव हुआ ?"—लोग पूछते हैं। यानी अनुभव का होना ही 'पुरावा' (—आप गुजराती में, पुरावा कहते हैं—) सबूत—हो गया !

तो आज के प्रातःकाल पहला निवेदन यह है कि अध्यात्म मानसिक कर्म का विषय नहीं है—इसको साफ़ समझ लें।

धार्मिक कर्मों में, कृत्यों में, आप पूजा करते हैं। चंदन लेंगे, पुष्प लेंगे, पूजा करेंगे ; कीजिये ! उपासना में माला चढ़ायेंगे, चरण छूयेंगे। वह उपासना है। और आप जानते हैं कि अध्यास के बिना उपासना होती नहीं है। किसी पर आरोप करना। तो निर्गुण निराकार पर सगुण साकार का हम आरोप करते हैं, उपासना के लिये मूर्तियों का निर्माण करते हैं—वह भी एक तरीक़ा है। लेकिन उपासना अध्यात्म नहीं है। 'चित्तशुद्ध्यर्थं कर्माणि'। कर्म का प्रयोजन चित्तशुद्धि है। फिर वह होम-हवन करते हैं, मंदिर में जाकर पूजा करते हैं या जप करते हैं—जप भी कर्म है न,—; 'चित्तशुद्ध्यर्थं कर्माणि' यानी जो भी मानसिक कर्म हैं, उसका प्रयोजन सिवा चित्तशुद्धि के और कुछ नहीं। और चित्तशुद्धि यानी ? चित्त में उठनेवाली वृत्तियों की शुद्धि। जितनी वृत्तियाँ चित्त में उठती हैं, उनका परिमार्जन उपासना के द्वारा हो सकता है। लेकिन भावनाओं का परिमार्जन अध्यात्म नहीं है। विचारों की परिष्कृति अध्यात्म नहीं है। वहां तो निर्विचार की अवस्था है। वहां तो निर्विकार की अवस्था है। वहां तो भावनाएं शांत हो जाने पर महाभाव का उद्भव है।

इसलिये अध्यात्म को मानसिक कर्म का विषय न समझें। यह सौ बार दुहराने की इच्छा होती है। नहीं तो लोग कहेंगे—

ध्यान कैसे करते हैं ? अरे भाई, ध्यान भी करने का विषय हो जाय, तब तो मुसीबत का कोई पार नहीं। पूजा की जा सकती है, ध्यान किया कैसे जाय ! प्रार्थना की जा सकती है। जहां तक वाणी का व्यापार और मन का व्यापार चल सकता है, इन्द्रियों का व्यापार चल सकता है, वहां तक कर्म है। जहां यह कहा जा रहा है कि मन के द्वारा आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती, वहां फिर पूछते हैं, 'ध्यान कैसे करें ! ध्यान कैसे करें ! और फिर ध्यान की प्रक्रिया क्या होगी ! और ध्यान की प्रक्रिया हम सिखाते हैं या आप हमको सिखाइये !' ये सब जो अनुचित, ग़लत प्रश्न हैं—वे सब उपस्थित क्यों होते हैं ? क्यों कि अधिष्ठान में एक भ्रम है, एक ग़लत धारणा है कि मानसिक कर्म के द्वारा आत्मा की उपलब्धि हो सकती है।

बहुत विनम्रता से इस तथ्य को ग्रहण करना चाहिये कि जिस मन के द्वारा हम जीते हैं; तन में रहते हुए, मन के द्वारा हम जीते हैं। The via-media of existence for us is mental action. हमको अभी तक जो मनसे परे जीवन है, इस जीवन का परिचय नहीं है। इसलिये हम जी रहे हैं सुबह से रात तक मनके द्वारा। मनके माध्यम से। और इस माध्यम के द्वारा हम आत्मा को उपलब्ध करना चाहते हैं। वह नहीं होगा, वह नहीं होगा, वह नहीं होगा।

अतीन्द्रिय सृष्टि में क्या-क्या घटित होता है और अतीन्द्रिय क्षेत्र की अनुभूतियां कितनी मधुर होती हैं, कितनी मादक होती हैं, इसका वर्णन तो बड़ा रोचक लगेगा, आप लोगों को। मैं उसका वर्णन करने लगूं तो, बड़ा मधुर भी लगेगा, लेकिन उस वर्णन में समय का अपव्यय करना—मैं समझती हूँ कि—कोई आवश्यक नहीं। बम्बई जा रहे हैं। आप सावधान हैं। मनका

कानके साथ और आंख के साथ संबंध बना है, मन उपस्थित है कान में, आंख में, नाक में, तो अहमदाबाद से बम्बई तक की यात्रा में दोनों तरफ़ जो दिखेगा, वो आपकी आँख देखेगी। जो शब्द सुनाई पड़ेंगे, कान सुनेगा। लेकिन बम्बई जाते हुए आप दोनों तरफ़ के दृश्यों में खो नहीं जायेंगे कि यह दृश्य अच्छा है, इसलिये अब यहां उतर जाओ! आप कहेंगे, नहीं, जाना तो बम्बई है। तो दृश्यों को देखेंगे। इस प्रकार जो बहिर्मुख दृष्टि को अंतर्मुख बनाते हैं, और अन्तर्यात्रा पर चल पड़ते हैं उन्हें अतीन्द्रिय सृष्टि में से होकर गुज़रना पड़ता है; तो वे अनुभूतियाँ आयेंगी। लेकिन वहां रुकना नहीं है। वहां फँसना नहीं है। और भूल से उनको आत्माकी अनुभूति समझना नहीं है।

तो फिर क्या करना है? करना यह है कि मानसिक क्रियाओं को शान्त होने का अवसर देना चाहिये। यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। मानसिक क्रियाओं को शांत होने का अवसर देना—परम पुरुषार्थ है। साहस इसमें बहुत आवश्यक है। लोगों ने सोचा, कि अच्छा, मनसे नहीं मिलता है, तो हम मनसे लड़ेंगे--हम मन से संघर्ष करेंगे। मन को हम दबायेंगे। मनको कुचलेंगे! मन में उठने वाले विचारों को और विकारों को हम यम-नियमों के द्वारा दबा देंगे।

सदियाँ बीत गईं। शायद सहस्त्रावधि वर्ष पश्चिम में और पूरब में हो गये हैं। मानव लड़ता रहा, मनसे। मनको न कोई मार सका है, न कोई जीत सका है। और जिन्होंने मनको मार डाला, उनके व्यक्तित्व में कुंठा उत्पन्न हो गई,—कुंठित—क्षतविक्षत जीवन हो गया।

तो क्या करें? मन के द्वारा यदि होता नहीं है तो मनके साथ क्या करें? तो कृपा करके, मनको शत्रु न समझें। मानसिक

विकार या विचार संघर्ष करने की वस्तु नहीं है। संघर्ष करने लगेंगे तो होता क्या है? आप जरा थोड़ा ध्यान दें कि शतकानुशतक, आदि मानव से लेकर आज तक आपके मन में और बुद्धि में जो संस्कार भर दिये गये हैं—computer में, electronic-brain में you feed in the information. In the same way, conditionings have been fed in the human brain, ये सारे के सारे मस्तिष्क में भरे हुए संस्कार—इनका अपना एक momentum, इनकी अपनी एक गति है। तो आप चेतन मनके सहारे अचेतन के साथ लड़ने लगेंगे। यानी बुद्धि की मदद से अचेतन मनके साथ आप लड़ने लगेंगे, जिस क्षण आप मनको शत्रु समझेंगे, उस क्षण आप संघर्ष में उतरेंगे। और आपके पक्ष में कौन है? आपकी बुद्धि है। उसकी विचार करने की जो शक्ति है वह। और उधर? उधर है जन्मजन्मान्तर, यानी मानव के जन्म-जन्मान्तर कह रही हूँ आप लोग अपने को भले ही समझ लें कि मैं एक व्यक्ति हूँ। आप और हम कुछ नहीं हैं। वैश्विक चेतना की उत्क्रान्ति में कड़ियाँ हैं। न इस शरीर में हमारा अपना कुछ है, न मन और बुद्धि में कुछ अपना है। जो transmit होता हुआ आया है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जो हम लोगों को दिया गया है, उसका पुंज मात्र है।

तो आप अपने अहंकार और बुद्धि की मदद से अचेतन में पड़े हुए संस्कारपुंज के साथ, संस्कार-भण्डार के साथ संस्कार-केन्द्र के साथ अब लड़ने पर उतर गये। और देखा होगा कि उन विकारों को, उन विचारों को दबाने वाले एक क्षेत्र में दबाते हैं, तो दूसरे क्षेत्र में विकार दूसरे रूप से खड़ा हो जाता है काम को दबाने गये तो क्रोध के रूप में काम ही ऊपर उठा। क्रोध को दबाने गये तो अहंकार के रूप में क्रोध ही धधक उठा। इसलिये आपने देखा होगा कि अध्यात्म के नाम पर

साधना करने वाले साधकों में, ब्रह्मचारियों में, संन्यासियों में, मठों में बैठने वाले, मंदिरों में बैठनेवाले महन्तों में, मुनियों में, अहंकार का दर्प इतना आता है,—कि उनके श्वास से हम झुलस जाते हैं। उनके पास बैठने पर श्वासोच्छ्वास से झुलस जाते हैं। अन्तरंग झुलस जाता है। क्योंकि उन्होंने कहीं-न-कहीं संघर्ष करके, किसी न किसी तत्त्व को अपने भीतर दबाने का, निग्रह से, आत्म पीड़न से, प्रयत्न किया। वहाँ दब गया, दूसरे रूप में फूट पड़ा। फिर घर और गृहस्थी नहीं, तो मठ और मंदिर, और आश्रम और संस्था और केन्द्र······। अहंकार बड़ा चतुर है मेरे भाइयो। बड़ा चतुर, बड़ा कुशल। वह अपने लिये क्षेत्र बना लेगा। विवाह नहीं करते हैं और घर नहीं बसाते हैं तो चलो, मैं तुमसे आश्रम बनवा लूं। And the sense of belonging—someone belongs to me and I belong to them—मेरे भी कोई है और मैं भी किसी का हूं! मेरी विचार-पद्धति और जीवन-पद्धति के अनुसार चलने वाले मैंने तैय्यार किये। किसी ने तनुज तैय्यार किये, किसी ने आत्मज तैय्यार किये। लेकिन अहंकार तो बैठा ही है। 'इतने लोगों का परिवर्तन किया'। ओ हो हो हो। अहंकार को दूसरों के साथ लड़ने के लिये और विजय प्राप्त करने के लिये स्थूल क्षेत्र से हट कर सूक्ष्म का क्षेत्र मिल गया। Gratification of ego whether it is in the sensual world or in the transcendental world is not spirituality at all.

तो मन के साथ लड़ा नहीं जाता। मनके साथ लड़ेंगे, संघर्ष करेंगे तो अहंकार कोई न कोई क्षेत्र ऐसा खड़ा कर देगा जहां वह विकार और विचार आकर अपना राज्य फिर से स्थापित करे। ऐसा न होता, मित्रो, तो संप्रदाय नहीं बनते। और संप्रदायों की

स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा नहीं चलती। धर्म को institutionalised [संस्थागत] करने वालों ने पाप किया होगा तो अध्यात्म को संस्था का रूप देनेवाले महापाप करते हैं। Organising and institutionalising spirituality is a crime which cannot be wiped; there is no Ganges with which you can wipe that crime, that sin.

[अनुवाद :—अध्यात्म को संगठन का, संस्था का रूप देना ऐसा अपराध है जो कभी धुल नहीं सकता। ऐसी कोई गंगा नहीं है जो उस अपराध को, पाप को धो सके।]

तो निवेदन यह था कि मन से लड़ा नहीं जाता है। आपने देखा है—जितने व्रत करने वाले, नियम करने वाले लोग हैं उनको ज़रा, अगर आप कह सकें तो कहें कि अपने आपको ज़रा बारीकी से देखें, सूक्ष्मता से देखें। उनका अहंकार क्या-क्या उनके साथ करता है यह देखें। मैंने ब्रह्मचर्य धारण किया, मैंने संन्यास धारण किया। मैंने त्याग किया है। मैंने बाधा ली है। और वह त्याग करने का जो कर्म है—उसी का अहंकार। 'येन त्यजसि तत् त्यज' इसलिये जिस मनके द्वारा तू त्याग करता है रे, उस मनको ही तू छोड़ डाल। तो, मनके साथ लड़ने से आप मनके स्तर पर ही रहेंगे। यानी अचेतन मन की कर्म-परंपरा एक प्रकार की और चेतन मन की कर्म-परंपरा संघर्ष के लिये दूसरे प्रकार की। अब व्यक्तित्व छिन्नविच्छिन्न होकर बंट गया, दो हिस्सों में। एक—The momentum of the unconscious, और दूसरा momentum of the conscious mind. तो अचेतन मन की, संस्कारों की जो गति है—उस गति को रोकने के लिये, तोड़ने के लिये, मोड़ने के लिये आपने चेतन मन में एक artificial—एक कृत्रिम गति निर्माण की। संकल्प, प्रतिज्ञा, व्रत

नियम, यम—सब निर्माण किये। यह जो चेतन मन के स्तर पर निर्माण होता है इसको कहा जाता है—आदर्श और ध्येय। अचेतन मन में जो पड़ा हुआ है वह तथ्य है आपके जीवन का। और यह जो नया निर्माण किया है, नयी गति, नया उन्माद, नया आवेश, नया अभिनिवेश—वह है आदर्श का। फिर आदर्शों के सहारे तथ्य से लड़ने जाते हैं। और जीवन भर संघर्ष चलता रहता है। ऐसे संघर्ष में जी नहीं पाते हैं, तनाव को लेकर, यानी पूरे व्यक्तित्व में एक प्रकार का तनाव आ जाता है। तो तनाव को लेकर जीने वाले जी नहीं पाते, क्योंकि जीवन सहजता में है। प्रयास में नहीं।

जीवन सहज है जी, जीवन सरल है। और प्रयास जटिलता को लाता है, complexity को लाता है। इसलिये कहा कि मन से लड़ना नहीं है। फिर मन के साथ क्या करना है, भाई? उसको जीतना नहीं है, उससे लड़ना नहीं है। और उसके द्वारा आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है तो क्या करना है?

'करना' यह है कि पहले यह जो मन है उसके साथ परिचय प्राप्त करना है। अभी तक आपका जो मनके साथ परिचय है वह ग्रंथों के द्वारा है। पुस्तकों में पढ़ा है, साधुओं से सुना है—इसलिये आपने मान लिया मन है और मन में उठने वाली जो वृत्तियां हैं उनकी जानकारी संगृहीत करके रखी है। मन को कभी देखा है आपने? आपके पास है फुर्सत मनको देखने की?

मन में विषाद उठा। विषाद की वृत्ति उठी। यानी मन ही विषादाकार हो गया। तो यह विषाद क्या वस्तु है? कभी अपने मन से पूछा—हे मेरे मित्र, यह क्रोध क्या वस्तु है? यह क्यों उठा भाई? कभी देखा है कि यह क्रोध उठा तो उठा कहाँ से और सारा चित्त क्रोधाकार कैसे हो गया? और फिर इस क्रोध के

उठते ही मेरे सारे शरीर पर bio-chemical परिणाम क्या-क्या हो गये, उष्णता कैसे बढ़ी, आंखें कैसे लाल हुईं, नसों में तनाव कैसे आया, वाणी का संयम कैसे छूटा,—ओ हो हो हो, पल भर में, temporary insanity (अस्थायी पागलपन) पर आ गया।

कभी देखा है ? दिन में दस बार क्रोध आता होगा। लेकिन मन से कभी आपने नहीं पूछा होगा कि भैया, हे मेरे मित्र, हे मेरे प्यारे, मेरे सखा, यह क्या हो गया तुझे ? कभी मनके लिये करुणा आयी आपके मन में ? कभी अपने मन से मैत्री की आपने ? प्रेम किया है अपने मन से ?

बेचारे के बारे में ग्रंथों में पढ़ा सुना, लेकिन उसको देखा नहीं कभी, दर्पण में तन को खूब देखते हो। कभी ध्यान के दर्पण में मन को भी देखा ? वह फुर्सत नहीं है।

"तो हमको क्या, क्रोध आयेगा तो वहां उसी क्षण हम रुक जायेंगे ? और मनके क्रोध को देखेंगे ? हमको तो काम करना है।" करो भाई ! किये जाओ, किये जाओ ! और जीने के नाम पर अपने शव को ढोये जाओ, ढोये जाओ !

यह जीवन नहीं है। तो पहले मनसे परिचय कर लेना चाहिये। कभी किया है ? कि सोते हैं तो यह मन शांत क्यों नहीं रहता ? यह सपने क्यों दिखाता है ? यह क्यों काम करता है ? यह स्वप्न क्या चीज़ है ? स्वप्न कहां से आता है ? कभी घड़ी भर शांति से बैठे हैं ? और आपने देखा कि मन में क्या-क्या उठता है ? एक विचार उठा, दूसरा विचार उठा, तीसरा उठा। उनका duration (अवधि) क्या है ? उनकी frequency (आवृत्ति) क्या है ? Objects of thought (विषय) क्या हैं ? कभी पूछा ?—देखा ?

शरीर को सजाने के लिये सबके पास समय है। शरीर को खिलाने-पिलाने के लिये तो दुनिया की सारी कोशिशें हैं। लेकिन आपके जीवन में सबसे उपेक्षित कोई तत्त्व है तो आपका मन है। और बिना सोचे-समझे, बिना उसको देखे, उस ग़रीब के साथ सब लड़ने पर उतरते हैं धर्म और अध्यात्म के नाम पर। इतना बेक़सूर, इतना बेगुनाह, ऐसा मासूम, ऐसा निरीह मन है—मैं उसी से लड़ने लगा। बेज़ुबां जो है। चाहे जितनी शिकायत करो, प्रतिवाद तो कर नहीं पायेगा।

इसलिये पहले उससे परिचय प्राप्त करना चाहिये। कितने स्तरों पर मन एक साथ काम करता है? सुबह से रात तक जो आप जीते हैं तो चेतन स्तर पर क्या होता है और उसी समय अचेतन स्तर पर क्या होता है—उनमें विसंवाद है, विसंगति है, विरोध है, कि संगति है, समन्वय है, सामंजस्य है? देखना चाहिये।

पहले देखो तो सही। मन में कोई वृत्ति उठी कि उस वृत्ति को सुना हुआ नाम देकर उसकी निन्दा न करो या प्रशंसा न करो।

हाँ, तो मैं कह रही हूं कि चित्त में उठने वाली वृत्तियों को, बिना उनकी प्रशंसा किये और बिना उनकी निन्दा किये, ज़रा देखो तो सही। ये जो स्पंदन उठते हैं। आख़िर चित्त में वृत्ति का उठना ही हमारे निःस्पंद आत्मा में स्पंदन का उठना है। तो ये जो स्पंदन, ये जो vibration उठते हैं, इनको देखना है। तो यह मनसे परिचय पाने का मतलब क्या है? Psychology की किताब उठा करके chapters on mind and I-consciousness पढ़ना, यह परिचय नहीं है। फिर वो 'जैन-बुद्धिस्ट क्या कहता है मनके ऊपर,' और 'पतंजलिका

योगशास्त्र, मन के बारे में क्या कहता है' ! और 'चित्तवृत्तिनिरोध किस प्रकार बतलाया गया है'—तो psychology की किताबें पढ़ना मन का परिचय पाना नहीं है। मन जब गतिमान है— In the very movement of mind, observe it, मन की जब गति चलती है दिन भर में, उस गति में उसको देखो।

इसलिये ध्यान कभी चौबीस घंटे में आधा घंटा बैठकर करने की क्रिया नहीं है, ध्यान तो एक जीवन के प्रति दृष्टिकोण और अवस्था है, दर्शक की, द्रष्टा की। साक्षित्व की, द्रष्टा की, अवस्था में रहना ध्यानावस्था है। घड़ी, आधी घड़ी, कमरा बंद करके, कुछ अतीन्द्रिय अनुभूतियों का आस्वाद लेना ध्यान करना नहीं है। ध्यान एक अवस्था है जी ! ध्यान एक दशा है। जिस दशा में प्रवेश होने के बाद निवृत्ति नहीं है। बच्चा है, जवान हो गया। अब आप कहेंगे, फिर से बच्चा हो जाओ। तुम बालक थे, और बालक से युवावस्था में आ गये हो, अब बालावस्था में वापस चले जाओ। युवावस्था से कोई निवृत्ति है ? युवावस्था में से निवृत्ति नहीं है—क्योंकि बालक से जब युवक बना, it was total growth, (समग्रता को लेकर बढ़ती हुई थी) इसी प्रकार ध्यानावस्था समस्त व्यक्तित्व का विकास है, परिपाक है। It is a kind of maturity into which you grow. फिर, ध्यान का लगना और छूटना और ये सब जो शब्द-प्रयोग हैं, असम्बद्ध हो जाते हैं। They are irrelevant to the state of meditation. Meditation is not an action. It is the state of total being. समस्त व्यक्तित्व की एक अवस्था का नाम, एक दशा का नाम ध्यान है, वह कोई क्रिया नहीं है।

तो मैं कह रही थी कि प्रारंभ करना है तो मन का परिचय पा लेना चाहिये और सुबह से रात तक फिर आपको सावधान

रहना पड़ेगा कि यह मन करता क्या है ? क्या करता है और कैसे करता है, इसको देखना है। प्रयोग करके आप देखिये। आप देखेंगे तो पता चलेगा कि जिस पल में क्रोध उठा, द्वेष उठा, ईर्ष्या उठी, किसी प्रकार की वृत्ति—अब मैं वृत्तियों के नाम ले रही हूँ, जो आपके परिचित हैं। असल में वृत्तियों में न क्रोध है, न द्वेष है, न ईर्ष्या है, लेकिन फिर भी वे नाम ले रही हूँ जो आपके परिचित हैं—तो उठी, ईर्ष्या। अब ईर्ष्या उठने के बाद आपने देखा कि ईर्ष्या उठ रही है। अवधान के आलोक में विकार को लाने के बाद विकार की आधी शक्ति खत्म हो जाती है। आप करके देखिये। लोग कहते हैं, हाँ, देखा। देखने से क्या होगा ? उनको पहले आगे का हिसाब चाहिये न! क्या होगा! और जब कहेंगे कि चार आने खर्च करने पर तुझे चार रुपये मिलेंगे तो हम करके देखेंगे। नहीं तो नहीं देखेंगे। अवधान के आलोक में विचार या विकार को लाने से उस विचार या विकार की जो शक्ति है, और गति है—वह आधी कम हो जाती है। घट जाती है। अनवधान के अंधकार में विकारों की पुष्टि है, अवधान के आलोक में उनका क्षय है।

तो पहले उनको देखना चाहिये। यह नहीं कि 'तुम बुरे हो, तुम हट जाओ यहाँ से।' यह मत कहिये। 'हट जाओ' कहने से वे अपने पाँव और जमाकर खड़े हो जायेंगे। 'तुम यहाँ से हट जाओ'—यह कहने से काम नहीं चलता है। ऐसा क्यों है ? आपके ध्यान में बात आयी ? क्योंकि 'तुम यहाँ से हट जाओ' कहने के लिये मन के एक हिस्से को लेकर मानसिक क्रिया कहनी पड़ती है। 'हट जाओ' कहना पड़ता है।

मैं न कहती हूँ कि उसका स्वीकार करो और न ही कहती हूँ कि उसका त्याग करो या निषेध करो। सिर्फ कहती हूँ कि देखो

तो सही। मन के साथ परिचय और मैत्री होने के लिए मन की क्रियाओं को पहले देखना चाहिये। झट first-hand discovery of every movement of the mind. फिर आप देखेंगे कि आपके मन में, आपको जो मालूम नहीं है ऐसी कितनी ही वासनायें, कितने ही विकार -- कितना ही ऐसा कूड़ा-कर्कट, कचरा भरा पड़ा है जिसको लेकर जी रहे हैं ? अभी हमको मालूम नहीं है। आपने और हमने अपनी एक प्रतिमा बना ली है Image बना ली है। 'हम अच्छे हैं ! हम सुसभ्य हैं ! हम भले हैं ! हम जानते हैं कि प्रेम क्या है !' with the help of wishful thinking, every human being has created an image of himself. तो अपना वास्तविक परिचय उसको है नहीं। शरीर का थोड़ा बहुत होगा। थोड़ा बहुत कहती हूँ। शरीर का परिचय रखनेवाले भी मैंने बहुत कम देखे हैं। लेकिन मन का परिचय रखनेवाले हजारों में एकाध।

मन को देखने से यदि ग्लानि हुई, तो समझ लेना कि अहंकार की चेष्टा है। आपकी जो प्रतिमा आपने बनाई वह टूट रही है— इसलिये ग्लानि और विषाद है। I am trying to discriminate introspection from observation. (मैं अन्तर्निरीक्षण की अवलोकन से भिन्नता स्पष्ट करने की कोशिश कर रही हूँ।)

हिन्दी भाषा में विषय को रखने का तो मेरा अभ्यास भी नहीं है और हिन्दी के शब्द लेने जाऊँ तो किस शब्द के साथ कौन-से संहचारी भाव जुड़े हुए होंगे—कौन-से सहचारी विचार अनिवार्य रूप से आपके मन में आयेंगे, इसका मुझे अंदाज़ नहीं आता है। इसलिये हिन्दी भाषा में बोलते समय भीतर ही भीतर कुछ झिझक-सी रहती है--जाने कहीं, जितना शब्द, जो चाहिये-- जिस वज़न का चाहिये – वह शब्द पड़ रहा है—या कुछ ज्यादा

भारी शब्द निकल रहा है या हल्का शब्द पड़ रहा है—मुझे मालूम नहीं। आखिर शब्द तो क्या, हीरा माणिक मोती हैं। तोल-तोल कर रखने पड़ते हैं।

हीरा परखे जौहरी,
शब्द को परखे साध।

हर शब्द का, आप जानते होंगे न,—हर शब्द का रूप है, हर शब्द का रंग है, हर शब्द का गंध है; हर शब्द का वज़न है। ऐसा मत समझिये कि शब्दों के रस, रूप और गंध नहीं हैं। तो यह शब्दों का विनिमय जो है—व्यापार है—यह कोई खेल तो है नहीं कि उठाये और फेंक दिये! तो बड़ा संकोच रहता है। क्योंकि इस व्यापार में हम कुशल नहीं हैं। शब्दों से परे जो निःशब्द की भाषा है वहाँ तो हम मछली जैसे तैर लेते हैं। लेकिन जहाँ शब्द की सृष्टि में उतरना पड़ता है, पल-पल में संकोच रहता है—पता नहीं, ठीक पड़ रहे हैं या ग़लत। बड़े डरते हैं इसमें।

तो मन के साथ मैत्री करने के लिये, परिचय पाने के लिये उसका निरीक्षण तथाकथित जागृति में—(जिसको आप लोग जागृति कहते हैं। दिन में १२ घंटे हम जाग रहे हैं—यही आप समझते हैं न?) और तथाकथित निद्रा में मन को देखना पहला क़दम है। मानसिक क्रियाओं के शांत होने का जो अवसर है—वह अवसर कैसे निर्माण करेंगे, वह मौक़ा कैसे बनायेंगे? इसलिये कह रही हूँ कि पहला क़दम है जागृति और निद्रा में मन को देखना।

मैंने कहा—'तथाकथित जागृति और तथाकथित निद्रा।' क्योंकि हमें न निद्रा लेना आता है, न जागृत रहना आता है। ये बिस्तर लगायेंगे और जाकर शरीर को लिटा देंगे इससे थोड़े

ही सोना होता है ! आँख बन्द कर लेने से निद्रा लेना नहीं होता है। भाग्यशाली ऐसे कौन होंगे, जो निर्दोष और निःस्वप्न निद्रा ले सकते होंगे। रात के आठ घंटे में से छः घंटे तो सपने देखते रहते हैं। तो सपने लेना तो निद्रा नहीं न। बिस्तर के साथ भी बेईमानी हम लोग करते हैं। बिस्तर तो भाई, सोने के लिये है। तंद्रा में पड़े रहने के लिये बिस्तर नहीं है। आलस्य में, जड़ता में, पड़े रहने के लिये बिस्तर नहीं है। लेकिन हमको तो वस्तुओं के साथ प्रामाणिक रहना, न्याय करना—(अपने ही साथ न्याय नहीं करते हैं, तो वस्तुओं के साथ कहाँ !)—आता ही नहीं। न अन्न के साथ हम न्याय करेंगे, न उसका उचित सम्मान करेंगे। न निद्रा का, न वस्तुओं का। ऐसे जिये जा रहे हैं— पता नहीं क्यों, इसको हम जीना कहते हैं।

जीना एक कला है, कहा है न, एक संगीत है जीवन। लेकिन हम तो ऐसे हैं कि हमारे तार जितने भी हैं—तन के, मन की वीणा के—तो उनको कौन सुर में बाँधता है ? संगीत का जलसा सुनना हो तो आधा-आधा घन्टा, एक-एक घन्टा, वह तबले को मिला रहा है, वह तानपुरे को मिला रहा है, वह सितार को मिला रहा है। उसके लिये समय है। लेकिन अपनी जो वीणा है जीवन की उसको—वह जो साज़ दिया हुआ है, उसे मिलाने की परवाह किसे है ? क्योंकि मिला है न, मुफ्त में—वह खरीदना तो नहीं पड़ता। वहाँ तो पच्चीस रुपये का टिकिट लेना पड़ता है— इसलिये वहाँ शान्ति से बैठेंगे। तीन घंटा, चार घंटा। यह तो मुफ्त में मिला हुआ है साज़ ! इसकी क़द्र कौन करेगा।

कह रही हूँ कि निद्रा लेना भी मालूम नहीं और जागृत रहना भी मालूम नहीं। इन्द्रियों की ग़ुलामी में और उनकी हुकूमत में रहने वाले जागृत हैं ? अभी जीभ ने कहा कि भजिया खिलाओ

तो भजिया खिला दिया। अभी कान ने कहा कि 'सिलोन' संगीत सुनना है तो वह सुना लिया। अब मन ने कहा bore हो गये हैं—अकेले नहीं बैठा जाता—मित्रों को खोजो, 'कम्पनी' खोजो! निकले हैं। हरेक क्रिया इन्द्रियों के dictation में, हुकूमत में, चलती हैं। और कहते हैं कि हम जागृत हैं।

यह परवशता में बहते जाना जागृति नहीं है। और निद्रा भी नहीं है। इसलिये जन्म और मरण के झूले पर झूलते हैं, जीवन का स्पर्श पाते नहीं हैं। और अध्यात्म है जीवन का स्पर्श पाना। और जीवन के, अनावृत जीवन के आलिंगन में अपने आप को खो देना। न वहाँ प्राप्त करना है, न वहाँ संग्रह करना है। जीने के लिये त्याग और भोग दोनों ही irrelevant हैं।

तो पहले प्रारम्भ करना चाहिये निरीक्षण से। मन की क्रियाओं का तटस्थ निरीक्षण। यह निरीक्षण करना है आपको बिना प्रयास किये। यानी 'साक्षित्व का अभ्यास करो' नहीं कह रही हूँ क्योंकि ऐसा कहने से आप क्रिया से अलग होकर बैठ जायेंगे कमरे में और कहेंगे कि अब तो मैं साक्षित्व का अभ्यास कर रहा हूँ।

यानी तैरना सीखना है और नदी में छलाँग नहीं लगायेंगे। तैरना तो सीखना है, लेकिन कमरे में गद्दे बिछा कर वहाँ तैरने का अभ्यास कर रहे हैं। ऐसा नहीं।

तैरना सीखना है तो भाई, पानी में कूद पड़ो। नहीं तो गद्दे बिछाकर यह Frog stroke है, यह back stroke है, और यह free style हैं—सब अभ्यास कर लो। पानी देखने पर—उसमें पाँव रखने की हिम्मत नहीं होती। तो आत्मा का परिचय पाने के लिये भी पहले यह जो मन का सागर है, उसमें गोते लगाने पड़ेंगे। देखना पड़ेगा कि क्या है, क्या नहीं?

तो सब किताबें उठा कर, हटा कर, अपना ही निरीक्षण पहले शुरू करो। इस निरीक्षण में होगा क्या? एक तो सावधान रहना पड़ेगा। प्रमाद से, आलस से, तन्द्रा से नहीं चलेगा। यह प्रमाद-रहित जीवन की ओर संकेत है। लोग कहते हैं न जैन परिवारों में कि भगवान् महावीर की क्या शिक्षा थी? कहते हैं—"प्रमाद-रहित जीवन"। और प्रमाद क्या है? सिर्फ़ कन्द नहीं खाना और मूल नहीं खाना, और रात्रि को भोजन नहीं करना, यह नहीं। यह भी हो सकता है,—उसका निषेध नहीं कर रही हूँ। कह रही हूँ कि अनवधान प्रमाद है। अवधान सहित जीना, सावधान रहना—इसको अंग्रेज़ी में awareness कहते हैं। जागृति में और अवधान में मूलतः फ़र्क है। लोग समझते हैं—जागृति याने awareness। नहीं, नहीं। ऐसा नहीं है। सावधानता awareness है।

तो २४ घंटे की सावधानता निरीक्षण के लिये अनिवार्य होने के कारण निरीक्षण करते-करते सावधान रहने की शक्ति आप की बढ़ती है। सावधान रहने के लिये, साक्षित्व के लिये, स्वतंत्र प्रयास नहीं करना पड़ता। वह सावधानता की शक्ति आप की बढ़ती जाती है। एक। अब जो विकार उठता है या जो विचार उठता है उसकी प्रशंसा नहीं करनी है, निंदा नहीं करनी है। निरीक्षण करना है। यानी निरीक्षण के लिये Suspension of mental activity—यह दूसरी चीज़ बिना प्रयास के सधने लगती है। निरीक्षण में, जो आप के मानसिक कर्म हैं—क्रिया हैं—उनका suspension हो जायगा कि नहीं! Introspection नहीं करना है। उसकी निंदा भी नहीं करनी है। उसका judgement—उसका निर्णय भी नहीं करना है। देखना है।

तो निरीक्षण में मानसिक क्रियाओं का शांत होना नहीं है। अभी शांत नहीं हुई हैं। सिर्फ़—Suspension को क्या कहूँ भाई हिन्दी में ? स्थगित शब्द ठीक है ?—वह मानसिक क्रियाओं का स्थगन हो जाता है। तो एक तरफ़ मानसिक क्रियाओं का स्थगन, दूसरी तरफ़ सावधानता की शक्ति—ये दोनों आप में बिना प्रयास के बढ़ते जाते हैं। विषय को यहां समेटना पड़ेगा। प्रारंभ किया था कि अध्यात्म का क्षेत्र मानसिक कर्म का क्षेत्र नहीं है। इसमें कुछ प्राप्त करने का नहीं है—कुछ कमाने का नहीं हैं। इसमें कुछ अनुभव लेने का नहीं है। बड़ी निराशा होती है लोगों को! कि यह क्या है—अध्यात्म में अनुभव नहीं ? अनुभूति नहीं ? फिर तो सारा romance चला गया।

'भाई, देह के सहारे जो उपभोग करते हैं—उससे ज्यादा romance तो मन के साथ जो अनुभव करते हैं—उसमें हैं। तो आप सब romance हटाते जा रहे हैं! अनुभव का क्षेत्र नहीं—, ऐसा कह रहे हैं!' मैंने कहा—'जी हाँ, अनुभव का क्षेत्र नहीं है।' मानसिक कर्म नहीं—इसी में यह अर्थ उद्बोधित होता है कि भाई, यह अनुभव का विषय नहीं है। तो फिर अतीन्द्रिय अनुभूतियां क्या हैं ? अतीन्द्रिय अनुभूतियों का अर्थ है—आप के अचेतन में जो पड़ा हुआ है उसका साक्षात्कार। कोई बहुत मुश्किल बात तो नहीं है। कृष्ण रूप से साक्षात्कार करना, राम रूप से साक्षात्कार करना। जिसका अभ्यास करोगे उसका साक्षात्कार कोई बहुत मुश्किल तो नहीं है। यह तो बच्चों का खेल है! करके देखो। उसमें भी आनंद आता है। जिस चीज़ का निदिध्यास करोगे, उसका सामने आ जाना—कोई कठिन बात नहीं। उसके लिये कहीं जंगल में नहीं जाना पड़ता। करके देखो। हो जाता है। नाद सुनना है, अनहद को सुनना है—अनहद भी कोई mysterious और गूढ़ वस्तु नहीं है,

कोई रहस्यमयी चीज़ नहीं है। आहत नाद, अनाहत नाद—दो प्रकार के नाद हैं। तो आप के दो होठों के मिलन से जो नाद निकलता है वह आहत है। इसलिये शब्द आहत नाद है। आहत माने प्रहार में से निकलने वाला। वह शुद्ध नाद नहीं है। इसलिये उसको शब्द-नाद कहते है—आहत नाद को। और अनाहत—जिसमें प्रहार नहीं है—अनाहत है, विशुद्ध है। तो ऐसे नाद आप की नाड़ियों में पड़े हैं, इसमें कौन सी बड़ी बात है! ज़रा शांति से बैठकर आप भीतर के नाद को सुनना चाहेंगे—तो श्वासोच्छ्वास की गति के आधार पर वह भी सुन सकेंगे। नाड़ियों में बहने वाले जो स्वयंभू नाद हैं—रक्त का जो अभिसरण हैं न, blood circulation है, वह विभिन्न नाड़ियों में विभिन्न गति से बहता है। भीतर की सृष्टि भी बड़ी 'रोमान्टिक' सृष्टि है आप की। तो उसमें कुछ स्वयंभू नाद हैं। आठ प्रकार के, दस प्रकार के। तो बाहर के नाद नहीं सुने, भीतर के सुन लिये। इसमें कौन-सी बड़ी बात है। इसमें कहां का अध्यात्म आया।

प्रकाश है। तो जिस प्रकाश के सहारे आप की आंख बाहर का रूप देख सकती है—वह भीतर का प्रकाश देखना—कौन-सी बड़ी बात है? अतीन्द्रिय अनुभूति है—देख लो। देखने की इच्छा हो तो। ज्योति के स्वरूप में देखना है—ज्योति के स्वरूप में देखो। लेकिन यह ज़रूर है कि ऐसा एक आलोक है; आप के आँख के और मन के पीछे बैठा हुआ ऐसा कोई प्रकाश है जिसके सहारे आप अंधकार को भी देख सकते हैं। देखा है कभी अंधकार को? अंधेरे को देखा है? आप के अहमदाबाद शहर में तो क्या देखने को मिलेगा! सारे रास्ते पर lights-lights-lights! आकाश को देखने का अवसर नहीं। अंधेरे को नहीं।

कुछ मित्रों के साथ कुछ रोज पहले रातको निकली। तो मैंने अपने मित्र से कहा कि "भाई मुझे अहमदाबाद से कुछ दूर ले चलो जहाँ अँधेरे के सुभग दर्शन हो सकें। जहाँ aggressive offensive lights won't offend you. ले चलो।" लेकिन अँधेरे के दर्शन के लिए मुझे भागना पड़ा दूर आपके अहमदाबाद से। कभी आप आधी रात उठकर जाइये, कहीं ऐसे क्षेत्र में जाइये, दूर जाइये, जहाँ अँधेरे के दर्शन होंगे। फिर आप सोचिये कि अंधकार को मैंने कैसे देखा ?

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
(मुण्डकोप० २।२।१०)

अरे, वहाँ चंद्र नहीं, सूर्य नहीं। तारे नक्षत्र नहीं। अग्नि नहीं है। फिर किस ज्योतिसे देख रहे हो ? तो वह भी तत्त्व है।

आप जिसको 'फानस' कहते हैं गुजराती में—लालटेन को तो उसका काँच होता है न, उसका शीशा। वह यदि मैला हो तो भीतर की ज्योति का प्रकाश बाहर दिखता नहीं है। उसमें कालिख लग गई हो तो ज्योति होने पर भी प्रकाश बाहर नहीं आता है। वैसे विकारों की और विचारों की कालिख लग गई हो—तो उस ज्योति का प्रकाश दिखता नहीं, लेकिन देखना चाहो तो कोई असंभव नहीं है। लेकिन उस ज्योतिर्मयी अग्निशिखा को देखना या भीतर के अनाहत नाद को सुनना—यह अध्यात्म नहीं है। यह refining the sensitivity and having transcendental experiences—यानी आपकी जो संवेदन-शक्ति है, उस संवेदन-शक्ति को परिष्कृत और परिमार्जित बनाकर, इंद्रियातीत सृष्टि में विहार करते हुए अनुभूतियों का उपभोग करना है, अध्यात्म नहीं है। पहले यह विषय रखा। और फिर कहा कि यह मानसिक कर्म नहीं है—तो मन के साथ क्या करें ?

हमने कहा—लड़ें नहीं। वह बेगुनाह है, उससे लड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। उसको सिर्फ पहले देखो। उससे मैत्री हो सकती है या नहीं—हम विचार करेंगे। उसके साथ मैत्री हो सकती है। और आपने कभी मित्रोंको देखा है—सच्चे मित्रों को ? आप के किसी मित्र के साथ बैठेंगे, तो आप को बोलने की ज़रूरत पड़ती है ? अरे भाई, मित्रता भी तो कहाँ दुनिया में देखने को मिलती है ! विचारों की समानता से, एक दूसरे के तरफ़ खींचे गये—कहते हैं हमारी मैत्री है ! कुछ नहीं भाई, विचारों का आकर्षण है। रूप के आकर्षण से एक दूसरे के तरफ़ खींचे गये—मैत्री है ! गुणों के आकर्षण से एक दूसरों के निकट आये—वह मैत्री नहीं। मैं सोपाधिक तथाकथित मैत्री की बात नहीं कह रही हूँ। मैं मित्रता की, उस मित्रता की बात कर रही हूँ, जहाँ समग्रता में एकता का अनुभव होता है। बैठे हुए दो हैं, पर अनुभूति में एक है। ऐसे मित्र जब बैठते हैं—तो बोलने की इच्छा भी नहीं होती है। घूमने जायेंगे घंटों—एक शब्द भी नहीं बोलेंगे। दिनों तक, सप्ताहों तक साथ रहेंगे—हो सकता है—बोलने की ज़रूरत भी नहीं पड़े। शब्द का अन्तर भी जिस मित्रता की निगूढ़ता में सहन नहीं होता—ऐसी मित्रता को आप अनुभव करके देखें।

तो ऐसी यदि मन के साथ मैत्री होगी, मित्रता होगी, तो अब आपका मन अपने आप ही फिर शांत बैठेगा। आपके प्रेम के कारण मन इस प्रकार शांत हो जायगा कि उसके अस्तित्व का आपको आभास तक नहीं मिलेगा। मरेगा नहीं। मन का लय नहीं करना है, मनोलय नहीं, मन पर विजय नहीं, मन के साथ मैत्री और प्रेम, जिस प्रेम में मन को अपने आप स्वयं ही शांत होने की प्रेरणा होगी। मन की शांति में फिर चेतना का जो आविष्कार होता है—उसके बारे में कल प्रातःकाल सोचेंगे।

(ख) सायंकाल प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : "विश्वचेतना की उत्क्रांतिकी हम कड़ियाँ मात्र हैं"—ऐसा आज सुबह आपने कहा। क्या उत्क्रांति, evolution, becoming, के लिये विश्वचेतना में भी कोई अवकाश है? Being में भी becoming के लिए कोई अवकाश है?

उत्तर— नहीं।

Becoming—कुछ बनना—ऐसा अभिप्राय है? नहीं, becoming, यानी कुछ बनने का अर्थ मुझे अभिप्रेत नहीं था। लेकिन जिसको अंग्रेज़ी में unfoldment कहते हैं। Evolution presupposes involution. तो जो एक वैश्विक चेतना है, उसकी क्रमशः अभिव्यक्ति हो रही है—उस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में in the process of that unfoldment, man is a link as a human being—इतना ही मेरा अर्थ था। इसमें इसको कुछ बनना है ऐसा नहीं—जो भीतर है उसको प्रकट होने देना है। और उसके व्यक्त होने में, उसके प्रकट होने में, जितनी कठिनाइयाँ होंगी, जितनी रुकावटें होंगी—उनको हटाना है, उनको हटाते जाना है।

उसमें दूसरा एक अर्थ शायद मेरे मन में होगा—क्योंकि इस समय मुझे स्मरण नहीं है—किस संदर्भ में कहा था,—लेकिन इस संदर्भ में शायद कहा होगा कि आदिमानव—पहला जो कोई इन्सान हुआ हो, वह आज तक जो कुछ मनुष्य ने किया है, पूर्व के देशों में, पश्चिम के देशों में, मनुष्य ने सभ्यता के नाम पर, संस्कृति के नाम पर, जितने संस्कार अपने शरीर पर, मन पर और बुद्धि पर किये हैं, उन सभी संस्कारों का जिसको आप

residue कहेंगे, वह हमारी प्रत्येककी चेतना में पड़ा है। मेरे साथ कठिनाई, मित्रो, यह है कि हिन्दी मातृभाषा नहीं है मेरी, तो मुझे शब्द ढूँढ़ने में बड़ी दिक्कत होती है। इंग्लिश में बोलना होता तो शायद कठिनाई नहीं होती, क्योंकि शिक्षण उस भाषा में हुआ है।

तो, जो पहला इन्सान हुआ होगा, आप जिसको stone age कहेंगे, copper age कहेंगे,—जितने ages हुए, युग हुए, उनमें जो-जो मानव ने किया है, उस सबके संस्कारों का रस आप में और हम में पड़ा हुआ है। इसलिए जब अचेतन मन खेल करने लगता है और 'दृष्टांत' होते हैं, दर्शन होते हैं, Visions आते हैं, transcendental experiences आते हैं—हमको लगता है कि भाई, हमारा, हमारे परिवारका, हमारी जमात का, हमारे धर्मका इससे कोई संबंध नहीं है, और ये experiences हमको क्यों आये ? ये अनुभूतियाँ हमको क्यों आईं ? वे आती हैं इसका एक कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर वह भंडार पड़ा हुआ है। और जब उसको मौक़ा मिलता है प्रकट होनेका, चेतन मन जब शांत हो जाता है, तो ये अचेतन में पड़ी हुई चीज़ें निकलकर बाहर आती हैं। उसी प्रकार जितने मनुष्य के विकार हैं, वासनायें, विचार हैं, वे सभी हमारे भीतर पड़े हैं, मनुष्य जातिके। तो जब बुद्धि, वह जो संस्कारपुंज है, संस्कारों की जो राशि अचेतन में पड़ी है, उससे लड़ने लगती है—प्रतिकार करने लगती है, या उनको दबाना चाहती है—तो (बुद्धि) उनको दबा नहीं पाती। क्योंकि इन भावनाओं की, विचारों की और विकारों की जो गति है—वह गति एक सनातन काल से चली आई है। और बुद्धि का बल इस जन्म से शुरू करके आप इसको कुछ लड़ाना चाहते हैं अचेतन के साथ। तो, मैंने शायद यह कहा होगा ठीक स्मरण

नहीं हैं, लेकिन शायद यह कहा होगा कि अचेतन में पड़े हुए विकारों के साथ लड़ना, उनको संघर्षका विषय बनाना, यह कोई बहुत समझदारी का काम नहीं है। इस अर्थ में शायद कहा होगा!

प्रश्न : विचारका उद्भव कैसे होता है? और उसमें शब्द का हिस्सा कितना है? शब्द यानी word. विचार के उठते ही शब्द उठता है या शब्द बाद में उठता है?

उत्तर : विचार का उद्भव कैसे होता है? विचार उठता है कैसे? और विचार का उठना जो है, उसको शब्द कब प्राप्त होता है? वह शब्द का स्वरूप कब लेता है? जब स्पंदन उठता है तो शब्द को साथ लेकर उठता है या पहले स्पंदन है और जन्म लेने के बाद जब वह प्रकट होने के रास्ते से चलने लगता है तो बीच में कहीं उसको शब्द मिलता है? बात क्या है? बड़ा सुन्दर प्रश्न है।

पहले, सामान्यतया जिसको हम विचार करना कहते हैं और जिसको विचार समझते हैं—वे विचार होते नहीं हैं। वे होती हैं हमारी प्रतिक्रियायें। बौद्धिक प्रतिक्रिया—intellectual reaction, भावनात्मक प्रतिक्रिया—emotional reaction—, इनको हम विचार समझते हैं। जो दिन भर हमारे भीतर चलता है—विचार करने की शक्ति—जिसको स्वतंत्र विचार कह सकेंगे-thought as such कहेंगे—उसकी शक्ति शायद हज़ार में एकाध व्यक्ति विकसित करता है। लेकिन हम जिसको कहते हैं-या तो हम जो घटनायें हो गई हैं उनकी जो याद है—स्मृति है—उनके साथ खेलते हैं, तो कहते हैं कि हम विचार कर रहे हैं। वह विचार नहीं हैं।

भूतकाल की घटनायें घटित हो गईं। घटना चली गई, स्मृति रह गई। वे संगृहीत हैं! आप जानते हैं न, कि मनुष्य के पास यह मस्तिष्क, जिसको brain कहते हैं—वह एक ऐसी कुछ चीज़ उपलब्ध हो गई है कि इस मस्तिष्क के गोलकों में—brain-cells में—स्मृति, ज्ञान, अनुभव रसायन के रूप में संगृहीत हो जाते हैं। All human knowledge and experience get reduced to certain chemicals which are stored in your brain-cells. जो कुछ भी आप ज्ञान प्राप्त करेंगे, जो कुछ अनुभव करेंगे,—निकल जाती है घटना, ज्ञान देने वाला व्यक्ति निकल जायगा—ग्रंथ निकल जायगा सामने से—उसकी जो स्मृति है वह मस्तिष्क में जाकर संगृहीत होती है chemical के रूप में, रसायन के रूप में। और आपको मालूम होगा कि इस स्मृति को आप निकाल सकते हैं। Extract कर सकते हैं। और दूसरे आदमी में inject भी कर सकते हैं। Transmission of memory and knowledge. आज विज्ञान यहाँ तक पहुँच गया है। तो हमारे मानव-मस्तिष्क में इतने सारे विचार, विकार सनातन काल से चलते आये—संगृहीत होते गये—और generation to generation, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, वे transmit होते चले आये हैं।

तो किसी ने कोई शब्द कहा। राम कहा। तो फिर हिन्दू मन को आनंद होगा। उस शब्द से किसी भी प्रकार का स्पंदन,—यदि वह जानता नहीं है रामायण को—ईसाई हो, मुस्लिम हो, बौद्ध हो, जैन हों—तो स्पंदन पैदा नहीं होगा। भावनात्मक स्पंदन reaction उसमें नहीं उठेगा। कहना यह चाहती हूं कि इस प्रकार की संगृहीत प्रतिक्रियायें, संगृहीत अनुभव और ज्ञान पड़ा हुआ है। जब आप को बाहर से कहीं धक्का मिलता है

और स्मृति में संगृहीत वे प्रतिक्रियायें जाग उठती हैं तो आप कहते हैं कि मुझे विचार आया। जिनको हम विचार कहते हैं—all of them mostly are reactions वे प्रतिक्रियायें हैं। वे विचार नहीं हैं। क्योंकि वे स्वायत्त नहीं हैं। वह unearned income (बिना कमाई का धन) है। वह हमारे पुरखों का, पूर्वजों का कमाया हुआ हमारे पास आया है।

तो, किसी ने कोई शब्द कहा। लोगों ने उसको गाली कहा है—मान लीजिये—अपशब्द है, गाली है। किसी ने उस शब्द का उच्चारण किया तो क्रोध उठा। अब यह क्रोध भी स्वायत्त नहीं है। आप को किसी ने—जिसको गाली कहते हैं—वह गाली दी और आप को क्रोध आया। आप समझते हैं कि मुझको क्रोध आया। बिलकुल नहीं। वह क्रोध भी आप का नहीं है। It is a mechanical action—एक यांत्रिक प्रतिक्रिया है। जिनको प्रशंसा समझा जाता है—वे शब्द किसी ने उच्चारण किये तो गुद्‌गुदी हुई। क्योंकि उन शब्दों के सहचारी भाव भी निर्धारित किये गये हैं।

मैं समझाना यह चाहती हूं—विचार के उद्भव से पहले, विचार के नाम पर बेचे जाते हैं—विकार के नाम पर बेची जाती हैं—वे सब प्रतिक्रियायें हैं। वे सब यांत्रिक क्रियायें हैं। उनमें सहजता नहीं है। वे स्वयंभू नहीं हैं। वे स्वायत्त नही हैं।

जब ये प्रतिक्रियायें शांत हो गयीं, किसी ने उनको शांत होने का मौका दिया—तो चेतन और अचेतन की शांत अवस्था में फिर किसी मोज़ार्ट को, किसी बिथोविन को, जिसको आप genius कहते हैं न—उसको संगीत का दर्शन होता है। विचार करना नहीं पड़ता। विचार के दर्शन होते हैं। चेतन और

अचेतन की शांति में फिर दर्शन होते हैं किसी आइंस्टाइन—को, किसी न्यूटन को, किसी ऐडिसन को, किसी क्यूरी को। तो पहले, विचार के उद्भव के लिये, विचार के जन्म के लिये,—सच्चा विचार—हो—नक़ली नहीं, असली विचार—असली विचार के जन्म के लिये चेतन और अचेतन की शांत अवस्था आवश्यक है। अब वह कहीं धक्का खाकर शांति आ गयी, थक करके, हार करके शांति आ गयी, स्वयमेव शांति आ गयी—उसमें मैं नहीं जा रही हूं। उसमें भी nuances हैं, उसमें भी छटायें हैं। लेकिन इनको यहां खोलने का आज, मैं नहीं समझती कि, समय है। गहराई में फिर भी उतरना होगा। लेकिन इतना तो कह दूं कि चेतन और अचेतन की उस शांत अवस्था में फिर स्वतंत्र स्वयंभू विचार के दर्शन होते हैं। इसलिये उपनिषदों के लिये यह नहीं कहते हैं कि उनके रचयिता थे, उपनिषद लिखनेवाले कर्ता कोई नहीं मानता है। द्रष्टा, मंत्रद्रष्टारः, 'उसको दर्शन हुआ'—कहते हैं।

अब यह दर्शन किसी विचार का कैसे होता है—जिसकी जितनी संवेदन-शीलता होगी—sensitivity होगी—वह प्राकृत है, कि संस्कारित है; यानी cultured है या crude है—उस पर से फिर वह विचार का स्वरूप, विचार का प्रकार और आशय निर्धारित होता है। आप ने कहा कि यह विचार जब उठता है तो क्या शब्द को लेकर उठता है? नहीं। जो परा वाणी है—वहां शब्द का संचार नहीं होता है। यह स्पंदन वहां से उठकर ऊपर पश्यन्ती में जब पहुंचता है—यानी जहां तन-मन-बुद्धि, इन सबको वह छू जाता है—पहले स्पंदन जो उठा है—वह भीतर के आकाश में है। अब वह स्पंदन—जिस वीणा का मैंने उल्लेख किया होगा शायद कल—उस वीणा के तारों को छू जाता है। अब किन नाड़ियों को वह कैसे छूता है, यह भी फिर हम—जितनी गहराई में, जितने विस्तार में जायेंगे—लेना पड़ेगा

योग के विषय को। जा नहीं सकते हैं। संकेत मात्र कर रही हूं, इशारा या इंगित कर रही हूं। लेकिन वह स्पंदन जब आकाश में निर्माण होने के बाद छूने लगता है—जहां स्पर्श करता है—तो उस पश्यन्ती में से फिर शब्द का जन्म होता है।

वाणी के जो चार प्रकार माने गये—क्यों कि आपने जो प्रश्न पूछा है उसमें कुछ pathological, कुछ biological, कुछ psychological—इतने सारे पहलू उसके हैं। जो उसका मानसिक या psychological था—वह आप के सामने मैंने पहले रखा। लेकिन आप यदि biologically उसमें interested हैं कि यह शब्द कहां उसको प्राप्त हुआ, तो उसका पहलू रखना चाहती हूं कि पहला उठता है विशुद्ध स्पंदन। वहां शब्द नहीं। वह विशुद्ध स्पंदन मातृकाओं को कैसे स्पर्श करता है, और मातृकाओं को स्पर्श करने के बाद जो झंकार है उसका, उस झंकार में से शब्द का रूप वह बिंदु कैसे लेता है—एक बड़ा रोचक और—यानी it is a technical subject that you are asking me.

Will it suffice for the evening ?

एक आवाज़—suffice (काफ़ी है)। दूसरी आवाज़—आप आगे कहें इस विषय में।

उत्तर—सबको तो रुचि नहीं होगी न उसमें। क्योंकि उसमें जो शरीर का शास्त्र है—जैसे physiology-hygiene सिखाते हैं स्कूलों में—ऐसे इस देश में भी शरीर-विज्ञान पहले सिखाया गया है। तो उसमें ये नाड़ियाँ, उसमें जो चक्र हैं शरीर में—उन सब में उतरना पड़ता है। इन्होंने जिस आधार पर प्रश्न पूछा—अब वह सब उन चक्रों को, और नाड़ियों के विश्लेषण को, real या truthful तो आज का कोई biologist

मानेगा नहीं और physiology-hygiene सीखनेवाला या doctor भी मानेगा नहीं। तो उनके लिये तो वे रूपक हो गये न, इसलिए मैंने कहा कि भाई, सामान्यतया आप जो प्रश्न पूछ रहे हैं—उसमें इतना कहा जा सकता है। क्योंकि यह शब्द का उठना, यह स्पन्दन का उठना कौन मानता है? यानी, How that sound gets converted into a word—संज्ञा और संकेत ये शब्दमय कैसे बनते हैं—वेद लिखे गये, उससे पहले शब्दरूप नहीं था, संज्ञा थीं। संज्ञाओं में से छंदों का जन्म कैसे हुआ, यह इतिहास भी बड़ा रोचक विषय है। लेकिन इतना सब—सब लोग कहेंगे कि यह क्या कहा जा रहा है! इसलिए उस technical विषय में नहीं जाना चाहते।

प्रश्न : आपने कहा कि धार्मिक, नैतिक और सामाजिक जो व्यवहार करते हैं—उनको आध्यात्मिकता के साथ संबंध नहीं है और वह तो अध्यात्म नहीं है और जो अध्यात्म है वह मानसिक प्रक्रिया नहीं है। जो अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ करते हैं—वह अध्यात्म नहीं हैं। यह सब जो बताया—तो उसमें ऐसा कुछ हो सकता है कि एक की तुलना में दूसरी अवस्था अध्यात्म के ज्यादातर नज़दीक है--अध्यात्म यानी सत्य यानी ऐसा कुछ जो हम समझते हैं--इससे, एक अवस्था, ज्यादातर नज़दीक है और दूसरी दूर है? ऐसा कुछ हम समझ सकते हैं उसमें?

उत्तर : जी, हाँ। बड़े अच्छे प्रश्न आज पूछे जा रहे हैं। खुशी हुई।

यह पूछा कि भाई, आप कहते हैं कि जो धर्म है वह जीवन का एक परिमाण है--एक dimension है और अध्यात्म है उस dimension से भिन्न परिमाण। भिन्न परिमाण हैं, भिन्न आयाम हैं। आप यह कहते हैं कि जो अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ हैं

वे भी अध्यात्म नहीं हैं। तो फिर जो सत्य है, जो आत्मदशा है-तो एक प्रकार का जीवन उस सत्य के साक्षात्कार के अधिक निकट होगा और दूसरे प्रकार का जीवन उतना उसके निकट नहीं होगा--ऐसा कुछ तर-तम भाव है कि नहीं? भाई, have I understood?

तर-तम भाव तो है। तर-तम भाव इस अर्थ में है। मैंने धर्म शब्द का प्रयोग करते हुए उसकी एक व्याख्या यहाँ के लिए, संवाद के लिए, गृहीत मानी। व्याख्या क्या की थी? मनुष्यों के परस्पर संबंध--मनुष्यों के परस्पर संबंधों में संवाद और व्यवस्था निर्माण करने के लिए जो नियम बनाए गये--उस नियमावली को मैंने धर्म संज्ञा दी और मैंने यह कहा कि उसके लिए शास्त्रों के प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। धर्म का संबंध समाज-शास्त्र से आता है, कामशास्त्र, मानसशास्त्र से आता है--अनेक शास्त्रों से आता है। नीतिशास्त्र से आता है। तो ये--मनुष्यों के परस्पर संबंधों में संवाद लाने के लिये, सहयोग निर्माण करने के लिए, व्यवस्था के लिए--नियमावलियाँ बनाई गई। विभिन्न देशों में, विभिन्न समय पर, विभिन्न प्रकार के नियम बनाये गये। इसलिये तो इतने सारे धर्म भी दुनिया में हम देखते हैं।

तर-तम भाव इस अर्थ में है। जो जीवन व्यक्ति जी रहा है, उस जीवन में यदि पहले उसके अपने भीतर संवाद होगा--संगीत होगा--तो वह सत्य की खोज के अधिक निकट जाता है। संवाद और संगीत से मेरा मतलब यह है कि उसके शरीर का मन के साथ झगड़ा नहीं, मन का बुद्धि के साथ झगड़ा नहीं। वह जो जीवन जीता है उसमें भीतर ही भीतर--आप देखते हैं न--कि, शरीर के, मन के, बुद्धि के झगड़े। बुद्धि कहती है कि अभ्यास करना है, मन कहता है कि नहीं, novel (उपन्यास)

पढ़ना है और शरीर कहता है कि अब तो सोना है—आलस में, निद्रा भले ही न आवे, आँख बंद करके लेटना है। तन चाहता है आलस में लेटे रहना, मन चाहता है नवलकथा (उपन्यास) पढ़ना, बुद्धि कहती है—'परीक्षा है—तू किताब पढ़ ले।' अब इतना तो तनाव है, इतना उनमें संघर्ष है—friction है—और इस घर्षण में लड़का पढ़ रहा है किताब। तो इस घर्षण में से जिस पढ़ाई का जन्म हुआ है, उसमें ताक़त नहीं आती। ऐसे ही बुद्धि कहती है कि 'तू चोर-बाज़ारी नहीं कर। तू smuggling नहीं कर। तू काला-बाज़ार नहीं कर। तू झूठ नहीं बोलना'। इसमें से विसंवाद आयेगा। इसमें से संघर्ष आयेगा। मन कहता है—'अरे, सभी करते हैं! वह मेरा पड़ोसी काला-बाज़ार करके यदि हज़ार के लाख करता है तो मैं क्यों न करूँ? वह नहीं पकड़ा गया तो मैं कैसे पकड़ा जाऊँगा! करो न, सब करते हैं! तू नहीं करेगा तो तू बेवकूफ़ है। यह कलियुग है—कहीं सत्ययुग है?'

तो बुद्धि कहती है कि मत कर। और शरीर को सुख-सुविधा का ज्यादा सामान चाहिये, ऐश चाहिये, आराम चाहिये। मन कहता है—'जुटा दे। उधर भी देख, कितना जुटता है! कोई ईमानदारी से नहीं कमाता! तू भी कमा ले न! बहती गंगा है! उसमें से तू उठा ले—जितना उठाना है! तू नहीं उठायेगा तो तू गुनहगार है।' तो फिर—वह कमाता है। कमाता है और कमानेका लुत्फ़ फिर उसको नहीं आता है, क्योंकि बुद्धि कहती है—'तू ग़लत कर रहा है।' कमाता भी है, कमाने का मज़ा भी नहीं आता, guilty conscience है और फिर उस पैसे से सामान ला-लाकर घर में जुटाता भी है। और लाये हुए सामान को सम्हालते-सम्हालते नाक में दम है। थकता भी है। और मानता है कि यही संसार है, यही जीवन है!

मैं यह कह रही हूँ कि आन्तरिक संघर्ष है—तनाव है; या आन्तरिक संवाद है जीवन में ? जिसके जीवन में आन्तरिक सामञ्जस्य होगा, संवाद होगा, उसके भीतर सत्य की जिज्ञासा जागृत होने पर गति जल्दी बढ़ सकती है। उसी प्रकार उसका जो दूसरे व्यक्तियों के साथ—(यह तो आन्तरिक संवाद और संगीत की बात कही)—अब व्यक्तियों के साथ संबन्ध है। उन संबंधों में लड़ाई, झगड़ा, ईर्ष्या, द्वेष—ऐसा वातावरण हो तो फिर उसकी जो सत्य-साक्षात्कार की साधना चलेगी, उसमें, वातावरण से सहयोग नहीं मिलता है। वातावरण में, प्रेममय वातावरण में जो स्पंदन मिलते हैं, जो सहयोग मिलता है, (वह नहीं मिलेगा)।

आप जानते हैं न कि आपके भीतर जो-जो विचार उठते हैं—विकार उठते हैं—वे स्पंदन होकर आपके बाहर निकलते हैं। आंखों से बाहर निकलते हैं। जीभ से, ज़बान से बाहर निकलते हैं—आपके श्वासोच्छ्वास से बाहर निकलते हैं, आपके शरीर से निकलते हैं—बाहर आप देते ही रहते हैं जो कुछ आप हैं।

तो यदि व्यक्ति के संबंधों में तनाव, संघर्ष नहीं होगा, घर्षण नहीं होगा, तो बाहर से भी उसको सहयोग मिलता है। अंतर का सहयोग मिलता है, बाहर का भी सहयोग मिलता है। इसलिये संवादी, संगीतमय जीवन में सत्य-साक्षात्कार के लिये objective—जिसको परिस्थितिगत कहेंगे—ऐसी अनुकूलता अधिक होती है। आप यही पूछ रहे थे कि और कुछ ?

प्रश्न—what is death? [If] it is said that death is departing of mind, why and when does the mind depart?

उत्तर—कहते हैं मौत क्या है ? मृत्यु क्या है ? और प्रश्न पूछने वाले भाई आगे कहते हैं कि ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु यानी मन की बिदाई ? क्या कहना चाहते हैं भाई, ?

प्रश्नकर्ता : If it is said.

उत्तर में—who says this ?
माने, 'If' कैसे डाला आपने ? या तो आप यह कहिये कि 'ऐसा कहा जाता है' तो आगे प्रश्न चलेगा न ! और मैं कहूंगी कि 'it is not said'। आपने यदि 'If' रखा तो मैं वहीं रोक दूंगी न ! आप मुश्किल में पड़ जायेंगे। मैं रोकना नहीं चाहती। इसलिये 'if' को हटा लीजिये। तो प्रश्न आगे चलेगा। मैं नहीं कहती हूं कि मनका departure [मृत्यु] है। आपके 'if' को लेकर उत्तर देने जाऊँ, तो आपके 'if' का मैंने स्वीकार कर लिया --ऐसा होगा। मैं उसको स्वीकार नहीं करना चाहती। समझे न आप, दिक्कत आ जायगी ! सवाल ऐसा पूछिये कि 'it is said' यदि आप पूछना चाहें तो, हाँ। नहीं, तो, दूसरे ढंग से कहें, re-cast it.

प्रश्न : ऐसा कहा जाता है कि मौत यानी मन का अलग होना। और यदि मौत यानी मनका अलग होता है तो यह मन कब और कैसे अलग होता है ?

उत्तर : मौत क्या है ? 'जीवन क्या है'—कोई नहीं पूछता। मैं cross-examine (जिरह) करने की दृष्टि से नहीं कह रही हूं। लेकिन जन्म में और मृत्यु में जिज्ञासा जाती है, जीवन में नहीं। जिज्ञासा की गति जन्म की तरफ़ जाती है, मृत्यु की तरफ़ अभिमुख होती है—जीवन की तरफ़ नहीं। इस व्यक्ति का नहीं कह रही हूं मैं। एक जो सहज बात उठी—जो प्रतिसाद उठा भीतर से वह रख रही हूं।

अब यह तो सभी जानते हैं कि मृत्यु एक ऐसी घटना है जो शरीर के साथ लगा हुआ तथ्य है। बालक था, किशोर हुआ। बालक मर गया और किशोर हुआ। युवक था। यौवन मर गया, प्रौढ़ हुआ।

प्रगल्भता या प्रौढ़ावस्था का अंत हो गया—और वृद्धावस्था आयी। अब इन अवस्थाओं में शरीर के जो व्यक्त परमाणु हैं इन परमाणुओं का परिवर्तन तो दीखता है। बालक का शरीर और किशोर का शरीर, किशोर का और युवक का, युवक का और वृद्ध का,—इसमें बाहर का जो कलेवर है, वह एक ही होने के कारण भीतर के परमाणुओं का जो रूपांतरित होना है—उसकी तरफ़ ध्यान कम जाता है। एक continuity का आभास होता है। उसमें continuity का, उसमें एक सातत्य का आभास होता है कि वही जो बालक था, वही युवक हुआ; वही प्रौढ़ हुआ; वही वृद्ध हुआ। यहाँ तक चलता है।

अब यह जो अव्यक्त परमाणुओं को धारण करने वाला व्यक्त उसका ढांचा है—यह ढांचा जब गिर जाता है—तो मनुष्य कहता है कि अंत हो गया। अब वह बोलता नहीं। अब वह चलता नहीं, अब हिलता नहीं। अब देखता नहीं। सुनता नहीं है। वह मर गया है। कौन मर गया, भाई ?

बीज का अंकुर हुआ। अंकुर का पौधा हुआ। पौधे का वृक्ष हुआ—और वृक्ष जीर्ण हुआ—चला गया। तो, वृक्ष के मरने में और मनुष्य के मरने में हम फ़र्क मानते हैं। क्योंकि वृक्ष बोलता नहीं है। यानी बोलता हो तो कम से कम हमें उसकी भाषा का ज्ञान नहीं हैं। इसलिये वृक्ष क्या बोलता है, और मृत्यु के समय उसको किस प्रकार की वेदना होती है—होती भी है या नहीं होती है—इसका हमें परिचय नहीं है। इसलिये

वृक्ष का जो मरना है, उसके मरने में और आदमी के मरने में हमें अन्तर मालूम होता है। जो biological fact है, जो एक शारीरिक तथ्य है—वह तो यह है कि आपके शरीर में श्वासोच्छ्वास की जो क्रिया है, बन्द हो जाती है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया जिस ऊर्जा के बल पर चलती है—वह ऊर्जा शरीर में नहीं है। क्योंकि उष्णता-ऊष्मा जो है, वह ऊर्जा के साथ जाती है, अग्नि के साथ जाती है। जो ऊष्मा है, उष्णता heat है, वह तो अग्नि के साथ ही जाती है न!

शरीर में जितनी गरमी है, वह उस ऊर्जा के कारण है, जिसे energy आप कहते हैं। अब वह ऊर्जा उस शरीर में न रही इतना ही उसका मतलब हुआ न। आप वृक्ष के लिये कहते हैं कि उसकी जड़ों में जीवनरस न रहा, इसलिये वह गिर पड़ा। वैसे ही शरीर में ऊर्जा न रही।

अब किसी को सिर पर डण्डा मार दिया—या उसकी, तलवार से गरदन उतार ली, या छुरा कलेजे में भोंक दिया—ऊर्जा निकल गई। जानने के लिये आप जिस शब्द के level पर मुझे पूछ रहे हैं—उस शब्द के स्तर पर इतना ही कहा जा सकता है कि श्वासोच्छ्वास की क्रिया कराने वाली ऊर्जा का संचार शरीर में से समाप्त हो जाता है। अब इस ऊर्जा का संचार समाप्त होने के साथ यह मन कहाँ जाता है?—यही आप पूछ रहे हैं? यह पूछ रहे हैं कि जो मन है, जो अहंकार है—जिस केन्द्र पर खड़े होकर संसार की परिधि को खड़ा किया था—वह मन कहाँ गया? मन में जो विचार हैं, जो वृत्तियाँ हैं—वे तो नष्ट होती नहीं, आप जानते हैं। 'विचार को मरण नहीं'—कहते हैं। वृत्ति को, वासना को, विकार को मरण नहीं है। तो जो वृत्तियाँ हैं, जो विचार हैं, जो विकार हैं वे सब अन्तरिक्ष में समा जाते हैं। मैं यह मान

लेती हूँ कि आप यह जानते होंगे कि हर विचार के रूप होता है, उसके form होता है—Every thought has a form. It has a colour. It has vibrations विचार के स्पन्दन हैं। विचार के रंग हैं। विचार के आकार हैं।

आप के मन में विचार आया। उसको आप ने शब्द-बद्ध करके हमारे सामने न रखा, तो भी जिस कमरे में ३०–४०–५० व्यक्ति बैठे हैं, उनके विचारों के रंग-रूप, उनकी लहरें, उनके स्पंदन हवा में तैरते हुए देखे जा सकते हैं। इसलिये आप कभी किसी व्यक्ति के पास बैठे हैं और आपने कुछ नहीं कहा, और आप के मन का विचार उसने पहचान लिया। आप कहते हैं—'ओ हो हो!—क्या चमत्कार है। उसके पास सिद्धि है! मैंने तो कहा भी नहीं, उसने पहचान लिया'। अरे, इसमें कौन सी बहादुरी है? आप के मन में जब तक विचार उठेंगे—तब तक उस विचार का वातावरण आप के चारों तरफ़ रहेगा। वे रंग, वे स्पन्दन आप के आसपास खेलते रहेंगे। जिसने संवेदन-शीलता को परिष्कृत कर लिया वह उनको देख लेगा।

तो विचार मरता नहीं है। इसलिये जो विचारपुंज होगा,—वह तैरता हुआ रहेगा, अन्तरिक्ष में अब यह विचारपुंज भी कहा तो 'पुंज' नाम से आप को कुछ उसकी density का आभास होता है न? क्या करूँ? शब्द ऐसे लेने पड़ते हैं। विचार–घनता, आप को लगेगा कि ये विचार यानी density है जिसको time and space focus में पकड़ सकेंगे। ऐसा नहीं होता है। विचार तो 'ईथर' (ether) से भी सूक्ष्म है। आप लोग 'ईथर' को सूक्ष्म मानते हैं न। 'ईथर' से भी सूक्ष्म है विचार। इसलिये विचार पुंज कहना विचार राशि कहना—ये सब शब्द जो हैं—मुझे समाधान नहीं देते हैं। लेकिन मैं क्या करूँ? कौन से शब्द

लूँ ? आखिर जिसको आपने मन कहा, जिसको आपने अहंकार कहा, वह उस तरल द्रव्य का बना हुआ है। द्रव्य भी कहा तो फिर से density (घनता) आ गई। अब मैं क्या करूँ ? चाहे जो शब्द आप ले लीजिये।

लेकिन वे (विचार) बिखर जाते हैं। आप के भीतर जो आकाश है, आकाश में से बाहर के आकाश में, अन्तरिक्ष में, तैरने लगते हैं। इसलिये आप ने कहा कि मन कहाँ जाता है ? 'कहाँ' यानी कोई ऐसा time and space में मैं आप को point नहीं बता सकूँगी। इतना ज़रूर कहूँगी कि मृत्यु समय में जो भी विचार, विकार वहाँ रहे होंगे—मन की गति ही विचार और विकार की है; विचार और विकार न हों तो मन में गति नहीं है। तब तो वह शान्त है।

तो, मृत्यु के समय जो भी विचार होंगे, विकार होंगे, वे तैरते हैं। आप यह पूछना चाहते थे या और कुछ ?

प्रश्नकर्ता : यदि ऐसा कहा जाय कि ऊर्जा चली जाती है—तो ऊर्जा पहले चली जाती है या मन पहले चला जाता है ?

उत्तर : ऊर्जा के अस्तित्व पर ही मन की गति है। ऊर्जा का संचार जिस क्षण समाप्त हुआ, उसी क्षण मन की गति आप के भीतर समाप्त हुई। 'तैरते रहते हैं' -- यह भी कहा तो यह शब्द मेरा बहुत उचित नहीं है। वे जहाँ पर लटके होंगे उस समय—वहाँ रह गये। इसलिये कहीं किसी स्थान पर आप जाते हैं, तो कहते हैं-- भाई, अनेक साधकों ने–सन्तों ने यहाँ कुछ सद्‌विचार किये हैं—तो इसलिये भूमि शुद्ध है। कहीं आप जाते हैं तो कहते हैं—यह भूमि अपवित्र है। क्यों ? भूमि ने क्या किया ? वही मिट्टी, वही जल तो है ! लेकिन संघर्ष के, द्वेष के, क्रोध के, विचार लेकर रहने वाले हों—घर में भी, किसी के घर में आप

जाइये—तो घर के वातावरण में आप को, कमरे में जायेंगे, दरवाजे में प्रवेश करेंगे, तो पता चलता है कि भाई, यहाँ किस प्रकार के विचार फैल रहे हैं। तो विचार रह जाते है।

ऊर्जा का संचार जहां समाप्त होता है—वहां वह विचारों की गति भी ऊपर से बंद हो गयी।

आप ऐसी अव्यक्त सृष्टि के सवाल पूछ रहे हैं कि mysticism में जाना पड़ेगा। मैं inferences में और गूढ़ गुंजन में जाना नहीं चाहती हूं। कोई तो सवाल पूछो कि जीना कैसे?

मधुर आवाज़: जीना कैसे?

विमला बहन: 'ना—ना—ना—!'

प्रश्न: यह जो बात आपने कही—अलग होना मनस् का, उसका जन्मजन्मांतर के साथ कैसे संबंध है?

उत्तर: आप फिर से अनुमानात्मक, सिद्धांतात्मक प्रश्न पूछ रहे हैं। जन्म और जन्मांतर क्या होता है? एक जीवन का अखंड प्रवाह चल रहा है। तो पानी के प्रवाह पर बुद्बुदे उठते हैं। bubbles। [Bubbles को क्या कहते हैं? "परपोटा"] तो वे bubbles उठते हैं। ऐसे ये जो individuals आपके और मेरे जैसे हैं—ये जीवन के प्रवाह में, जीवन के सागर में उठने वाले bubbles हैं। वह प्रवाह खंडित नहीं होता है।

आप यदि यह चाहते हैं कि भाई, एक ही व्यक्ति है—और फिर हो उसका लिंगदेह, उसका वासनादेह है—वह घूमता रहता है—फिर उसी को दूसरा जन्म लेना पड़ता है—या नहीं?

तो, मैं तो जिन्दा हूँ अभी, मर तो गई नहीं। तो मृत्यु से परे यह जो क्षेत्र है, उसके बारे में बोलूं तो कैसे बोलूं? किसी

theory को लेकर, किसी सिद्धांत को लेकर बोलना पड़ेगा। यह सब logical speculative thinking है, जिसमें जाना पड़ता है। इतना अनुभव से कहा जा सकता है कि विचार के मृत्यु नहीं है। और जो भी विचार उठा है मनुष्य के मन में—वह कहीं-न-कहीं जाकर देहरूप धारण करता है। और जहां स्त्री-पुरुषों का संबंध होता है, उस समय जिस प्रकार की मानसिक अवस्था उस दंपती की होगी, तो वह (अवस्था) उस प्रकार के विचार को आकर्षित करके उस बीज के साथ संबद्ध कर (देगी)। तो, जन्मजन्मांतर में इतना तो है—विचार के जन्मजन्मांतर हो सकते हैं। व्यक्ति के हो सकते हैं या नहीं, यह कहना मेरे लिये मुश्किल है। नहीं हो सकते हैं, यह नहीं कह रही हूँ।

[प्रश्नकर्ता बहन के प्रति—आप समझ रही हैं ?]

वासना उठी। अब वह वासना, if it is floating in the space, तो किसी दंपती के रूप में वह जा करके, पकड़ कर जन्म लेगी। जहां जिस समय जिसकी प्रबलता हो, वहां। तो उसके देह धारण करने में अनेक देह हो सकते हैं। लेकिन आप जिस continuity की बात पूछना चाहती हैं कि भाई, यह जो यहां व्यक्ति बैठी हैं, बोल रही हैं इसका पिछला जन्म था कि नहीं, इसका आगेका जन्म है कि नहीं, तो मुझे नम्रता से कहना चाहिये कि इस क्षेत्र में आप से बहुत कुछ कह सकूं—ऐसा शायद मेरा अधिकार नहीं है।

[दूसरे प्रश्नकर्ता की ओर : आप कुछ कह रहे थे, भाई ?]

प्रश्न: आज सुबह वार्तालाप में आपने कहा था कि observation के बारे में—जब observer और observed, द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं, उसमें जो दर्शन होता है—तो

फिर वह दर्शन कौन करता है? जिसमें अहं नहीं रहता, observer नहीं रहता, सिर्फ observation रहता है, यह observation कौन करता है?

उत्तर: करता नहीं है। कोई करता नहीं है वहां। यानी observation करने वाला कोई नहीं है वहां।

प्रश्नकर्ता: Observation होता है......

विमला बहन: देखिये, यह जो ऊर्जा है न, energy है इसको कोई चैतन्य कहता है— कोई इसको आत्मतत्त्व कहेगा। कोई इसको Supreme Intelligence कहेगा। उसको आप सच्चिदानंद नाम से पुकारिये। आत्मा के नाम से पुकारिये। नाम चाहे जो दीजिये। लेकिन यह जो Basic Energy है—यह जो एक मूलभूत ऊर्जा है—जिसका संचार आप सबकी आंखों में या बोलने वाले की ज़बान में चल रहा है, यह जो है, इसकी गति होती रहती है। जब जहां आप कह रहे हैं उस प्रकार दर्शन द्रष्टा में समा जाता है, वहां द्रष्टा की द्रष्टापन की अवस्था समाप्त होकर साक्षित्व रह जाता है। The observed and the observer mingle into the Eternal Witness. अब साक्षित्व कहूँ या चित् शक्ति कहूँ, उसमें 'मैं देख रहा हूं, मैं अनुभव ले रहा हूँ'—यह कहने के लिये कोई बचता नहीं है। मैंने कहा कि आत्म-दशा में अनुभव के लिये, अनुभूति के लिये, स्थान नहीं है। In the realm of realisation and liberation, even transcendental experiences have no place. अनुभूति नाम की चीज़ ही नहीं रहती है। तो होता यह है कि हेतुरहित देखना—यह सध जाता है। अहैतुक। आख़िर निरीक्षण का यही अर्थ है न। Observation का यही अर्थ है कि उस वस्तु से मेरा जो संबंध है, point of contact है, वह

किसी motive का नहीं है। किसी हेतुका नहीं है प्रयोजन का नहीं है। दोनों प्रकार का प्रयोजन—उससे कुछ मुझे लाभ नहीं लेना है, और मुझे उसमें कुछ परिवर्तन नहीं करना है। परिवर्तन करने की आकांक्षा भी अहंकार की चेष्टा है। यानी कुछ हेतु है, motive है उसमें। या उससे मुझे कुछ प्राप्त करना है, तो भी motive आया। अब यह जो motiveless perception है वह observation है। अहैतुक दर्शन है, उसको हम observation कहेंगे। तो, भाई, उदाहरण तो सामान्य मनुष्यों के अनुभव में आने वाले लेने पड़ते हैं—दृष्टांत या अनुभव हमेशा एकदेशीय होते हैं। वे सब तरफ़ से आपका समाधान तो नहीं कर सकते।

लेकिन जिनको प्रभुकृपा से कभी जीवन में प्रेम के क्षण उपलब्ध हुए होंगे,—किसी व्यक्ति के साथ प्रेम हुआ होगा—प्रेम के क्षण—तो उनमें उन दो व्यक्तियों के बीच संबंध क्या रहता है? वहाँ प्रेम करने वाला कोई है? जिससे प्रेम किया जा सकता है—ऐसा कोई है? और यदि नहीं है तो उनके संबंध में उस समय what is the reality between the two?

प्रेम मैं कर रहा हूँ और इस व्यक्ति पर प्रेम कर रहा हूँ तो वह व्यक्ति भी बचा और प्रेम करने वाला भी बचा। वह तो प्रेम की अवस्था नहीं है। वह मोह हो सकता है, वह sexual attraction हो सकता है। सुबह जैसे कहा गया था, उस प्रकार विचारों की, भावनाओं की, गुणों की, hobbies की, similarity के कारण attraction हो सकता है—वह नहीं। उसकी बात नहीं कर रही हूँ मैं। क्योंकि प्रेम के नाम पर बड़ी सस्ती चीज़ें आजकल बिकने लगी हैं। यह नहीं कह रही हूँ कि उनका स्थान

नहीं। मैं उसका निषेध नहीं कर रही हूँ और उनका निषेध करते-करते मानव-जाति आज तक चली आयी है। निषेध से कुछ लभ्यांश नहीं हैं। निषेध नहीं करते हैं। मैं कहना चाहती हूँ—यानी, काम में, काम रखने वाला और जिसके विषय में काम रहता है—वे दो तो बचते हैं। लेकिन प्रेम में दो नहीं बचते।

इसलिए कहा कि प्रभुकृपा से यदि प्रेम के क्षण उपलब्ध हुए हों जीवन में—तो देखने में आया होगा कि वहाँ प्रेम करने वाला तो कोई नहीं। द्वैत का संपूर्ण समग्रता से विलय हो जाता है और फिर भी वहाँ static (अचल) कुछ नहीं है। वहाँ dynamism है। The reality existing between two such persons is so dynamic—nothing is as dynamic as love. प्रेम के जैसा गतिमान् तो कोई तत्त्व नहीं है। तो प्रेम के क्षण में द्रष्टा भी नहीं, दर्शन भी नहीं; कर्ता भी नहीं; भोक्ता भी नहीं, भोग्य भी नहीं। यह जो एक अवस्था है न—उसको थोड़ा-सा समझ सकते हैं।—यानी एक झलक उससे मिलती है कि जहाँ observer यानी निरीक्षक—जो observed है—जो दृश्य है, इन दोनों का संबंध, दर्शन द्रष्टा में समा जाता है और द्रष्टा का द्रष्टा-भाव भी समाप्त होकर केवल चैतन्य की सत्ता-मात्र रह जाती है। The Pure Is-ness। विशुद्ध सत्ता चैतन्य की, आत्मा की, शेष रह जाती है। साक्षित्व शब्द भी सोपाधिक है—वह भी अच्छा नहीं है। मैंने कह दिया। लेकिन उस शब्द को भी वापिस ले लेती हूँ। साक्षित्व भी—it is a relative term; witness of what? साक्षित्व—साक्षित्व किसका? इसलिए वह भी शब्द कुछ हल्का पड़ गया। मैंने सुबह कहा था न, कि बड़ी परेशानी है। वह शब्द भी हल्का पड़ गया। उसको भी हटा लीजिये। रह जाता है विशुद्ध अस्तित्व। विशुद्ध चित्सत्ता।

Have I answered your question ?

प्रश्नकर्त्ता : Is there a vacuum ?

विमला बहन : Vacuum यानी क्या ?

Vacuum का अर्थ क्या है ?

Vacuum का अर्थ—रिक्तता के अर्थ में Vacuum कह रहे हैं ? क्योंकि शून्यता Vacuum नहीं है। रिक्तता में और शून्यता में फ़र्क है। Tub है। Tub में पानी भरा था। पानी को निकाल दिया। Tub रिक्त हो गया। Tub शून्य तो नहीं हुआ। तो रिक्तावस्था में और शून्यावस्था में फ़र्क है। आप लोग और हम लोग सब इस कमरे में बैठे हैं। आपके और मेरे बीच जो space है—जो शून्यता है—वह रिक्तता नहीं है। The space between you and me—यह रिक्तता नहीं है। This is not a vacuum. आपके और मेरे बीच Vacuum नहीं है न। space है और वह जो space है—वह जो अंतराल है—वह जो अवकाश है—वह इतना घन है।

तो आप जब पूछते हैं कि फिर क्या Vacuum रह जाता है ? तो Vacuum तो नहीं रह जाता—रिक्तता तो नहीं रह जाती। लेकिन—!

यह तो पवन को मुट्ठी में बांधने का प्रश्न पूछ रहे हैं ! पवन को मुट्ठी में बांध कर दिखा दूं—ऐसा प्रश्न है यह ! और पवन को कोई मुट्ठी में बांध नहीं सकता ! रिक्तता नहीं रह जाती है। शून्यता रह जाती है। यानी दृश्य जब द्रष्टा में समा जाता है—when observed becomes one with the observer उसमें जो विशुद्ध चित्सत्ता—Pure Isness है,—उस Isness में passivity नहीं है, उसमें जड़ता नहीं है—उसमें रिक्तता नहीं है। उसमें है सघनता। सर्जन की,

creativity की, सर्जनशीलता की ऐसी सघनता है कि जहाँ भी उसको कोई स्पर्श करने जायगा, तो किसी बिजली के तार— आप जो high voltage कहते हैं न, ऐसे किसी तार का स्पर्श हो जाय तो उस प्रकार झनझना जायेंगे ! तो ऐसे Pure Is-ness में, विशुद्ध चित्सत्ता में, प्रयोजन और हेतुरहित अवस्था में रहने वाले व्यक्ति का, स्पर्श तो क्या, उपस्थिति भी, दूसरों के जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन ला देती है। इसलिये वहाँ रिक्तता नहीं है। वहां भयानक सघनता—ख़तरनाक सघनता है। The intensity, the gap and the infinity of motion—चूंकि चैतन्य का स्वभाव भी dynamism है न, energy का स्वभाव ही dynamism है न,—तो वह ऐसी कुछ सघनता भरी पड़ी है, इतनी उसमें गहराई है, इतनी समृद्धता उसमें है - कि कहीं से भी, उपस्थिति मात्र से भी, वहां परिवर्तन लाने की शक्ति शून्यता में है।

प्रश्न : आप ने उसे 'ख़तरनाक' क्यों कहा ?

विमला बहन : ख़तरनाक इसलिये, भाई, कि मनुष्य बड़े-बड़े सपने रखता है। बड़ा होऊंगा, धन कमाऊंगा, घर बसाऊंगा, मेरी स्त्री—मेरे बच्चे - मेरा मकान, मेरी दौलत—मेरा समाज—मेरा धर्म—और वह तो जो मेरा कहनेवाला है, उसी को उठा कर भागता है ! इसलिये मैंने उसको ख़तरनाक कहा कि वह फिर अहं और मम, मैं और मेरा, दोनों चीज़ों को हटा देता है। पाँव रखने को अहंकार के धरती नहीं है। और हाथ फैलाने को ममता के परिधि नहीं है—। ऐसे एक क्षेत्र में जाकर के खड़ा हो जाता है। It is a bottomless pit. And it is a directionless motion. घबड़ा जाता है न !

और ख़तरनाक जान बूझ कर भी कहा। क्योंकि आजकल अध्यात्म आप के समाज में बहुत fashionable होने लगा है। इसलिये भी मैं कह रही हूं कि यह ख़तरनाक चीज़ है। इसके साथ सम्हल कर पेश आना चाहिये।

प्रश्न: आप ने कहा कि 'ऊर्जा का संचार कभी बंद होता है...'। वह क्यों और कब बंद होता है?

उत्तर: अभी आकर कोई गरदन काट लें तो अभी ऊर्जा का संचार बंद। उसमें तो—।

प्रश्नकर्ता: उसमें तो biological changes हैं न, human body में?

विमला बहन: अनेक अनेक factors हैं उसमें। अनेक तत्त्व आ जाते हैं। यह तो शरीर भी हमारा एक collective entity है न। शरीर भी एक biologically, it is a collective entity. उसको आप की परिभाषा में रखूं तो पंच महाभूत हैं उसमें।

अब कब और कैसे बंद हो जाता है? किसी का accident से बंद हो जाता है—किसी का व्याधि से बंद हो जाता है—किसी को विचार का, भावना का, इतना धक्का लगता है कि उस jerk से ही बंद हो जाता है। Now, what are you exactly asking? I wonder if I have got you? आप पूछना क्या चाहते हैं, भाई,?

प्रश्नकर्ता: उसकी कोई—human body की कोई—मर्यादा कोई time-limit...?

[प्रश्न का मात्र भावार्थ ही यहां है। पूरा प्रश्न tape में स्पष्ट पकड़ा नहीं गया।]

विमला बहन : अरे, भाई, हिन्दुस्तान में ४८ साल की मर्यादा है। तो वह डेन्मार्क और नार्वे में ८० साल के बूढ़े और बूढ़ियां सायंकाल को घूमते हैं मजे में! मर्यादा कैसी बतलाई आपने?

आप कुछ दूसरा सवाल पूछना चाहते हैं। मैं समझ रही हूं। लेकिन आप पूछेंगे, तभी जवाब दूंगी! आप का point दूसरा है। यह point नहीं है।

लिखित प्रश्न : आप कहती हैं कि कर्म और आध्यात्मिकता का समझौता नहीं हो सकता।—

विमला बहन : कर्म है कि धर्म है? प्रश्न पढ़नेवाली बहन : प्रश्न में कर्म लिखा है—

विमला बहन : अच्छा, अच्छा। कोई बात नहीं।

[प्रश्न पढ़नेवाली बहन प्रश्न को आगे पढ़ती है]—तो क्या गांधीजी, आचार्य विनोबाजी, विवेकानंद स्वामीजी ने जो किया, वह अध्यात्मजीवन नहीं था? या अध्यात्म का अर्थ, पवित्रता, कर्मण्य अवस्था में रहना है?

विमला बहन : भाई, किसी ने सवाल पूछा है कि कर्म का और अध्यात्मका समझौता नहीं हो सकता है। ऐसा कब कहा, भाई, मैंने? धर्म कहा था मैंने। समझौता नहीं है। कहा था कि—

एक बहन : व्यावसायिक जीवन, सुख-संपत्ति बढ़ाना वगैरह...उसके साथ समझौता अध्यात्म का—

विमला बहन : ओ...हो...हो...हो,। हां, भाई मेरे, मुझे ज़रा अभिव्यक्ति का अभ्यास नहीं है, तो मैं ठीक से रख नहीं पाती हूं ऐसा है—मैंने यह कहा कि आप व्यवसाय में हैं।

आप नौकरी में हैं। आप व्यापार में हैं। आप राजनीति में हैं। तो आज जिस प्रकार से, मूल्यों को लेकर आप चला रहे हैं—वे मूल्य, वे मान्यताएं—वे भी क़ायम रहें, और यह जो आत्मसाक्षात्कार है, वह भी उपलब्ध हो—ये दोनों नहीं हो सकते हैं।

उदाहरण मैंने उसी समय दिया था कि यदि आपकी समझ में आ जाय कि सत्य से चलना चाहिये तो आप सच बोलेंगे। जो सत्य आपकी बुद्धि देखती है, वह सत्य आपकी वाणी बोलेगी। और वह सत्य आप बोलने जायेंगे, तो फिर आप व्यापार में हों, तो आप income-tax के लिये दूसरा झूठा रजिस्टर नहीं बना पायेंगे। मैं आपको, किस अर्थमें, मैंने कहा होगा, यह समझा रही हूँ। कि भाई, Income Tax के लिये अलग रजिस्टर रखो, और अपना private है वह अलग रखो। आप कर ही नहीं पायेंगे। आप कहेंगे—ठीक है। Higher, higher, highest taxation ये government क्यों नहीं लाती है। मैं समाज में रह रहा हूँ, तो जितना देना है—दूँगा। फिर मेरे हिस्से में २५% के बदले १०% (२५ प्रतिशत के बदले १० प्रतिशत) बचें, कोई बात नहीं। या तो मैं समाज में रहूँगा नहीं, और जंगल में जाके रहूँगा, या यहाँ रहता हूँ तो मैं evasion of income-tax नहीं करूँगा। यदि आध्यात्मिक व्यक्ति है—तो उसको इसके लिये inner compulsion पैदा कर देगी कि वह व्यक्ति smuggling नहीं कर सकेगा। वह black-marketing नहीं कर सकेगा। वह, यदि उसका, वरिष्ठ अधिकारी है, नौकरी कर रहा है, वह वरिष्ठ अधिकारी शिक्षण क्षेत्र का हो या और कहीं का हो—वह उससे कोई झूठा काम कराना चाहता है—तो वह नहीं करेगा। वह कहेगा कि यह काम मैं नहीं

करूँगा। 'अरे तू नहीं करेगा तो तेरी नौकरी छूट जायेगी'। 'कोई बात नहीं, छूट जायेगी—लेकिन मैं यह काम नहीं करूँगा'।

इस अर्थ में मैंने कहा—कि जिस प्रकार के मूल्यों को, मान्यताओं को लेकर आप आज चलते हैं—समाज की प्रतिष्ठा, धन, दौलत, संग्रह,—आज तो यह है कि 'येन केन प्रकारेण धनिको भवेत्। येन केन प्रकारेण सत्ताधीशो भवेत्'। तो यह 'येन केन प्रकारेण' वहां चलेगा नही। यह मैं कह रही थी। कि सत्य की एक चिनगारी, एक रश्मि, एक किरण भी चेतना को छू जाय, तो आपके जीवन के हर पहलू में वह ऐसा एक घोर मंथन पैदा कर देगी, एक विप्लव पैदा कर देगी। फिर आप यह नहीं कह सकेंगे कि मैं तो किसी का भी शोषण करके पैसा कमाऊँगा, और बाद में मंदिर बांधने के लिये दान कर दूँगा, तो फिर यह पाप जो है, वह हट जायगा। आप कहेंगे—इतना कमाना ही क्यों भाई! सत्य से, न्याय से, धर्म से रहकर जितना कमा सकता हूँ, उतना कमाऊँगा। पहले कमाओ, और फिर दान से पाप का परिमार्जन करो। यह कौन करे?

तो यदि मैंने समझौते की बात कही तो यह समझौता इस प्रकार नहीं हो सकता। धार्मिक व्यक्ति कर सकते हैं। मंदिर में जायेंगे, पूजा करेंगे। आहार विहार में शुद्धता रखेंगे। लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि ऐसा व्यक्ति अपने घर जाकर, पति है तो पत्नी से इर्ष्या नहीं करेगा, उस पर क्रोध नहीं करेगा, नौकरों को डांटेगा नहीं, बच्चे को मारेगा नहीं। यह नहीं हो सकता। धार्मिक व्यक्ति बहुत धार्मिकता के साथ ये सब कर सकते हैं। लेकिन आध्यात्मिक व्यक्ति यह कर नहीं पाता। इसलिये समझौते की बात मैंने कही कि समझौता नहीं होता।

आपने पूछा है क्या आगे? गांधी विनोबा...क्या है? [प्रश्न पढ़ने वाली बहन पढ़ती है।... गांधीजी, आचार्य विनोबाजी, और विवेकानन्द स्वामी ने जो किया, वह अध्यात्म जीवन नहीं था? क्या अध्यात्मका अर्थ पवित्रता, कर्मण्य अवस्था में रहना है?]

पहले तो भाई, आप और हम कर्म नहीं करते हैं। हम क्रियारत हैं। Activity and action—ये दो चीज़ें भिन्न हैं। इन्द्रियों के वश होकर, इन्द्रियों की गुलामी में, इन्द्रियों की हुकूमत में जो कुछ होता है, वह क्रिया है। Activity है। वह Action नहीं है। और मैंने यह कहा होगा कि अध्यात्म में इस प्रकार का जो क्रियासक्त जीवन है, इन्द्रियों की गुलामी में जो कुछ किया जाता हैं, पराधीन चेष्टा जो है, वह नहीं रहती।

कर्म तो हम जानते ही नहीं हैं न। कर्म का प्रारम्भ ही जहां इन्द्रियों की और मन की गुलामी समाप्त होती है, वहां समग्रता में से कर्म खिल उठता है। जैसे कोई कमल खिलता हो।

क्रिया-मात्र खंडित है। मन एक चाहता है, तो बुद्धि दूसरा चाहती है। हमारा तो मन कुरुक्षेत्र है भाई। इसमें परस्पर-विरोधी वासनायें, आकांक्षायें,—इनका युद्ध चलता रहता है। कभी इसके गुलाम, कभी उसके गुलाम। तो क्रिया मात्र समग्रता में से उठती नहीं है। Every mental activity is a fragmented activity. It is not born out of totality of your being. आपकी समग्रता में से कर्म का पुष्प तब खिल उठता है जब इंद्रियोंकी और मन की गुलामी समाप्त होती है।

तो अध्यात्म में ही, आत्मदशा में ही कर्म संभव है। तब तक नहीं।

अब आप गांधी, विनोबा या विवेकानन्दजी का प्रश्न मुझे क्यों पूछते हैं ? गांधी, विनोबा या विवेकानन्दजी का बाहरी जीवन जो किताबों में लिखा गया, वही आप और हम जानते हैं। उन लोगों का जो आंतरिक जीवन होगा—वह कौन जानता है ?

विनोबा चलते हुए भी चलते हैं कि नहीं, उनके चलते हुए शरीर में शांत मन है और हमारे बैठे हुए शरीरों में without ticket बिना टिकट दुनिया में घूमने वाला मन है। वे चलते हैं कि नहीं चलते हैं ?

आंदोलन का नेतृत्व उनके व्यक्तित्व पर इतिहास ने लाद दिया, लेकिन नेतापन की भावना उनमें है या नहीं—इसका आपको पता नहीं होगा। लेकिन हम तो अपने-अपने घर में और 'ग्रुप' (group) में नेता बनकर बैठते हैं। हमें क्या पता—

गांधी को तो मैंने देखा नहीं। मैं उनकी बात क्या करूँ ! विवेकानंद को देखा नहीं है, उनकी बात क्या करूँ ! लेकिन विनोबा को देखा है। ऐसे जो बड़े लोग है उनके बारे में अनुमान से बोलने का पाप मैं क्यों करूँ ?

लेकिन जो देखा है वह यह देखा है कि शरीर चलता है। लेकिन शरीर के भीतर बैठा हुआ चलता है कि नहीं कौन जानता है। किसी ने विनोबा को पूछा था कि 'तुम ब्राह्मण हो तो तो देशस्थ ब्राह्मण हो कि कोंकणस्थ ब्राह्मण हो ?' महाराष्ट्र में वह फ़र्क है—कोंकण में रहनेवाले कोंकणस्थ और इधर मैदान में रहनेवाले, पूना की ओर देशस्थ हैं—नागपुर की तरफ़ रहने वाले। विनोबा ने कहा कि मैं कायस्थ हूँ और आत्मस्थ हूँ। काया में रहता हूँ और आत्मा में प्रतिष्ठित हूँ। अब मेरी जाति जो समझनी

है, वह तू समझ ले। अब ऐसे आदमी कर्म करते हैं कि नहीं करते हैं यह बताने वाले आप और हम कौन!

हाँ, तो इनकी चर्चा तो आप छोड़ दीजिये। व्यक्तिसापेक्ष प्रश्न मत पूछिये मुझे। उसमें सीखने का इतना है कि हजारों में रहते हुए भी वे आत्मरत हैं।

———

दिनांक— २२-१-६८

प्रात:काल । संवाद

जीवन का प्रयोजन सुख नहीं है, जीवन का प्रयोजन ज्ञान नहीं है, जीवन का प्रयोजन कर्म या भक्ति भी नहीं है, जीवन का प्रयोजन आनन्द है। The purpose of life is Bliss.

इसका अर्थ यह नहीं कि शरीरको सुख में न रखें। एक Sadistic view (पीड़नरतिक दृष्टिकोण) लेकर शरीर को कष्ट में रखें, यह अभिप्राय ज़रा भी नहीं है। जीवन का प्रयोजन ज्ञान नहीं, इसका अर्थ यह नहीं है कि अज्ञान में रहें। ज्ञान यानी जो वस्तुएँ हैं—जो पदार्थ हैं, जो सृष्टि है—उसकी यथार्थता से परिचय। Correct information about the objects around you—dead and alive, both. तो परिस्थिति में जो यथार्थता है उसका सम्यक् दर्शन ज्ञान कहलाता है। 'ज्ञान प्रयोजन नहीं'—इससे यह मत समझिये कि अज्ञान की तरफ़दारी हो रही है। मूढ़ता की तरफ़दारी हो रही है; ऐसा मत समझिये। हाथ हैं, पाँव हैं, मन है, बुद्धि है – उनको चलाना है। फिर ढंग से चलायें। वाहन मिले हुए हैं। आप के पास वाहन है—मोटर है—तो उसकी टंकी में पेट्रोल न हो, उसको Oil (तेल) दिया हुआ न हो,—gears jammed (गीयर' फँसे हों, अटके हों) हो, brakes (ब्रेक) काम न करते हों - और फिर आप मोटर चलाने बैठें—तो कोई समझदार व्यक्ति आपकी मोटर में नहीं बैठेगा। वह कहेगा कि ये मोटर को चलाने की क्षमता रखते नहीं है। इसमें नहीं बैठना चाहिये। तो जिस तन में और मन में हमारा निवास है, हम रहते हैं—उसको स्वस्थ रखना, सुन्दर रखना, समर्थ रखना,

ये तो आवश्यकतायें हैं; लेकिन यह जीवन का प्रयोजन नहीं। सुख के पीछे दौड़ने वाले मनुष्य ने विज्ञान की मदद से, यंत्रोंकी मदद से, औषधियों की, द्रव्यों की मदद से, तन को, मन को सुख में रखने का बहुत प्रयास किया है! आज तो ऐसे द्रव्य निकले, ऐसी औषधियाँ निकली हैं—कि यदि आप दुःख में हैं तो आपकी गरदन का कोई एक local point of pain पीड़ा-स्थल होता है—या pleasure (सुख) का स्थान होता है—तो उस सुख की जहाँ से संवेदना उठ सकती है—ऐसे point (स्थान) को वे tickle (गुदगुदी) कर देते हैं। या एक रसायन उसमें inject (इंजेक्ट) कर देते हैं। तो आप घोर दुःख में क्यों न हों आप हँसने लगेंगे। अमेरिका में डॉक्टरों ने यह तज्वीज़ निकाली है—यह व्यवस्था निकाली है कि दुःख में हों—if you are in the blues, बहुत depression में हैं तो pain-points and pleasure-points have been located in your neck and in the back side of the brain. (गरदन में और मस्तिष्क के पीछे पीड़ा और सुख के स्थान या केन्द्र-बिन्दु खोज निकाले गये हैं) इस तरह मस्तिष्क में जैसे आप का point of balance (संतुलन का केन्द्र-बिन्दु) होता है, point of sight (दर्शन का केन्द्र बिन्दु) होता है—मस्तिष्क में ऐसे केन्द्र-बिन्दु हैं कि जहाँ आपका संतुलन balance का बिंदु है—वह चलित हो जाये—या वह काम न करे, तो आप खड़े होते ही चक्कर खाकर गिर जाते हैं। या auditory nerves (श्रवण-सम्बन्धी स्नायु) हैं, उनकी क्षमता घट जाये, तो आप सुन नहीं सकते। उनको जिस प्रकार समर्थ बनाया जा सकता है, उस प्रकार ये जो दुःख और सुख के points (केन्द्र-बिन्दु) locate (निश्चित स्थान वाले) कर दिये गये हैं, तो जेब में—वहाँ के करोड़पति ऐसी डिब्बियां रखते हैं जिनमें battery (बैटरी) होती है। तो उसको अपेक्षित

point (केन्द्र बिन्दु) के साथ जोड़ देंगे। तो जो दुःख में हैं, कष्ट में हैं, उनको हँसने की इच्छा होगी, आनन्द में आ जायेंगे।

सुख के साधन और दुःख को टालने के तरीके मनुष्य ने बहुत निकाले। फिर भी, सुख की उपलब्धि के बाद भी, आनंद उसको उपलब्ध न हुआ। सुख में और आनंद में मूलतः फ़र्क है। बुनियादी फ़र्क है। सुख दुःख की छाया है—या दुःख सुख की छाया है। सुख कभी अकेला आ ही नहीं सकता। जैसे सफलता की छाया में विफलता पलती है, वैसे सुख की छाया में दुःख पलते हैं। हर्ष की छाया में शोक पलते हैं। वे छिपे हुए रहते हैं—कभी प्रकट हो जाते हैं। लेकिन ऐकान्तिक सुख उपलब्ध किया है जीवन में, और दुःख का स्पर्श ही नहीं है—यह हो नहीं सकता। क्योंकि सुख जीवन का तथ्य नहीं, चित्त की प्रतिक्रिया है। संवेदना है।

Pain and pleasure are the reactions of mind to objective situations. परिस्थिति के प्रति चित्त की अनुकूल प्रतिक्रिया, प्रतिकूल प्रतिक्रिया; शरीर की प्रतिकूल प्रतिक्रिया—शरीर की अनुकूल प्रतिक्रिया—यही सुख-दुःख या दुःख-सुख है।

आप यहाँ बैठे हैं—आप के शरीर को ठंड लगती है और मेरे शरीर को गरमी लगती है। बाह्य जो temperature (तापमान) है, जो fact है—जो तथ्य है—वह एक ही है। लेकिन उसमें नितान्त भिन्न ही नहीं—नितान्त विरोधी अनुभूतियाँ एक साथ दो व्यक्तियों को आ सकती हैं। एक कहेगा—'बहुत गर्मी है' दूसरा कहेगा—'बहुत सर्दी है'।

इसलिए संवेदनाओं को अनुभव करने की शक्ति भी देश, काल, परिस्थिति के अनुसार, संस्कारों के अनुसार, बदलती है।

सुख एक सापेक्ष अनुभव है। Happiness is a relative experience.

दूसरी बात। सुख जीवन का प्रयोजन इसलिए नहीं है कि सुख में, दुःख में, हर्ष में, विषाद में, एक प्रकार की उत्तेजना है, उसमें संतुलन नहीं है। there is a kind of excitement in happiness as well as in sorrow. और उत्तेजना का अर्थ ही है संतुलन से चलित होना। Poise को, संतुलन को—समतुला कहते हैं शायद, गुजराती में—समतुला को खो देना ही उत्तेजना है। उत्तेजना का—the content of excitement is temporary loss of balance—of poise.

तो हर्ष में उत्तेजना है, शोक में उत्तेजना है। दुःख में उत्तेजना है, सुख में उत्तेजना है और उत्तेजना स्वास्थ्य नहीं है।

अतीन्द्रिय अनुभूतियों के बारे में कुछ कहा गया था—सोचा गया था—कहा गया था कि अतीन्द्रिय अनुभूतियों में नशा है। मस्ती है। intoxication है। जिस प्रकार इंद्रियों की अनुभूतियों में सुख-दुःख हैं, उस प्रकार अतीन्द्रिय अनुभूतियों में भी सुख-दुःख हैं। हर्ष-शोक हैं और जैसे इंद्रियों के द्वारा जो सुख हम ग्रहण करते हैं, उसमें नशा है—उस प्रकार अतीन्द्रिय अनुभूतियों में नशा है, उसकी मादकता है। उसकी मस्ती चढ़ जाती है। कहते हैं 'वह मस्ताना है'। 'वह बेहोश है'। 'बालोन्मत्त-पिशाचवत्' है—यह 'बालवत्' हो, 'उन्मत्तवत्' हो, 'पिशाचवत्' हो - यह स्वास्थ्य नहीं है।

तो, आनंद एक ऐसी अवस्था है जिसमें उत्तेजना नहीं है। जिसमें आना और जाना नहीं है। जिसमें बढ़ना और घटना नहीं है। वह कोई ऐसी ज्योति नहीं है जिसमें बाहर से तेल दिया जाने पर ही वह जलेगी। वह ज्योति भी है, और तेल भी

है, और जो बची होती है वह भी स्वयं है। Bliss is the movement of self-generatinge nergy. स्वयं-चालित वह जो ऊर्जा है, उस ऊर्जा की जो सहज गति है, उसका नाम आनंद है। इसलिए कहा कि जीवन का प्रयोजन सुख नहीं, ज्ञान नहीं, कर्म नहीं, भक्ति नहीं। जीवन का प्रयोजन आनंद की दशा है।

और जाने-अनजाने मनुष्य इसकी खोज करता है। वह समझ रहा है कि मैं सुख की खोज में हूँ। लेकिन सुख की खोज नहीं, खोज तो आनंद की रही और आनंद की खोज में रास्ते में सुख मिला, उसमें फँस गये; और दुःख दिखा तो उससे भाग गये— तो आनंद तक पहुँच नहीं पाते। यह आनंद की अवस्था जो है— वह आत्मा की सहजावस्था है। यही, यही जीवन है। जीवन का प्रयोजन कहने में प्रारंभ के लिए सूचक शब्द का उपयोग किया। लेकिन कहना यह चाहते हैं कि आनंद ही जीवन है। आनंद का अभाव मृत्यु है और आनंद की उपलब्धि जीवन है। कल कोई पूछ रहा था कि जब द्रष्टा भी नहीं और दर्शन भी नहीं—तो शेष क्या रह जाता है? शेष रह जाता है आनंद।

यह जो ऊर्जा का सहज हलनचलन है—वही आनंद है। तो संसार में रहते हुए, घर-गृहस्थी के अपने जो दायित्व हैं उनको चलाते हुए, अनंत प्रकार के अनंत स्वभाव के व्यक्तियों के साथ संबंध में आते हुए, मनुष्य का अधिष्ठान इस आनंद में हो— इसमें जीवन की सार्थकता है—धन्यता है। यह तो हो नहीं सकता कि शरीरधारी हैं, समाज में रह रहे हैं तो दायित्व न हों। समाज के जो नीतिनियम हैं, उनका पालन न हो। रास्ते पर चलने के नियम हैं, परिवार में रहने के कुछ नियम हैं, कुछ मर्यादायें हैं। परंपरागत न हों—तो सबकी संमति से निर्माण किये हुए हों, कुछ व्यवस्था है। Understanding for certain manage-

ment of human relationship, चाहे वह आस्तिक व्यक्तियों के समाज में हो, चाहे वह नास्तिक व्यक्तियों के समाज में हो। जहाँ मनुष्य ने पशुवत् रहना छोड़कर, समुदाय या गिरोह बनाकर रहना छोड़कर, समाज बनाना शुरू किया—वहाँ व्यवस्था को उसने स्वीकार लिया और व्यवस्था मर्यादा है।

इसलिये इनमें तो रहना होता है। लेकिन इनमें रहना—जैसे मोटर चलाते हुए यह बोध क्षण भर के लिये भी नहीं नष्ट होता कि मोटर मुझसे अलग है और मैं मोटर चला रहा हूँ, विमान मैं चला रहा हूँ—उस प्रकार शरीर में बैठे हुए, यह बोध पल भर के लिये भी नष्ट नहीं होता है, ऐसी दशा है। पल भर के लिये यह बोध नष्ट नहीं होता है कि यह तो वाहन है, जिसमें बैठा हूँ। यह वाहन है—इसको चला रहा हूँ। उसके लिये कोई वेदवेदांत उपनिषदों को ही रटने की ज़रूरत नहीं। पढ़ लो, समझ लो, तो वह भी अच्छा है। उसका निषेध भी नहीं। ग्रंथों का निषेध और व्यक्तियों का निषेध करना—मुझे नासमझदारी की बात लगती है। उनका आग्रह रखना—व्यक्ति-प्रामाण्य—ग्रंथ-प्रामाण्य का आग्रह रखना जिस प्रकार एक नादानी है, उसी प्रकार उनका निषेध भी नादानी है। आवश्यकता है. पढ़ लिया, रुचि है पढ़ने की, पढ़ लिया। समझ में आया, समझ लिया। ग्रंथ थोड़े ही कहते हैं कि हममें तुम फंस जाओ! और शब्द थोड़े ही कहते हैं कि हमारे पिंजड़े बना कर उनमें तुम्हारी बुद्धि को गिरफ्तार करो! फंसने वाला कहीं भी फंसे। ग्रंथों में और मरे हुए व्यक्तियों में नहीं तो जिन्दा व्यक्तियों में फंसेगा। और प्रामाण्य स्वीकार नहीं करेंगे—इसी का एक संप्रदाय बना लेगा। मन की करामात तो है! इसलिये निषेध नहीं कर रहे हैं। यह कह रहे हैं कि एक आनंद की, आत्मा की सहजावस्था यानी आनंद की एक

ऐसी अवस्था है, जहाँ प्रतिष्ठित होने के बाद शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सभी व्यवहार करते हुए भी, अधिष्ठान नहीं छूटता। आनंद को उपलब्ध व्यक्ति के पांव में कांटा चुभ जाय—तो उसके शरीर को वेदना नहीं होगी—ऐसा इसका अर्थ नहीं है। वेदना होगी; शरीर से, पांव से खून भी निकलेगा। वह यह नहीं कहेगा कि शरीर मिथ्या है तो कांटा भी उसमें सड़ने दो। और यह यदि कहता है—तो it is a morbidant perverse mentality (यह एक रोगग्रस्त विकृत मनोदशा है)। शरीर है, कांटा चुभा है, निकाल दो। खून आया है तो दवा लगा लो। फिर 'कांटा चुभा, कांटा चुभा, कांटा चुभा था इसलिये दूसरी बार उस रास्ते पर ही नहीं जाऊँगा'—तो फिर आपने कांटा चुभने की सहज घटना को अपने मनसे जटिल बना दिया, और उसमें Fear-complex जोड़ दिया। अब यह मन की करामात है। कांटे ने नहीं कहा कि मुझसे डरो। अवधान नहीं था, कांटा चुभा। सहज घटना है। जीवन बड़ा सरल है। पता नहीं, मैं मनुष्य की यह 'कुशलता', जीवन को जटिल बनाने की 'कुशलता' देख कर हैरान हो जाती हूँ। और फिर अपनी ही निर्मित जटिलता के जाल में ऐसे फंस जाता है—कहता है, 'मैं बंध गया हूं, मैं बंध गया हूँ'। न मुझे बंधन दिखता है, न मुक्ति दिखती है। सहजावस्था जीवन है। मुक्ति की महिमा गाने वाले अप्रत्यक्ष रीति से बंधन की महिमा गा रहे हैं। 'मुक्ति और मोक्ष जीवन का ध्येय है' कहने वाले जाने-अनजाने बंधन को बहुत गौरवशाली स्थान दे रहे हैं। बंधन है कहाँ—जो मुक्ति हो ?

Maladjustments (कुसमंजसताएँ) हैं। Emotional and intellectual maladjustment with reality is called bondage. (वास्तविकता के साथ भावनात्मक और

बौद्धिक कुसमंजसताएं ही बन्धन कहलाती हैं)। परिस्थिति के साथ जो तुम्हारा संबंध है, जो व्यवस्था होनी चाहिये--वह वैज्ञानिक व्यवस्था कर नहीं पाये हो, समझदारी के साथ व्यवस्था कर नहीं पाये हो। देह के साथ जो नाता तुम्हारा है, रिश्ता है,—उसको समझ नहीं पाये हो। मनके साथ नाता, रिश्ता, संबंध है उसको नहीं समझ पाये हो तो जिसको आप लोग बंधन कहते हैं, दुःख कहते हैं संसार·····, पता नहीं, क्या क्या······, 'भवसागर' कहते हैं—, 'घोर है', 'दुस्तर है'—ऐसी निंदा करते हैं, इसी संसार में रहते हुए, इसी देह में रहते हुए। उस देह के एक-एक रोम में एक-एक ज़बान होती तो आप लोगों की ख़बर लेती! वेज़बाँ है। निन्दा करते जाते हैं।

ब्रह्मचर्य और संन्यास का स्तोत्र जिस देश में गाया जाता है, समझना चाहिये—वह देश Sex-obsessed (यौन भावना से अभिभूत) है। Sex-obsession (यौन भावना से अभिभूत होने) के सिवा ब्रह्मचर्य और संन्यास को इतना अनावश्यक महत्त्व कोई समाज नहीं देगा। सारे समाज की चेतना में यह बीमारी फैली है। जब यह बीमारी फैल जाती है तब उसके Sublimation (उदात्तीकरण) के लिये ब्रह्मचर्य और संन्यास के स्तोत्र गाये जाते हैं।

इसलिये कहा कि आनंद की अवस्था एक ऐसी अवस्था है, जिस अवस्था में, अधिष्ठान में प्रतिष्ठित होने के बाद, जो प्राप्त परिस्थिति है, सामने जीवन जो-जो आपके लाता है, जिन व्यक्तियों को लाता है जिन परिस्थितियों को लाता है, उसमें स्वीकार की भावना नहीं, त्याग की भावना नहीं—जो सामने आया है उसके साथ जीते चले जाते हैं।

मनुष्य मानता है—जो हमारे सामने नहीं है, उसके पीछे दौड़ना पुरुषार्थ है। जो सामने आया है, उसमें से अपनी बुद्धि से choice करके, पसंदगी करके, उसमें से व्यक्तियों को चुनना, वस्तुओं को चुनना, परिस्थितियों को चुनना—और अपनी चुनी हुई परिस्थितियों में फिर कहना कि मुझे आनंद आता है, वह आनंद नहीं है। वह अहंकार द्वारा अपनी सुरक्षा के लिये निर्माण की हुई दीवारें हैं। क्योंकि आप की temperamental (स्वभावगत) जिसके साथ adjustment (समंजसता) नहीं होती, ऐसा व्यक्ति सामने आते ही आप को प्रतिकूल संवेदना होती है। कहते हैं न, I feel uncomfortable. (मुझे असुविधा होती है) वह, उस व्यक्ति के साथ ही। घर में हमें अच्छा लगता है। पराई जगह चले गये तो हमें uncomfortable (असुविधाजनक) लगता है। इसका मतलब यह है कि अहंकार ने आपके इर्दगिर्द पूरी एक जेल—(jail) की दीवारें बना दीं। ऐसे ही व्यक्ति हों, ऐसी ही परिस्थिति हो, तब मैं संतुष्ट रहूँगा। यह जीवन जीना नहीं है। यह नदी की बहती हुई धारा में एक छोटा-सा तालाब बनाने की कोशिश है—कि मैं अपने लिये अपना मेरा निवासस्थान बना लूंगा। धारा के साथ कौन तैरेगा? तो धारा में, धारा का जो प्रवाह है उससे तो मैं सुरक्षित रह जाऊंगा, लेकिन जीवन की शीतलता तो प्राप्त करूंगा। उसकी ताज़गी भी चाहिये, शीतलता भी चाहिये, लेकिन उसका प्रवाह नहीं चाहिये! तो उसकी गति में, जीवन और धारा की गति में, मैं स्थिति के लिये, सुरक्षा की एक दीवार खड़ी कर दूंगा। इसका नाम choice (चुनाव) है।

मेहरबानी करके यह मत समझिये कि हमको जैसा चाहिये वैसा क्या हम मकान नहीं बनायेंगे? ऐसे प्रश्न मन में मत

उपस्थित होने दीजिये कि हमको जिस रंग की साड़ी पहननी है उस रंग की हम साड़ी भी नहीं पहनेंगे—कपड़े भी नहीं पहनेंगे ? यह नहीं कह रहे हैं। यह भी कहने की ज़रूरत है। लेकिन आज वह विषय प्रस्तुत नहीं है। नहीं तो, आप देखेंगे कि किस रंग का वस्त्र कौन-सा व्यक्ति चुन लेता है—उस रंग पर से उसकी मानसिक अवस्था का पता चलता है। भावनाओं का, हर भावना का रंग होता है, हर विचार का रंग होता है—और उस विचार और भावना के रंग के अनुसार आप का बाहिरी वस्त्रों का choice (चुनाव) होता है। So, choice is a reflection of your inner quality of the mind. (इसलिये, चुनाव या पसन्दगी आप के मन के आन्तरिक गुण का प्रतिक्षेप या प्रतिबिम्ब है) लेकिन वह विषय प्रस्तुत नहीं है—तो जाने दें।

तो जैसी आप की आंतरिक अवस्था होगी, उसके अनुसार आप बाहर के projection (प्रक्षेप) से आप के मकान, आप के वस्त्र, आप का fashion (फैशन) आप के शब्दों के प्रयोग, आप के gestures (अंगभंगियाँ)—they are nothing but extensions of your inner state. (वे और कुछ नहीं, आप की आन्तर अवस्था के वितान मात्र हैं) तो, भीतर का प्रतिबिम्ब बाहर पड़ता ही है।

कह यह रही थी मैं, कि आनंद की अवस्था, आत्मा की सहजावस्था, एक ऐसी अवस्था है कि जिसमें अधिष्ठित होने के बाद वहां पर से आप को कुछ डिगा नहीं सकता—हटा नहीं सकता है। नहीं तो आप लोग यह देखियेगा कि क्या होता है? सत्संग में गये, आनंद आया। 'बहुत अच्छा लगा', कहते हैं। चार रोज़ रहे, पांच रोज़ रहे। बड़ा आनंद आया। तीर्थ में

गये। और वापस लौटे घर में तो? वह आया था न, वह कहां गया?! फिर गया कैसे! फिर bore होने लगे, फिर से ऊब गये। तो आनंद कोई सागर में आनेवाला भरती-ओट (ज्वार-भाटा) है? ऐसे आनंद का आना भी किस काम का, जो चला जाता है! और अपनी लहर से आयेगा, और अपनी मौज से चला जायेगा!

वह भी फिर एक भावना हुई। भावना को मैंने विकृति कहा था। उसको उत्तेजना—excitement कहा था। तो यह न समझना कि आत्मदशा जो है—जिसको आप कैवल्य कहेंगे, जिसको निर्वाण कहेंगे, केवल अवस्था कहेंगे,—जो कुछ, जो भी नाम देंगे, साक्षित्व कहेंगे, Awareness कहेंगे, सावधानता कहेंगे—वह कोई भावना है। अवस्था का कोई भी नाम दीजिये। नाम ऐसा होना चाहिये कि जिसमें द्वैतका आभास भी न हो। जिसमें से द्वैत निकालने की संभावना न हो, ऐसा शब्द कोई भी ले लीजिये। तारीफ़ तो यह है भाषा की—मानवीय भाषाओं की—कि उसमें अद्वैतसूचक शब्द नकारात्मक हैं। यह नहीं—वह नही—"नहीं" की भाषा में बोलना पड़ता है। "है" की भाषा में कहा तो हमारा सारा "है" का भान ही द्वैतमूलक है।

तो जीवन का प्रयोजन ऐसी आत्मदशा है। कल हम कह रहे थे कि जब निरीक्षण करने लगते हैं—२४ घंटे—निरीक्षण की एक जो attitude है, एक दृष्टिकोण है, एक वृत्ति है, इसमें जब रहकर व्यवहार करने लगते हैं—तो एक तरफ़ से सावधानता बढ़ती है और दूसरी तरफ़ से बाह्य परिस्थिति और भीतर से उठने वाली प्रतिक्रियाएँ—इन दोनों को एक साथ देखने की, तटस्थता की शक्ति बढ़ती है, तटस्थता के सिवा निरीक्षण संभव नहीं है। जिस पल में तटस्थता विलीन हो जाती है, उस क्षण में जो

घटित होता है उसके प्रति आप कोई-न-कोई प्रतिक्रिया करते हैं। The moment you react, you stop observing. जिस पल में तटस्थता हट गई, उस क्षणमें—उस पल में निरीक्षण समाप्त हुआ—introspection (अन्तःसमीक्षण) शुरू हुआ। उसका मूल्यांकन शुरू हुआ। मैं यह कह रही थी कि जो लोग ध्यानावस्था की तरफ़ बढ़ना चाहते हैं, उनको यह निरीक्षण की कला और विज्ञान जो हैं—इनका कुछ प्रयोग अपने जीवन में करना चाहिये। बाह्य परिस्थिति तो आप देखते हैं, फिर बाह्य परिस्थिति में से उठनेवाली जो प्रतिक्रिया है, उसके वश होकर व्यवहार न करते हुए, उसके अधीन या गुलाम बनकर व्यवहार न करते हुए प्रतिक्रिया को भी वैसा ही देख लीजिये जैसा कि बाह्य परिस्थिति को देखते हैं।

किसी ने गाली दी तो इन शब्दों का आपको शब्दकोश में लिखा हुआ अर्थ मालूम है। 'गधा' कहा, 'बेवकूफ़' कहा, और कुछ कहा। तो उन शब्दों का अर्थ मालूम है। उस व्यक्ति के मुँह से शब्द निकले, आप तक पहुँचे, तो भीतर से प्रतिक्रिया क्या हुई? हँसी आयी? क्रोध आया? Irritation (क्षोभ), annoyance (खीझ) उठी? क्या उठता है? तो जितनी तटस्थता से बे··व··कू··फ़ इस शब्द को देखा, और सुना, उसी तटस्थतासे भीतर उठने वाली प्रतिक्रिया, और वह आप के साथ जो शरारत करती है—उसको देख लीजिये। एक खेलके तौर पर। Just for the fun of it.

कहा था कि इस प्रकार जब देखने लगते हैं तो परिस्थिति और प्रतिक्रिया—दोनों से आप, प्रयास न करते हुए, अलग हो जाते हैं। आप कहेंगे—'उनसे हम अलग होना चाहते हैं, उनसे हम अलग होना चाहते हैं,'—नहीं अलग हो पायेंगे। लेकिन निरीक्षण में एक बहुत बड़ी जो तारीफ़ है, जो सिफ़त

है, जो कला है, जो सामर्थ्य है—वह यह है कि निरीक्षण करने वाला व्यक्ति अनायास परिस्थिति और प्रतिक्रिया-दोनों के स्तर से ऊपर उठ जाता है। अलग हो जाता है। एक तरफ़ से सावधानता और दूसरी तरफ़ से अलिप्तता,—तटस्थता—साक्षित्व—ये दोनों सध जाते हैं।

उसका मतलब यह नहीं है कि जो आवश्यक है, वह आप नहीं करेंगे वहाँ। भूल से जाकर दरवाज़े से टकरा गये या दरवाज़े से जाना था तो दीवार से टकरा गये, तो दीवार से ही टकराते रहिये—दरवाज़े से मत जाइये! यह इसका मतलब नहीं। दीवार से टकरा गये हैं तो पीछे हटेंगे, दरवाज़ा कहाँ है, देखेगें, ताकि हम उसमें से जायेंगे। आप के साथ व्यवहार करने वाला व्यक्ति झूठ बोल रहा है—उसके चित्त में कपट है—उस कपटका बोध होने के बाद दो प्रकार से व्यवहार हो सकता है। या तो वह कपटमय व्यवहार है, इसलिये वह आदमी ही कपटी है—कह कर उसकी निंदा करना—और उसके लिये एक prejudice (पूर्वग्रह) बना लेना कि वह व्यक्ति कपटी है—आज उसने कपटमय व्यवहार किया, इसलिए वह व्यक्ति कपटी है—आज है—कल रहेगा—परसों रहेगा! कपटी ही मरेगा वह! इसलिये मैं उसके साथ जो व्यवहार करूँगा, तो उसमें कुछ घृणा का भाव आ जायेगा। यह एक पद्धति हुई।

जिसने कपटमय व्यवहार किया वह व्यक्ति अपना ही नुकसान कर लेगा—जो काम हम दोनों मिलकर करने जा रहे हैं, उस काम का भी नुकसान होगा—तो इसके कपट का प्रतिकार करना पड़ेगा—इसका निषेध किये बिना, इसका द्वेष किये बिना। यह दूसरी पद्धति हुई। तो यहाँ कपट के बोध में से यह जो

कपट का obstacle, hurdle—यह जो बीच में प्रत्यवाय आ गया है—इस प्रत्यवाय को लाँघने में क्या करना चाहिये, यह बुद्धि सोचने लगेगी और लाँघते समय उस अभागे व्यक्ति को भी साथ लेकर लाँघ सके—उसकी भी कोशिश होगी। यदि उस व्यक्ति का दायित्व आपके ऊपर नहीं है, तो उसको छोड़ देंगे—लेकिन स्वयं कपट के शिकार नहीं बनेंगे। यह न समझियेगा कि प्रतिक्रियाओं के साक्षित्व में से ऐसी जड़ता आ जाय कि कोई आपके साथ कुछ भी करें—आप उसको सहते चले जायें—यह नहीं कह रहे हैं। कह यह रहे हैं कि साक्षित्व में से बुद्धि ऐसी सूक्ष्म बनेगी, ऐसी तीक्ष्ण बनेगी, तलस्पर्शी दर्शन की ऐसी एक अनोखी प्रतिभा उस बुद्धि में जागृत होगी कि देख लिया, झट समझ में आया। लेकिन समझ में आने के बाद अपनी शक्ति और अपना समय उसमें react (प्रतिक्रिया) करने में आदमी नहीं खोयेगा।

जीवन बड़ा एक अमूल्य अवसर है। इसको पलपल में खोना कोई बहुत समझदारी तो नहीं है! इसलिये प्रतिक्रियाओं में शक्ति को खर्च करना, बाँट देना, उससे चित्त क्षीण होता है, जर्जर होता है। आनंद के अधिष्ठान में प्रतिष्ठित होने पर व्यवहार चलता है, प्रबोध की अवस्था में रह कर व्यवहार चलता है। सावधान व्यवहार होता है। इसलिये सामान्य व्यक्ति की व्यवहार-कुशलता से शतगुणित अधिक कुशलता ऐसे व्यक्ति में आती है।

सामान्य व्यक्ति की व्यवहार में सावधानता होती नहीं है। और समग्रता होती नहीं है। इसलिये उसकी ताक़त कम पड़ती है। और सावधान व्यक्ति जो है—उसकी समग्रता में, चेतना प्रतिष्ठित होने के कारण, उसकी नज़र से कुछ छूट नहीं सकता।

Nothing can escape his notice. इसकी alertness, संवेदन-शीलता, चारों तरफ़ जैसी तलवार की धार होती है न— ऐसी उसकी नज़र में तीक्ष्णता आ जाती है। कुछ छूटता नहीं है। क्योंकि प्रतिक्रिया में शक्ति और समय खोता नहीं है, कहीं रुकता नहीं, कहीं फंसता नहीं, कहीं अटकता नहीं। ऐसा व्यक्ति जीवन के साथ क्षण-क्षण में, पल-पल में, उसकी गति में गति मिलाकर जीता चला जाता है। यह आनंद की अवस्था का सबसे बड़ा परिणाम है। लाभ नहीं! क्योंकि लाभ लेने वाला फिर आप लाओगे दूसरा! आत्मसाक्षात्कार से क्या लाभ होता है? मुक्तावस्था से क्या लाभ होता है? अरे, लाभ नहीं, भाई, वह परिणाम है। It is the natural consequence of Bliss. कली खिलने से क्या होता है? उसका क्या लाभ है? कुछ नहीं भाई, कली खिलने से फूल बनता है। फूल के खिलने से क्या होता है? भाई, उसमें जो छिपा हुआ सौरभ है, वह बिखरता है। बिखरने से क्या होता है? उसको क्या मिलता है?

अहंकार की भूमिका से कोई आगे बढ़ना ही नहीं चाहते। Kindergarten (शिशु-शाला) से निकलना ही नहीं चाहते। अध्यात्म के क्षेत्र में यह juvenile delinquency (बचकानी अपचारिता) चलती नहीं है। kindergarten (शिशुशाला) ही है—कि कोई हाथ धरा कर चलायें—हमको! हाथ पकड़कर हमारा लिखायें तो लिखेंगे! कोई समझानेवाला बैठा ही रहे! अरे, भाई, kindergarten (शिशुशाला) से शुरू इसलिये करना है कि University (विश्वविद्यालय) तक पहुँचोगे। नहीं, हमको जाना ही नहीं है! यहां बहुत अच्छा लगता है! दोनों शाम वे आकर के,—sister (बहन) हो mother (माता) हो,— वे खिला भी देती हैं—पिला भी देती हैं—रोने लगे तो गोद में

उठा लेती हैं, पुचकारती हैं, चूम लेती हैं। बस जीवनभर यही करो—!

इसीलिये तो हमने गुरु बनाकर रखे हैं! mature (परिपक्व) हो जायेंगे तो दायित्व उठाना पड़ेगा अपने आपका। वह उठाने की तैय्यारी नही, इसलिये कोई गुरु रखो, कोई व्यक्ति रखो, कोई संस्था रखो! अच्छे हैं—हम जीवनभर kindergarten (शिशुशाला) में पड़े रहेंगे। यह भक्ति का अर्थ किया है मनुष्य ने! यह चलता नहीं है।

जीवन तो वह है जो निर्भय साहस से खड़ा होता है। एक कदम उठाया है। आगे के कदम पर क्या आयेगा—मालूम नहीं। लेकिन किसने कहा कि अज्ञात में भय है? 'मालूम नहीं'—इसी में तो जीवन का romance (रोमांस) है। अगले क्षण क्या होने वाला है—कल सुबह क्या होनेवाला है—आज शाम क्या होनेवाला है, इसकी भी स्कूल के time-table (समय-सारिणी) जैसी time-table (समय-सारिणी) जिनके पास तैयार है, उनपर मेरी बुद्धि तरस खाती है। उनपर मुझे दया आती है। क्या जीवन जीते हैं। कोई कोल्हू का बैल है—घूमते रहना है। अज्ञात के साथ भय को जोड़ने वालों ने जीवन के साथ बड़ा अन्याय किया है। नित्यनूतनता की शक्ति केवल अज्ञात में है, ज्ञात में नहीं है। लेकिन हम तो, जीवन को दोनों हाथों में समेटकर, ज्ञात की जो परिभाषायें हैं, उनके अनुसार category (श्रेणी) बनाकर बाँट देना चाहते हैं। उसका मूल्यांकन करके, टुकड़े करके, कैंची से काट करके, अपनी व्यवस्था के अनुसार, अपनी इच्छा के अनुसार, जीवन का एक design (नमूना) बनाना चाहते हैं। Pattern (ढाँचा) बनाना चाहते हैं। इन लोगों के हाथ में pattern (ढाँचा) बनाने के

लिये टुकड़े आ जायेंगे; काट-छाँट करने का जो एक हर्ष है, उत्तेजना है—वह भी मिल जायेगी—लेकिन जीवन उनकी मुट्ठीसे निकल जाने वाला है। विचारों की, नियमों की, यमोंकी सुइयों से धागे ले-लेकरके उनको जोड़ने जायेंगे—टुकड़े जुड़ जायेंगे—जीवन निकल जायेगा।

तो अज्ञात की सुन्दरता ही इसमें है कि उसमें unpredictability (अज्ञात भवितव्यता) है, unreliability (अवलम्बनीयता का अभाव) है। अगले क्षण क्या होगा—मालूम नहीं। सांस निकली है, फिर भीतर जायेगी कि यहीं-के-यहीं मामला खत्म होनेवाला है—यह भी मालूम नहीं। इसी में तो मज़ा है। जीने का मज़ा ही इसमें है कि इसमें अनिश्चितता है। इस अनिश्चितता से जो भय खाते हैं—वे जी नहीं पाते। फिर वे जीवन को एक तोता बनाकर सोनेके पिंजड़े बनाकर उनमें उसको मोती का चारा खिलाकर रखते हैं—मोती के दाने चुगने के लिये। सुन्दर-सा पिंजड़ा बनाये हुए हैं। सोने का बनाओ, चाँदी का बनाओ! हीरा-माणिक-मोती उसमें जड़ा दो। तो जीवन कोई तोता नहीं है कि आप के पिंजड़े में आ जाय। आप के हाथ में पिंजड़े रह जाते हैं, जीवन निकल जाता है।

तो, आनंद के अधिष्ठान में प्रतिष्ठित होने के बाद कल क्या होगा, यह चिन्ता ही नष्ट हो जाती है। यह उसका मज़ा है। परिणाम क्या है? आनेवाला कल निकल जाता है और बीता हुआ कल निकल जाता है—और वर्तमानके आलिंगनमें आप ऐसे प्रेमसे जीते हैं।

उसमें कदरूपता सामने आयी तो कदरूपता को देख लेते हैं। सुन्दरता आयी तो सुन्दरता को देख लेते हैं। सम्मान आया

तो सम्मान को देख लिया; अपमान आया, तो अपमान को देख लिया। बोध दोनों का हुआ—प्रतिक्रिया एक की भी नहीं हुई।

इस प्रकार वह जैनों की 'कर्मनिर्जरा' होती है। मन का उपयोग आनंद में प्रतिष्ठित व्यक्ति उतना ही करता है जितना कि आप वाहन का उपयोग करते हैं। दस मील जाना है—मोटर में बैठे। दो-तीन मील जाना है—सायकल पर चढ़े—उस प्रकार मन पर आरूढ़ होना, बुद्धि पर आरूढ़ होना—और चलना, काम करना। Engineer (इंजीनियर) बनना है—doctor (डॉक्टर) बनना है—आप सीखेंगे। स्मृति का उपयोग करेंगे। विज्ञान सीखेंगे। यंत्र की कला सीखेंगे। व्यवहार चलाना है—रसोई बनाना सीखेंगे—घर चलाना सीखेंगे। वह सब चलायेंगे आप। मन और बुद्धि पर आरूढ़ होकर आवश्यक सभी कुछ करेंगे—लेकिन, उसमें से कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं। क्योंकि सभी प्राप्तियों का जो प्राप्तव्य आनंद है—वह पहले ही उपस्थित है। आनंद में प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति को संसार में कुछ प्राप्त करने का नहीं रहता—इसलिए महत्त्वाकांक्षा की—यह बड़ी contagious (संक्रामक) जो बीमारी है न,—संसर्गजन्य व्याधि—फिर यह महत्त्वाकांक्षा की बीमारी उसकी चेतना को छूती नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का काला ज्वर ऐसा है कि एकबार पकड़ ले—तो छोड़ता ही नहीं। वह cancerous gro th ('कैंसर'-जनित वृद्धि) से भी मुश्किल चीज़ है। सभी प्राप्तियों का जो सार है—जो निष्कर्ष है—वह आनन्द पहले ही भीतर उपस्थित होने के कारण, उसमें प्रतिष्ठित होने के कारण, बाहर से कुछ प्राप्त करना है—यह उसके चित्त में रहता नहीं है। शरीर में रहना है—समाज में रहना है—करना है, कर देता है। शरीर की वैज्ञानिक आवश्यकतायें पहचानकर उनकी पूर्ति करनी है—साधन जुटा देता है। लेकिन साधनों के पीछे नहीं दौड़ता।

सामाजिक प्रतिष्ठा के नाम पर, स्पर्धा के मैदान में उतरकर, अन्धी दौड़ नहीं लगाता।

यह आत्मदशा—जिसको हमने कहा आत्मा की सहजावस्था, जो आनन्द की अवस्था है—उसमें जीने वालों की यह चाल है। ऐसे वे जीते हैं। जहाँ आवश्यक है वहाँ शब्द का उपयोग किया, लेकिन किसीकी खुशामद करने के लिये नहीं। किसीको खुश करने के लिए नहीं। किसी को दु:ख देनेके लिये नहीं। अपने भावों को छिपाने के लिये नहीं। जो भाव भीतर नहीं है उसको दिखाने के लिये नहीं—शब्द का उपयोग जहाँ आवश्यक है—कर लिया। हाथ में चिमटा उठा लिया। लेकिन हाथ में चिमटा पलभर के लिये लिया, इसलिये दिनभर चिमटा लेकर घूमते हैं! रसोई में सँड़सी से काम करना पड़ता है, तो हाथ में सँड़सी लिये घूमते हैं दिन भर! ऐसे ही शब्द का उपयोग कर लें। और नहीं शब्द का उपयोग करना है तब? तब मौन में रहें। आनन्द में रहें। मनका उपयोग करना है, मनका उपयोग किया; नहीं तो निर्विचार अवस्था में मज़ा ले रहे हैं। लेकिन हम जब शब्द की बाहर आवश्यकता नहीं, तो भीतर शब्द को, चलाते हैं। मन की आवश्यकता बाहर नहीं है तो भीतर उसके साथ खेलने बैठते हैं। brooding, worrying, anxiety, dreaming (चिन्ता, स्वप्नदर्शन)। बाहर ज़बान से बोलकर निन्दा नहीं कर सके—तो भीतर कर लेंगे। शब्द को, विचार को, छोड़ते ही नहीं हैं। भाई, शराब का नशा छूट जाता है इसका नशा नहीं छूटता। और इस नशे में होश क़ायम नहीं रहता है। नहीं तो, मैं आपसे इतनी तीव्र भाषा में बात नहीं करती। लेकिन यह मनकी भावनाओं का और विचारों का भी नशा है—उनके साथ खेलते हैं। कि कल ऐसा हुआ था—ऐसी अनुभूति आयी थी—ऐसा सुख मिला था—

अब फिर इसको प्राप्त कैसे करेंगे। तो फिर भाई, शराब के अड्डे पर जानेवाले को क्यों गाली देते हो—वह भी तो यही करता है न! कि शराब के नशे में मुझे जो मज़ा आया था—वह फिर अब मैं कैसे लूँगा!

आनन्द वह अवस्था है, जो निरपेक्ष है—सापेक्ष नहीं है। मन पर, तन पर, इन्द्रियों पर, बाह्य परिस्थिति पर, अनुकूलता-प्रतिकूलता—किसी पर निर्भर नहीं है। सहजावस्था है—आपको राजा की पोशाक पहना दीजिये, भिखारी की पोशाक पहना दीजिये। योद्धा की, लड़वैया की पोशाक पहना दीजिये। भीतर आप जैसे हैं—वैसे हैं। और आप जानते हैं कि मैं यह हूँ। नाटक में राजा का काम किया—या joker (मज़ाकिये) का काम किया—लेकिन wing (रंगमञ्च के पार्श्व) में जाते ही कपड़े उतारने पर आपको तो मालूम है कि मैं joker (मज़ाकिया) भी नहीं हूँ, मैं राजा भी नहीं हूँ। उस सहजताको कहाँ बाधा है—कहाँ उसमें विघ्न आता है? और यह रूपक नहीं, काव्य नहीं। हम, आप लोगों का जो इतना मूल्यवान् समय है, इसका दुरुपयोग आपके सामने कविता बोलने में नहीं करेंगे। अब जीवन ही कविता हो—तो मेरा इलाज नहीं चलता। और सत्य में ही सौन्दर्य हो—तो उसमें मैं बेगुनाह हूँ। लेकिन आपके सामने रख रहे हैं जो जीवन का सार, जो निचोड़ है। जो सभी शून्यों का निष्कर्ष देखा गया। जिसमें जी रहे हैं उतनी बात कहेंगे आपसे। और नहीं।

तो एक ऐसी अवस्था में मनुष्य प्रतिष्ठित हो, तब उसके जीवन में संगीत के सिवा दूसरा कोई नाद-निनाद उठेगा नहीं। और ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति, ऐसे व्यक्ति का सहवास, दूसरों के जीवन में—जो बेसुरा होगा—बेताला होगा, उसमें ताल, उसमें लय, उसमें सुरीलापन का निर्माण करने में, सहवास से, उपस्थिति

से, निःशब्द उपस्थिति—सशब्द उपस्थिति से, कुछ मदद कर सकता है—जो रास्ते से चल रहे हैं—उन चलनेवालों को। जो चलना ही नहीं चाहते—मकान में ही बैठे हैं और दिल्ली का रास्ता कहाँ जाता है, किधर जाता है; उसमें कितने पेड़ हैं, दाईं तरफ़ कितने, बाईं तरफ़ कितने, फूल कितने आते हैं—सब उसका रजिस्टर बनाने ही बैठा है। तो, वह जीवन में वहाँ पहुँचेगा ही नहीं। जो निकल पड़ता है, उसकी मदद हो सकती है। जो घर नहीं छोड़ता है ओर पहुँचने के बाद भी क्या मिलेगा—उसकी गंध भी उसको आज मिलनी चाहिये—तब वह कदम उठायेगा ! ऐसे व्यक्ति की मदद तो खुदा स्वयं उतर आयें तो नहीं कर सकता। लेकिन चलनेवाला हो, उस व्यक्ति की मदद ऐसों के द्वारा हो सकती है। वे करना चाहते हैं या नहीं, वे चाहने के लिये शेष नहीं हैं। किसी के नौकर नहीं हैं कि चाहेंगे। लेकिन चाहने पर, न चाहने पर भी, उनके द्वारा इस प्रकार की मदद, उसका सौरभ, जीवन में हो सकता है। तो आप कहेंगे—यह सारा तीन दिन जो सुना—यह आत्मसाक्षात्कार की कोई utility (उपयोगिता) तो है नहीं। तो इन्होंने इतना जो हमसे कहा—लेकिन उसकी कोई उपयुक्तता तो है नहीं। utility (उपयोगिता) कुछ नहीं है। futile (व्यर्थ) है ! जी। आनन्द बिलकुल futile (व्यर्थ) है ! क्योंकि उसका रुपये पैसे में कोई मोल नहीं है।

कमल के पुष्प का सौरभ हवा में बिखर गया—इसमें utility (उपयोगिता) क्या है ? लेकिन मानव की समस्त सम्भावनायें जो हैं—वे इसी आनन्द की दिव्यता की तरफ़ ले जाने वाली हैं। इन सम्भावनाओं को आप खेलने दें, खिलने दें; खिलने देना यह साधना है—खिलने न देना यह पाप है—या अधर्म है।

अन्त में एक बात और जोड़ दूँ। कि जिस निरीक्षण और सावधानता के दो पंखों को लेकर उड़ना है—अन्तर-आकाश में—यह निरीक्षण और यह सावधानता चौबीस घंटे कैसे रहे—इसका कोई अभ्यास है या नहीं ? इसके लिये यह सीखा जा सकता है या नहीं ? तो सीखा जा सकता है। शुरुआत तो दो प्रकार से हो सकती है। एक, चौबीस घंटे में एक वार या दो बार निरीक्षण करने के लिए, observe करने के लिए, यह जो observation की ताक़त है—वह कमानी पड़ती है। पहलवान तब बनेगा—जब अखाड़े में उतरेगा। मिट्टी में दस पाँच बार कोई उसको पटकेगा। ठोकर लगेगी, हाथ-पाँव में दर्द होगा। हड्डी-हड्डी बोलने लगेगी, बजने लगेगी, फिर पहलवान बनता है। नहीं, नहीं, पहलवान तो बनना है, सभी दाँवपेंच आने चाहिये—लेकिन सिर्फ पुस्तक पर हमें chart (चार्ट) दिखा दीजिये। और दूसरे दिन हमने chart (चार्ट) पढ़ लिये, और उनकी जो युक्तियां हैं—वे समझ लीं—तो हम पहलवान बन गये ! ऐसा नहीं।

सितार के सात तार, तानपुरे के चार तार—षड्ज, मध्यम-पंचम—तीनों आप को मालूम हैं। लेकिन इनमें मिलाना तो ! तार को बांधना सुरमें, और फिर उंगली का कितना ज़ोर देना है, किस तार पर कितना पड़े, किस angle (कोण) से उंगली का स्पर्श तार से हो—यह मालूम न हो, तो तानपुरा भी हाथ में, सितार भी है—सुर बंधे हुए हैं—लेकिन बजता नहीं है !

इसलिये, उस शक्ति को प्राप्त करने के लिये, चौबीस घंटे में एकाध बार, एकाध घंटा, आधा घंटा सभी प्रवृत्तियों से और निवृत्तियों से भी निवृत्त होकर बैठना चाहिये—खड़े होकर, बैठकर, लेट कर—जैसी आप की मर्ज़ी हो। देखना चाहिये दस पंद्रह मिनिट, आधा घंटा—कि यह मनकी गति कैसी है।

इसमें उठनेवाले विचार कौन से हैं। कितने हैं। कहां ले जाते हैं। इनको देखना चाहिये।

और इनको जब देखने लगेंगे—पहले दिन बैठे हैं—दस मिनिट में पचास जगह मन दौड़ा है। और उसमें पचास में से पच्चीस जगह दो-दो बार गया है। दूसरे दिन आप देखेंगे—कहीं पचास जगह के बदले आज मन पैंतालीस जगह गया है।

Frequency and duration and repetition, (आवृत्ति और अवधि) कुछ कम हो रही है। सिर्फ़ आप देख रहे हैं। और फिर यह भी देख रहे हैं कि कहाँ-कहाँ मन, कैसे-कैसे जाता है? दस मिनिट, पन्द्रह मिनिट यह देखने का जो अभ्यास है—वह करना पड़ता है। हो सकता है, तीसरे दिन, चौथे दिन, पाँचवें दिन, सातवें दिन—आपका मन जो पच्चीस जगह गया था—वह पाँच जगह ही जा रहा है। मन को रोकते हैं, इसलिये मन को गति मिलती है। मनुष्य के निषेध में से वासनाओं को प्रोत्साहन मिलता है। मन को रोकने में से मनकी गति दुगुनी हो जाती है। आप रोकेंगे नहीं, निषेध नहीं करेंगे, प्रशंसा नहीं करेंगे तो, मन का दौड़ने का मज़ा जो है वह निकल जायगा। And the mind will exhaust itself-when you so observe (जब आप तटस्थ भाव से निरीक्षण करेंगे तो मन अपने आप को निःशेष कर देगा)।

तो, निरीक्षण की कला, आधे घंटे तक, पन्द्रह मिनिट तक, एक घंटे तक आप उस कला को सीखने के लिए समय निकालें भाई, तबला बजाना सीखना है तो आपको बैठना पड़ता है—सीखना पड़ता है। सितार सीखनी पड़ती है। और आप कहें कि मैं आठ दिन बैठा हूँ और नवें दिन तो मन शांत नहीं हुआ—तो चलो, इसमें कुछ नहीं रखा है। हाँ, यह बालक कह सकता

है। लेकिन प्रौढ़ों को, जिन्होंने यह कभी किया ही नहीं है, उनको सीखनेमें, अपने आपको सिखाने में, धैर्य रखना चाहिये। self-education में you must be patient with yourself.

चाहे जब उठे और हथौड़ा हाथ में लेकर मन के पीछे दौड़े यह निरीक्षण नहीं है। तो निरीक्षण की कला सीखी जा सकती है। लोग कहते हैं मैं ध्यान करने के लिये बैठा हूँ। ध्यान करने के लिये नहीं बैठना है। ध्यान तो समग्र व्यक्तित्व की अवस्था है। लेकिन ध्यानावस्था में जाने के लिये मन की जो तटस्थता है—उस तटस्थता को सीखा जा सकता है। The art of observation can be learnt. It is an experimental art. वह सीखी जा सकती है। तो, उसमें सावधानता और तटस्थता—दोनों का अभ्यास आयेगा। एक घंटे तक बैठे हैं। उसका परिणाम उठने के बाद दो घंटे रहा। हो सकता है कि कुछ दिनों में दो घंटों के बदले चार घंटे रहा। इस प्रकार उसकी व्याप्ति, उसका extension, जीवन में बढ़ता चला जाता है।

हम यह कुछ नहीं करेंगे, तो फिर ठीक है। तब आप एकताल, त्रिताल, झपताल—सबके नाम गिना लीजिये कि कितनी मात्राएँ हैं, ध्रुपद धमार में क्या होता है,—सब किताब में से रट-रटकर बता देंगे—उस प्रकार बंधन क्या—मुक्ति क्या; जन्म क्या—मृत्यु क्या—मृत्यु के बाद क्या—ये सब हिसाब तोते की तरह बोल देंगे और कहेंगे, भाई, तू सिर्फ त्रिताल ही बजाकर दिखा दे। कुछ नहीं, निकलेगा ही नहीं, बोल ही नहीं निकलेगा। ऐसे जीवन में से फिर बोल नहीं निकलते—तारों में से संगीत नहीं उठता है। क्योंकि उसके लिये जो साधना चाहिये—वह की नहीं है।

प्रारंभ किया था—जीवन का प्रयोजन सुख नहीं, ज्ञान नहीं, कर्म नहीं, भक्ति नहीं, जीवन का प्रयोजन आनंद है। सुख, ज्ञान, कर्म, भक्ति प्रयोजन क्यों नहीं ? क्योंकि इनमें संतुलन नहीं है—इनमें एक प्रकार की सूक्ष्म उत्तेजना है। जीवन का प्रयोजन अनुभूति भी नहीं, क्योंकि अनुभूतिमें भी उत्तेजना है। जीवन तो poise है, समतुला है। संतुलन है। Dynamic poise है। चिन्मय समतुला है। चिन्मयी समतुला है। तो, आनंद यह चिन्मय संतुलन है, इसलिए आनंद ही जीवन का प्रयोजन है और यह आनंद की अवस्था यानी आत्मा की सहजावस्था किस प्रकार है—आत्मा की सहजावस्था जो है, हर मनुष्य के लिये किस प्रकार सुलभ है—जो चाहेगा उसके लिये;—और वहाँ तक पहुँचने के लिए, तटस्थता और सावधानता, इन दोनों का उपयोग किस प्रकार हो सकता है—तटस्थता और सावधानता यानी प्रतिक्रियाओं से मुक्ति, प्रतिक्रियाओं की गुलामी से मुक्ति। यह व्यवहार में किस प्रकार साधी जा सकती हैं और आनंद में अधिष्ठित होकर प्राप्त परिस्थिति में सम्यक् वर्तन किस प्रकार हो सकता है—ये कुछ बातें आज आपके सामने रखीं। यदि कुछ शेष रह गया हो तो शाम की अंतिम सभा में रखेंगे। आप सब लोगों ने प्रातःकाल यहाँ आने का कष्ट किया, संवाद करने का अवसर दिया; सबको मैं प्रेमपूर्वक प्रणाम करती हूँ।

— —

सायंकाल : प्रश्नोत्तरी

निर्विचार अवस्था और आनंदकी अवस्था के बीच कोई phase या stage—दशा है या नहीं ?—यह पूछ रही हैं न ? है। निर्विचार अवस्था यानी विचारशक्ति संपूर्ण रूप से काम करने लायक होने पर भी उस शक्ति का अपने आप में सिमट कर शांत रहना। मन की जितने प्रकार की क्रियायें हैं, उन सब क्रियाओं का स्वयमेव शांत होना निर्विचार अवस्था है। इस अवस्था में प्रवेश होने पर एक अंधकार का घना साम्राज्य सामने आता है। विचारों के शान्त होने पर एक रिक्तताकी अनुभूति होने लगती है। उसको अंग्रेजी में the state of void, the state of emptiness—रिक्तताकी अवस्था—यह उसका हिन्दी में शायद अनुवाद हो—रिक्तता अंधकारमय है, शून्यता आलोकमय है। तो जीवनभर चित्त में उठने वाली वृत्तियों के द्वारा जीनेकी हमें आदत है, इसलिए वृत्तियों के शांत होने पर लगता है—पाँव तले से धरती खिसक गई। पाँव तले से धरती खिसक गई है, सामने दिशा नहीं है; खड़े होने के लिए स्थान नहीं, पकड़ने के लिये कोई आलंबन नहीं। ऐसी एक सर्वथा निराधार अवस्था है, इसका अनुभव होता है। इसको पश्चिमी रहस्यवादियों ने और दार्शनिकों ने the dark night of the soul (आत्मा की अँधेरी रात) कहा है। जैसे किसी tunnel (सुरंग) में से होकर गुज़रना पड़ता है। उस प्रकार जो एक सर्वथा निराधार होने की, निर्बल दशा है—क्योंकि हमारा सारा बल तो तन और मन के सहारे था, उसका आधार जैसे छूट गया।

कल्पना कीजिये पलभर के लिये कि आप के विमान ने take off ('टेक-ऑफ़') किया। धरती का सहारा छूट गया,

और अभी असमान में उड़ना प्रारंभ नहीं हुआ। यह आप के मशीन के यंत्र के लिये शायद संभव न हो—लेकिन धरती का सहारा छूट गया, उस प्रकार यह तन की जो धरती है, इसका सहारा—इसका आलंबन छूट गया। मन के जो पंख हैं, विचार के और भावना के, वे भी झर गये हैं। इसलिये सर्वांगीण निराधारता-निर्बलता का एक अनुभव होने लगता है। इसलिये मैंने कहा कि अंधकार के साम्राज्य में होकर गुज़रना पड़ता है। इस अंधकार से या इस निराधारता की अवस्था से लोग भय खाते हैं और वहां से वापस आकर विचार के क्षेत्र में लौटना चाहते हैं। निरालम्ब, निरालम्ब रहने की आदत नहीं। अहंकार के साम्राज्य में निर्बलता की दिव्य अनुभूति हो ही नहीं सकती। तो यह जो अंधकार है, यह जो रिक्तता है, इससे भय खाकर आदमी वापस लौटता है। यह लगता है इसमें मौत हो जायेगी। इसमें जड़ता आयेगी। इसमें तंद्रा आयेगी। इसमें मैं बधिर हो जाऊंगा। My sensitivity will get benumbed if I proceed in darkness. अपने आप का भय है, ज्ञात के सहारे छूट गये हैं, इसलिये एक प्रकार की या तो भयग्रस्तता आ जाती है—या चित्त विक्षिप्त हो जाता है। यदि साहसपूर्वक उस रिक्तता को सजाग-सभान होकर देखते ही रहेंगे, देखते ही रहेंगे, तो इस रिक्तता की जो सुरंग है उसको पार करके फिर आत्मानंद के आलोक में आप पहुँचते हैं। अतितीव्र जिनके संवेग हैं, उनके लिये पलभर ही यह अवस्था रह सकती है; जिनके संवेग मंद हैं, उनके लिये यह time, duration (काल-मान) लम्बा भी हो सकता है।

प्रश्न : आज सुबह आपने कहा था, 'जीवन का प्रयोजन आनंद है'—या तो, 'आनंद ही जीवन है'। तो मैं समझना

चाहता हूं कि जिसे state of freedom कहते हैं—मुक्तावस्था—, ये क्या एक ही हैं ? या आप कुछ और कहना चाहती हैं ?

विमला बहन—ज़रा प्रश्न दोहराइये।

प्रश्नकर्ता—आनंद ही जीवन है,...

विमला बहन—तो आनंद की अवस्था और मुक्तावस्था ये क्या भिन्न हैं ? ऐसा पूछ रहे हैं ?

ओ-हो-हो-हो—इसका जवाब तो आप के अखा ने दे दिया है :

"आचार्योए कीधी युक्ति, कल्प्यो बंध ने मानी मुक्ति।"

[हिन्दी अनुवाद—"आचार्यों ने युक्ति की, बंध (बंधन) की कल्पना की, और फिर उसमें से मुक्ति मानी।]

बंधन की सत्यता हो, तो ही मुक्ति के लिये अवकाश है। यानी माया के साम्राज्य में ही बंधन और मुक्ति—दोनों के गुण गाये जा सकते हैं। यानी लक्षणा ही करनी हो उस अवस्था की, तो इसको state of freedom, कह लीजिये आप। लेकिन मुक्ति शब्द द्वंद्व का सूचक है। मुक्ति शब्द सापेक्ष है। It is a relative term. आप स्वतंत्रता—freedom कहिये; liberation—मुक्ति कहिये। ये शब्द द्वंद्व की भूमि पर खड़े हैं। बंधन न हो—तो मुक्ति का अस्तित्व नहीं है। इसलिये उसको सापेक्ष कहते हैं। relative कहते हैं। और मैंने सुबह यह निवेदन करने की चेष्टा की, जहां तक मैं निवेदन कर सकी, कि आनंद एक ऐसी निरपेक्ष अवस्था है जहां द्वंद्व की भूमिका है ही नहीं। यानी मुक्ति शब्द—मुक्तावस्था—निरर्थक हो जायेगी, यदि बद्धावस्था का अस्तित्व आप स्वीकार न करेंगे। Am I making it clear ? (क्या मैं स्पष्ट कर रही हूं ?)

तो, 'मुक्तावस्था' शब्द के जो सहचारी भाव हैं, वे द्वंद्व के और सापेक्षता के सूचक होने के कारण और वह अवस्था भी

सापेक्ष होने के कारण मैंने आनंद शब्द का प्रयोग किया, जहां कहीं भी द्वंद्व या द्वैत के लिये अवकाश नहीं। हर्ष कहूं तो शोक है, सुख कहूं तो दुःख है, मुक्ति कहूं तो बंधन है। ये शब्द जो हैं न, बड़े बोझिल, बड़े भारी हो जाते हैं; उनके सहचारी भाव हैं। उनके सहचारी विचार हैं। Association of ideas and emotions. अब सब शब्दों को disinfect (संक्रमण से मुक्त) करके कैसे लें—यह मेरे सामने समस्या हो जाती है। तो मुक्ति शब्द को या मुक्तावस्था को उसकी सापेक्षता से छुट्टी दिलाकर यदि आप उपयोग करना चाहते हैं, तो आनंद की अवस्था और मुक्तावस्था—इसमें कोई फ़र्क नहीं।

प्रश्न: आत्मसाक्षात्कार करनेवाले साधकों को; या परमात्मा के साक्षात्कार करनेवाले साधकों को कोई कल्पना करनी पड़ती है कि ऐसा आत्मसाक्षात्कार होगा—ऐसा परमात्मा का साक्षात्कार होगा। ऐसी कोई कल्पना साधना में पहले बनानी पड़ती है? जैसे ईश्वर के बारे में बताते हैं कि कृष्ण की साधना करनेवाला कृष्ण की कल्पना बनाता है, राम की साधना करने वाला राम की कल्पना बनाता है।

उत्तर: बहुत सुंदर और मार्मिक प्रश्न है। प्रश्न पूछा गया है—पूछा किसी व्यक्ति के द्वारा जाता है—लेकिन no question or no problem is ever personal. (कोई भी प्रश्न या समस्या कभी व्यक्तिगत नहीं होती) जो जीवित प्रश्न होंगे, not the dead and borrowed questions, not the lifeless academic questions—(मरे हुए, उधार लिये हुए, जीवनहीन सैद्धांतिक प्रश्न नहीं) जो जीवित प्रश्न होते हैं—सजीव प्रश्न—जीवन में से जिनका जन्म हुआ, उन प्रश्नों का आशय हमेशा universal (वैश्विक) होता है।

प्रश्न यह पूछा गया किसी के द्वारा...

[व्याख्यान हॉल भर जाने के कारण सब श्रोताजनों को आगे आने को कहा गया। और श्री विमला बहन स्वयं भी आसन की गद्दी से उठकर गद्दी के उपर रखे हुए तकिये पर, ऊंचाई पर बैठ गईं। इस समय आपने कहा—हम तो दर्शन-प्रेमी ठहरे। सब लोगों के दर्शन न हों तो बोलना मुश्किल हो जाता है। क्योंकि श्रोता ही तो बुलवाता है। अपनी ओर से बोलनेवाला वक्ता कुछ intellectual gymnastic (बौद्धिक व्यायाम) करता है। लेकिन श्रोता कृपापूर्वक जिसको बुलवाते हैं—वह धन्न, वह दौलत—वह सारा श्रेय आप लोगों का होता है! इसलिये उपर चढ़े कि सबको देख सकें।]

पूछा यह कि ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं—तो राम इस प्रकार के हैं, कृष्ण उस प्रकार के हैं—यह तो कुछ जानकारी रहती है कल्पना करते हैं। कल्पना करनी होती है।

अब परमात्मा का साक्षात्कार और आत्मसाक्षात्कार—दो शब्द आपने उपयोग में लाये। कहते हैं कि परमात्मा का साक्षात्कार करना हो तो उसके लिये भी कोई कल्पना करनी पड़ती है; साधक को आत्मसाक्षात्कार करना हो तो उसके लिये कुछ कल्पना करनी पड़ती है? हम तो कल्पना करते हैं—हमारे पास तो व्याख्यायें तैय्यार हैं। परमात्मा की व्याख्यायें तैय्यार हैं—आत्मा की तैय्यार हैं—हमारे encyclopaedia (विश्वकोश) में, हमारी dictionaries (शब्दकोशों) में—हमने सबको कैद करके रखा है।

लेकिन सवाल वह नहीं है। जिस भूमिका में से सवाल उठा वह बड़ी interesting है। बड़ी एक जानने लायक़ खूबी की चीज़ है। सगुण साक्षात्कार में "गौतम बुद्ध ऐसे थे" "भगवान्

महावीर ऐसे थे"—वर्णन है उनकी मुद्रा का, उनके शरीर का, उनकी चर्या का, उनके गुणों का—वर्णन है राम का, कृष्ण का, ईसा का; और उन गुणों का चिंतन करके, उनके नाम का मंत्र जपते हुए, आप चित्त की एक अवस्था का निर्माण करते हैं—उन गुणों के साथ, उस रूप के साथ चित्त की तदात्मता निर्माण करते हैं कि उस निदिध्यास में से—'श्रोतव्यः, मंतव्यः, निदिध्यासितव्यः'—तो उस निदिध्यास में से वह Project (प्रक्षिप्त) हो जाता है आप के सामने। सगुण साक्षात्कार—it is a kind of psychological projection (यह एक प्रकार का मानसिक प्रक्षेप है) जितनी जिसकी intensity होगी, उत्कटता होगी, और व्यक्तित्व की जितनी गहराई में से वह निदिध्यास होगा—उसके लिये फिर कोई-न-कोई भाव का सहारा लेंगे—दास्य भाव का लेंगे, शांत भाव का, वात्सल्य भाव का, सख्य भाव का, मधुर भाव का—इसमें emotional content (भावनात्मक अंतर्वस्तु) भरना होगा न। तो, फिर उस भाव को उंडेलते हुए, निदिध्यास करते हुए, उसका Projection (प्रक्षेप) होता है। सगुण साक्षात्कार क्रिया मन की है। भले ही इन्द्रियातीत सृष्टि में हो—क्रिया मन की है। It is a mental action.

अब दिक्कत आ गई, ये जो मन महाराज हैं, इनके सामने। कि आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो—परमात्मा का कैसे हो? वह निर्गुण है, वह निराकार है। वह निरालम्ब है। अब इनकी कल्पना कैसे करें? हमने उसका भी विश्वरूपदर्शन बना लिया। क्योंकि हम तो उनको पंचेन्द्रियों से पकड़ना चाहते हैं। मन और बुद्धि से पकड़ना चाहते हैं। इस लिये अट्ठारह अक्षौहिणी या ग्यारह अक्षौहिणी—पांच अक्षौहिणी—चबाये जा रहे हैं। "कालोऽस्मि अहं"—इसको समझने के लिये विश्वरूप दर्शन की

कल्पना की। वर्णन किया गया है। लेकिन दिक्कत यह है कि जो निर्गुण है—निराकार है—उसकी कल्पना कैसी करें?

फिर कहिये—आकाश जैसा है—क्योंकि आकाश के कोई आकार नहीं। फिर सागर जैसा है क्योंकि सागर की गहराई कोई नाप नहीं सकता। फिर 'स्थावराणाम् च हिमालयः'। वह स्थिरता में हिमालय के जैसा है। लगायें। कोई-न-कोई हम उसका मापदंड लगाना चाहते हैं। लेकिन निर्गुण और निराकार की कल्पना करना मन के लिये संभव नहीं है। इसको या तो ज्योति में बांध लो—या विश्वरूप में बाँध लो। और सच्चिदानंद कहने से भी उसकी कल्पना क्या होगी? तो भाई, जिसको आप लोग परमात्म-साक्षात्कार यानी realisation of cosmic consciousness—वैश्विक चेतना का साक्षात्कार कहेंगे—वहां आप निर्गुण-निराकार को भी एक entity (सत्ता) बनाने की कोशिश करेंगे। यानी, निर्गुण और निराकार का भी एक कोई concept, उसका एक विचार, उसकी एक कल्पना बनाने की पूरी कोशिश करेंगे। रूप उसका सामने नहीं आता—तो निराकार यानी व्यापकता की कल्पना। निर्गुण में निर्विकारता की कल्पना। तो निर्विकार, निर्गुण, निराकार इन शब्दों का जो आशय है, उस आशय का नशा। फिर अपनी बुद्धि को उसका जाम पिलाना चाहते हैं।

So you stimulate an artificial state of mind through these words. (अतएव आप इन शब्दों से एक कृत्रिम मनोदशा को दीप्त करते हैं) क्योंकि परमात्मा मन से देखने की वस्तु नहीं है। वह चर्मचक्षु से दिखने वाली चीज़ नहीं है और मन की कल्पना के बाहुओं में, आलिंगन में, आने वाली भी चीज़ नहीं है। आत्मसाक्षात्कार की कोई कल्पना करके साधक चलेगा?

Look at the mischief of the mind. The mind wants to extend the field of its action. (मन की शरारत देखिये। वह अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तृत करना चाहता है)। Known में चला। ज्ञात में उसका सब कुछ चला। अब अज्ञात के क्षेत्र में अपने हाथ-पाँव यह मन फैलाना चाहता है। कि चलो, अज्ञात की कोई मैं कल्पना करूँ। फिर कल्पना करूँगा, फिर उसका निदिध्यास करूँगा, फिर उसका projection (प्रक्षेप) फिर उसको साक्षात्कार कहूँगा। अब करूँगा और फिर कहूँगा कि मुझे आत्मा का साक्षात्कार हुआ। लेकिन कठिनाई यह है कि यह मन जब तक जागृत है और कल्पना कर सकता है—तब तक आत्मा के आलोक की रश्मि भी वहाँ पहुँचती नहीं। मन को ज्ञात के क्षेत्र से अज्ञात के क्षेत्र में हाथ-पाँव मत फैलाने दीजिये। उसी में से तो संप्रदाय बने हैं। किसी ने कहा नहीं, 'अङ्गुष्ठपरिमाणज्योतिः'—अङ्गुष्ठमात्रज्योतिर्मय है। किसी ने कहा नहीं-नहीं, वह ऐसा नहीं है। वह आलोक का सागर है। किसी ने कहा, "नहीं, वह भी नहीं है। वह ऐसी शक्ति है जिसका हम वर्णन नहीं कर सकते।"

अज्ञात के क्षेत्र में मन के हाथ-पाँव फैलाने से सिर्फ़ mysticism (रहस्यवाद) हाथ में आता है, आत्मसाक्षात्कार नहीं। कवियों के लिये उसका उपयोग है—साधकों के लिए नहीं।

आत्मसाक्षात्कार यह करने की चीज़ नहीं—यह होने की चीज़ है। समस्त व्यक्तित्व का विकास, उसमें सारे व्यक्तित्व का उत्थान है—एक स्तर पर से दूसरे स्तर पर। आठ साल का लड़का है या दस साल की लड़की है—उन्होंने यौवन की कितनी ही कल्पना की—तो किस काम की? कितने ही यौवन के वर्णन पढ़े—तो उन बालकों के किस काम के? युवावस्था में सारा

व्यक्तित्व जब खिल उठता है—तो यौवन का साक्षात्कार होता है। लेकिन 'मैं यौवन का साक्षात्कार करूँगा', कहने के लिए कोई वहाँ शेष नहीं रह जाता। क्योंकि बालक समाप्त होता है। किशोर समाप्त होता है। युवक का जन्म होता है। इसलिए आत्मसाक्षात्कार कहिये, परमात्मसाक्षात्कार कहिये, चाहे जो शब्द आप ले लीजिये—यहाँ मन से किसी भी प्रकार की कल्पना—उस अवस्था की भी कल्पना—करेंगे तो नुक़सान है। उस अवस्था की कल्पना करने वालों ने ही 'एलेस्डिन' और 'सिलोसिटीन' और भेस्केलीन'—और······पता नहीं क्या-क्या निकाले हैं। consciousness-expanding drugs! (चेतना का विस्तार करने वाले औषध!) क्योंकि उन्होंने यह मान लिया है कि देहभान खो जाने पर और अहंकार से घड़ी भर के लिये छुट्टी मिलने पर जो अवस्था आती है—वह आध्यात्मिक अवस्था है। यह मान लिया। इस देश में भी भाँग, धतूरा और गाँजा लेने वाले और उसके नशे में झूमने वाले कोई कम नहीं हैं। तो नशा, गाँजे का—धतूरे का—भाँग का है, 'येलेस्डिन', 'भेस्केलीन', 'सिलेसिटीन' का है—या इस अवस्था के वर्णन के जो शब्द हैं उन शब्दों का है कोई बहुत फ़र्क़ नहीं पड़ता। इस तथ्य को ग्रहण करना चाहिये कि आत्मसाक्षात्कार एक, तन और मन से, उनके क़ाबू से, उनकी पहुँच से परे का ऐसा अज्ञात प्रदेश है—जहाँ मन और वाणी पहुँच ही नहीं सकते।

कोई उदाहरण देने की दृष्टि से नहीं, और कोई authority (प्रमाण) या sanction (अनुसमर्थन) आपके सामने रखने की दृष्टि से नहीं, लेकिन उतने सुन्दर शब्दों में शायद मैं रख नहीं पाऊँगी—इसलिए कहती हूँ—कि गाया गया हज़ारों वर्ष पहले—

यद् वाचा अनभ्युदितं
येन वाग् अभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि
न इदं यद् इदम् उपासते ॥
यन्मनसा न मनुते
येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि
न इदं यद् इदम् उपासते ॥
यत् श्रोत्रेण न शृणोति
येन श्रोत्रम् इदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि
न इदं यद् इदम् उपासते ॥
यच्चक्षुषा न पश्यति
येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि
न इदं यद् इदम् उपासते ॥
यत्प्राणेन न प्राणिति
येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि
न इदं यद् इदम् उपासते ॥
(केनोपनिषद् १-४-८)

That which is not expressed by words but through which words are expressed, that verily, know thou, is Brahman.

That which is not thought by the mind, but by which, they say, the mind is thought, That, verily, know thou is Brahman.

That which is not heard by the ear, but by which ears are heard, That, verily, know thou is Brahman.

That which is not seen by the eye, but by which eyes are seen; That, verily, know thou, is Brahman.

That which is not breathed by Prana, but through which Prana breathes; That, verily, know thou, is Brahman.

जो वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, बल्कि वाणी जिससे अभिव्यक्त होती है, उसी को तुम ब्रह्म समझना, इसको नहीं, जिसकी उपासना की जाती है।

जिसका मन के द्वारा मनन नहीं होता, किन्तु जिसके द्वारा कहते हैं कि, मन का मनन होता है, उसी को तुम ब्रह्म समझना, इसको नहीं, जिसकी उपासना की जाती है।

जो कान द्वारा सुना नहीं जाता, बल्कि जिसके द्वारा कान सुना जाता है, उसी को तुम ब्रह्म समझना, इसको नहीं, जिसकी उपासना की जाती है।

जिसे चक्षु द्वारा नहीं देखा जाता, किन्तु जिसके द्वारा चक्षु देखे जाते हैं, उसी को तुम ब्रह्म समझना, इसको नहीं, जिसकी उपासना की जाती है।

जो प्राण के द्वारा प्राणित नहीं होता, अपितु प्राण जिसके द्वारा प्राणित होता है, उसी को तुम ब्रह्म समझना, इसको नहीं जिसकी उपासना की जाती है।

उसकी उपासना, उसकी आराधना, उसकी कल्पना, उसकी भावना, हो ही नहीं सकती। क्योंकि मन के क्षेत्र से परे है।

शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द मात्र जूठे हैं। जूठा जानते हैं? उच्छिष्ट जानते हैं? ज्ञात के स्पर्श से शब्द जूठे हो गये हैं। झूठे नहीं, जूठे, एठुं गुजराती में—

ऐसा कोई शब्द नहीं है जो 'एंठा' न हो। उच्छिष्ट है। ज्ञात का उच्छिष्ट है शब्द और वाणी। इसलिए शब्द द्वारा उसका संकेत भी नहीं हो सकता। इतना कहना पर्याप्त है कि आत्म-साक्षात्कार है—आप उसको परमात्मसाक्षात्कार कहिये, परमात्मा कहिये, आत्मा कहिये—कोई बहुत फ़र्क नहीं पड़ता। क्योंकि आपके हाड़-मांसके भीतर जो तथ्य है—वही हाड़-मांस के बाहर है—आपकी आंखों के देखने का दोष है जो आप भीतर और बाहर शब्दों का प्रयोग करते हैं, वह एक ही है। आत्मा कहना और परम-आत्मा कहना—एक ही है। परमात्मा नाम से भी कोई एक अपने सामने मूर्ति ही खड़ी कर लो!

प्रश्न: ऐसे साक्षात्कार की शक्यता है? ऐसा साक्षात्कार किसी ने आज तक किया है? आप जैसा कह रहे हैं, ऐसा साक्षात्कार कोई कर सकता है?

उत्तर: वह होता है, भाई, किया नहीं जाता। प्रेम कोई करता है? और जो कहते होंगे कि हम प्रेम करते हैं वे अस्सल अप्रामाणिक हैं! प्रेम हो जाता है। इसलिये मैं कह रही थी कि वह समस्त चेतना का, व्यक्तित्व का विकास है। उस अवस्था में हुआ जा सकता है। साक्षात्कार करते नहीं हैं। ईश्वर साक्षात्कार तक तो आपकी भाषा ठीक है कि 'मैंने सगुण-साक्षात्कार किया।' क्योंकि वह आपका ही कर्म है। वहाँ तक तो ठीक है। निर्गुण निराकार के क्षेत्र में कर्ता-धर्ता-उपभोक्ता कोई नहीं होता है।

वही प्रश्नकार: ऐसा जिसको होता है, ऐसी व्यक्ति सारे संसार में कोई है? मैं उसका दर्शन करना चाहता हूँ। जैसे

श्रीरामकृष्ण परमहंस—उनको सगुण साक्षात्कार हुआ था—और सब मानते भी हैं न, कि उनको सगुण साक्षात्कार हुआ था। मगर ऐसे हाल में कोई व्यक्ति हैं? जिनका हम दर्शन करके पवित्र हों?

उत्तर: रामकृष्णदेव का नाम दिया न आपने। उनकी एक कहानी सुना दूँ। उसमें उत्तर आ जायेगा। कोई गया था रामकृष्णदेव के पास। कोई गया था पूछने के लिये कि साक्षात्कार करना चाहता हूँ। उन्होंने कहा, "बहुत ठीक। अगले शनिवार को आना।" अगले शनिवार वह व्यक्ति गया। "साक्षात्कार करना चाहता हूँ"। "बहुत ठीक। अगले शनिवार को आना।" अगले शनिवार को गया। तीन शनिवार गया। चौथे शनिवार को उसने सोचा कि ये तो गप्पीदास हैं! बोला, "आज कराते हो कि नहीं?" "हाँ ज़रूर कराता हूँ।"

गंगा में ले गये। कमर तक पानी में ले गये। और सिर पर हाथ देकर उसको दबाकर नीचे किया। जब पानी के नीचे गया तो वह श्वास नहीं ले सका। जी घबरा गया। ये रामकृष्णदेव हैं, इन से मैं पूछने आया था—यह भी भूल गया। हाथ ज़ोर से हटाया—और ऊपर उठा। बोला, "क्या मज़ाक कर रहे हो?" वे बोले, "कुछ नहीं; क्या हुआ तुम्हें?" "अरे, क्या पूछते हो? पानी में डुबो दिया, मर रहा था और पूछ रहे हैं—'क्या हुआ?'।"

"अरे, भाई, साक्षात्कार के बिना जी नहीं सकोगे, जैसे हवा के बिना जी नहीं सके एक पल भर के लिये, उस प्रकार साक्षात्कार के बिना जी नहीं सकोगे, ऐसी तड़पन जब तुम्हारे रोम-रोम को झुलसने लगेगी, तब होगा।'

कहने का मतलब यह है कि सत्य की जिज्ञासा, आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा जब अग्नि बनकर आपके भीतर धधक उठेगी—ऐसी बेचैनी बख्शेगी आपको—ऐसा दिव्य असंतोष देगी कि आपके सामने दुनिया जा रही है—भान नहीं उसका। ऐसी उत्कटता की चरम सीमा पर पहुँचने का बिन्दु ही विस्फोट का बिन्दु है। वहाँ किसी व्यक्ति के दर्शन नहीं करने पड़ेंगे। आप ही साक्षात्कार की अवस्था में पहुँच जायेंगे।

ऐसे व्यक्ति हैं या नहीं—और हैं तो मैं उनका address आपको दे दूँ—क्यों ?

Man has become mature enough to go through this mutation and arrive himself at that point. आज का मानव—इतने साधन उसे उपलब्ध हैं और इतना प्रगल्भ हो गया है—कि यदि सचमुच प्रामाणिक हो—तो इस आमूलाग्रक्रांति में से गुजर कर स्वयं ही साक्षात्कार का स्वरूप बन सकता है। वह आप बनें। आप दर्शन करने के लिये और पवित्र होने के लिये दूसरे के पास क्यों जायें ? चाहे वह कोई भी क्यों न हो।

ऐसे, उत्कटता की अग्नि में जलने वाले के दरवाजे पर दर्शन देने के लिये व्यक्ति पहुँच जाते हैं, मेरे भाई। दरवाज़ा खटखटा कर आप से कहेंगे—आपके पास आयेंगे और कहीं काम रुका हो तो आगे के एक कदम का रास्ता बतलाकर हट जायेंगे। साक्षात्कारी व्यक्ति किसी के जीवन पर अपने जीवन की छाया नहीं पड़ने देते। जो साक्षात्कार का ढिंढोरा पीटकर घूमते होंगे—और अपनी साधनापद्धति या जीवनपद्धति या अपने व्यक्तित्व की छाया दूसरे के चेहरे पर या जीवन पर डालते होंगे—ऐसे महापुरुषों से आपको भगवान् बचायें।

किसी भी स्वरूप में मानवरूप से, पशुरूप से, हवा के झोंके से, किसी किताब के पन्नों की पंक्ति से line से—वे बोध देने के लिये आ जाते हैं। इसका अर्थ मैं बताऊँ? कि जितनी आपकी उत्कटता गहराई में पहुँचती जायेगी, उतने वातावरण में जो स्पंदन हैं, वे आपके अनुकूल बनते जाते हैं। और उस प्रकार के व्यक्तियों को आपके पास खींचते चले जाते हैं। और इस प्रकार के जीवन में से—कोई गुरु नहीं, कोई पथप्रदर्शक नहीं, जंगलों में भटकना, गिरिकंदराओं में जाना, किसी का सहारा नहीं, सिर्फ अपनी उत्कट जिज्ञासा के आलोक में ठोकरें खाते-खाते घूमे हैं हम। तब हम आप से यह कहते हैं। यह होता है।

प्रश्न : 'एवा पुरुषना लक्षणनुं वर्णन करशो? (गुजराती). [ऐसे पुरुषके लक्षण का वर्णन करेंगी?]

उत्तर : 'शा माटे भाई? वर्णन जाणवाथी, शुं थशे? लक्षण जाणवाथी शुं थशे? (गुजराती). [क्यों भाई-वर्णन जानने से क्या होगा? लक्षण जानने से क्या होगा?]

ऐसे पुरुष के लक्षण वर्णन करोगे? सुबह तो किये थे। लेकिन लक्षणों के वर्णन से क्या होगा? वह वर्णन बड़ा रोचक लगेगा—मधुर लगेगा, आकर्षक लगेगा, मादक लगेगा। कल्पना शक्ति के पंख पर आरूढ़ होकर मन उस अवस्था की कल्पना करेगा, अपने ऊपर आरोप करेगा कि मैं उस अवस्था में हूँ—मैं आपके (प्रश्नकर्त्ता के) लिये नहीं कह रही हूँ, आप बुजुर्ग हैं—उसका, impersonal content of the question (प्रश्न का व्यक्ति-निरपेक्ष मर्म) यह है—

कोई स्थितप्रज्ञके वर्णन करता है। कोई केवल अवस्था का वर्णन करता है। कोई निर्वाण की अवस्था में पहुँचे हुए व्यक्ति

का वर्णन करता है। कोई साक्षित्व-प्राप्त व्यक्ति का वर्णन करता है। उसके लक्षण बतलाता है। और फिर उन लक्षणों को हम रटेंगे—फिर अहिंसा, सत्य, अस्तेय कहेंगे—अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य कहेंगे—अपने ऊपर उनको थोपने की कोशिश करेंगे। लेकिन क्या करें? यह आत्मसाक्षात्कार कोई 'कोट' और कुर्ता तो है नहीं कि ओढ़ा जाय—पहना जाय—उतारा जाय—रखा जाय।

शब्दों के, विचारों के, और दूसरों की अनुभूतियों के वस्त्र उधार ले-लेकर हमने पहने हैं—और नाटक में जैसे कोई राम बनता है—कृष्ण बनता है—ऐसे मान लिया कि हम भी साक्षात्कार की अवस्था में हैं। यह करने की आदत लगी है। इसीलिये थोड़ी सी कठोर भाषा का प्रयोग हुआ। क्या करें? सत्य बड़ा कृपा-कठोर है।

और असत्य की कोमलता और स्निग्धता के बदले सत्य की कृपाकठोरता—यह हमें बड़ी प्रिय है उसकी तीक्ष्णता। तो लक्षण बतलाना असंभव नहीं है—बतलाये जा भी सकते हैं—लेकिन उससे लाभ नहीं।

आनंद के अधिष्ठान पर जो प्रतिष्ठित हो गया है—उसके शरीर के, मन के और बुद्धि के व्यापार चलते हुए भी, अधिष्ठान से एक पल भर के लिए वह चलित नहीं होता। मान और अपमान, सुख और दुःख, हर्ष और शोक के बीच में से बादशाह की शान से गुज़रता हुआ चला जाता है। न सुख उसको फँसाता है—न दुःख उसको रोकता है। वह बोलता है, लेकिन उसकी वाणी में और शब्दों में मौन ही मुखरित होता है, वाचालता नहीं। उसके शब्द वाणी का विलास नहीं, कल्पना का शृङ्गार नहीं, अनुभूति के रश्मि हैं। वे चित्शक्ति की कलियाँ हैं

जो खिलती हैं—और अपनी सुषमा, सौरभ बिखेरती हैं। तो वाणी और शब्द उसका मौन तोड़ने में असमर्थ हैं और आपकी 'स्पूटनिक' की गति भी उसकी स्थिति की अचलता को भंग करने में असमर्थ है। सारे संसार का तूफ़ान और आंधी उसकी शांति को भंग करने में समर्थ नहीं है। क्या बतलायें और कहाँ तक बतलायें? बतलाते चले जायेंगे। लेकिन ऐसा हो सकता है—ऐसा जिया जा सकता है।

वक्ता श्रोता तु भगवान् वासुदेव इति मे मतिः।

तीन दिनों तक आप सब लोगों ने यहाँ आकर यह सुखसंवाद करने का अवसर दिया। जब मित्रों ने पिछले महीने में कहा था—कि आइये, दस-पंद्रह व्यक्ति बैठेंगे—पच्चीस व्यक्ति बैठेंगे—सुनना है कुछ आपसे, तब मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि अहमदाबाद के सज्जन ऐसी कृपा करके सुबह-रात यहाँ आने का कष्ट करेंगे। संतों की, मुनियों की, साधुओं की सभाओं में, प्रवचनों में लोग जायें—तो आश्चर्य नहीं। मैं तो आप लोगों में से एक हूँ। आपके जैसी, घोर संसार में रहती हूँ। 'साधुत्व', 'संतत्व'—ये मेरे पास फटकते भी नहीं है और अपनी सामान्यता का ऐश्वर्य किसी कीमत पर खोकर साधु-संत बनने की इच्छा भी नहीं है। (यदि) कुछ तीन दिनों में आपने सुना होगा—और सुनने में से यह देखा होगा—कि नितान्त सामान्य व्यक्ति भी आनंद में प्रतिष्ठित होकर जी सकता है। घरबार छोड़ने की ज़रूरत नहीं—और आनंद में प्रतिष्ठित होने के बाद भी कहीं से हटने की, कुछ छोड़ने की, कुछ पाने की, कुछ खोने की, कुछ कमाने की आवश्यकता नहीं। सामान्य व्यक्ति सामान्य जीवन जी सकता है—इतना यदि ध्यान में आया हो—तो आपका और मेरा एक जगह आना सार्थक हुआ। लोगों ने यह आत्म-

साक्षात्कारी लोगों की जमात बना ली है। उनके वेश, उनकी भूषा, उनकी दीक्षा—ये सब अलग बना दिये हैं। मानों, आपके और मेरे जैसे संसार में रहने वाले सामान्य व्यक्तियों का वह अधिकार ही नहीं। मैं कहती हूँ—आनंद की उपलब्धि मानवमात्र का जन्म-सिद्ध अधिकार है। आनंद की संभावनाओं के बीज भरे हुए हैं उसमें और हरेक उपलब्ध कर सकता है।

लेकिन मालूम नहीं है कि आनंद मेरा स्वरूप है। वह स्वरूप है। वह तो समझता है—सुख की खोज करूँ तो सार्थक हो गया—संग्रह ज्ञान का करूँ तो सार्थक हो जायेगा—कर्मपरंपरा को मैं परिमार्जित, परिष्कृत करता चला जाऊँ तो सार्थक हो जायेगा। करने में सार्थक नहीं, होने में सार्थक है जीवन और ऐसा आप, हम, सब, आनंदमय जीवन जी सकते हैं।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद् ह्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति ॥
आनन्दे प्रयान्ति अभिसंविशन्ति।

(तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६)

[आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जानो। आनन्द से ही यह भूत—प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं, आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।]

यह आनन्द जो स्वरूप है—मौन के और ध्यान के दर्पण में, वह अपना जो स्वरूप है, वह देखने की बुद्धि और शक्ति आपको—हमको उपलब्ध हो—इसी शुभकामना के साथ यह संवाद यहाँ, समाप्त तो नहीं, स्थगित करते हैं। अभी जिस बहन

ने हमें प्रारंभ में मधुर भजन सुनाया—हमारी आप्त हैं मदिना बहन, वे एक भजन गायेंगी, उसके बाद दसेक मिनिट आप और हम—शब्द के माध्यम से एक दूसरे के साथ अब तक बैठे थे—तो दस मिनिट अब मौन में एक साथ बैठेंगे—और फिर सभा विसर्जित होगी।

[दस मिनिट का मौन ध्यान। फिर अल्पाहार।]

———

: २ :

स्थान : संस्कारतीर्थ, आजोल (गुजरात)

(शिक्षिकाओं और समाज-सेविकाओं का शिविर)

दिनांक २९–३१ । १२ । १९६७

दिनांक : २९–१२–६७

(क) दोपहर की सभा (शिविर का उद्घाटन)

इन सभाओं में आप के साथ कभी सशब्द, कभी निःशब्द संवाद चलेगा। जनता की, देश की, दुनिया की सबसे बड़ी सेवा स्वयं मानव बनना है। जब तक व्यक्ति स्वयं मानव नहीं बनता तब तक दूसरे किसी की किसी भी प्रकार की सेवा करने का दावा एक कल्पना का विलास है। मानव का जन्म, मानव-देहधारी पशु का जन्म है। मनुष्य का देह उपलब्ध होना एक बात है, और व्यक्तित्व में मानवता का आशय विकसित होना, पुष्ट होना दूसरी बात है। आज जिस मुकाम पर सारी मानव-जाति खड़ी है, वहाँ उसको आँखें अन्तर्मुख करके खोजना है। व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से, सामूहिक दृष्टि से खोजना है कि हम मानव हैं या नहीं। यदि नहीं, तो क्यों नहीं हैं और मानव बनना है तो किस प्रकार बनेंगे। आप ने आम का बीज बोया, अंकुर फूटा, पौधा बना, वृक्ष का तना खड़ा हुआ; पत्ती भी आई, फल न आए। गुलाब का पौधा है, कलियाँ आईं, मुरझा गईं, खिल कर फूल नहीं बने। आप कहेंगे कि जो बोया था उसका विकास नहीं हुआ। तो इस मानवता में अनन्त दिव्य संभावनाओं को भर-भर के भेजा जाता है। यह मानव-शरीर यानी एक प्रकार का बीज समझ लीजिये। अनन्त संभावनाओं को खिलने देना, फूलने देना, फलने देना और अपनी समग्रता में विकसित होकर सौरभ फैलाना, यह सबसे बड़ी सेवा है। यह करने का रास्ता खोजना है, चाहे आप घर में हों, चाहे बाहर हों, चाहे स्त्री-शरीर में हों, चाहे पुरुष-शरीर में हों, चाहे समाज-सेवा करती हों, चाहे विद्यालय में आचार्य हों।

खोजना है कि मनुष्य कैसे बनेंगे। भूख जाग उठनी चाहिए, प्यास जाग उठनी चाहिए मानव बनने की। कैसे बनें। पहले तो मानव क्यों नहीं हैं, इसकी खोज करनी होगी और उस खोज का प्रारम्भ है आत्म-परिचय। प्रभु ने मुझे क्या-क्या दिया है, इसको तो पहले देखिये।

आँखें खोल-खोल कर सारी दुनिया को मानव देखता है। पृथ्वी-तत्त्व पर विजय, वायु पर विजय, आकाश में, अन्तरिक्ष में जाना—न जाने विज्ञान और यन्त्र मानव को कहाँ-कहाँ ले जा रहे हैं। सब जगह जाते हैं तो मानव बनने की यदि भूख और प्यास हो तो दृष्टि को अपने पर लाकर देखना चाहिये कि यह शरीर क्या है। इसमें क्या-क्या भरा पड़ा है? ये हड्डियाँ कैसे बनती हैं, यह मांस कैसे बनता है, मांसपेशियाँ कैसे बनती हैं, ये तन्तु कैसे बनते हैं, ये मज्जाएं क्या हैं, ये ज्ञान-तन्तु, क्या हैं, इनके क्या-क्या काम हैं? इनके जो धर्म हैं, उनका मैं पालन करता हूं या उनके विरोध में जाता हूं, यह देखने की बात है। अपने तन का परिचय नहीं, दूसरों की सेवा करेंगे, वह बनेगा नहीं। मोटर चलाने बैठे हैं, 'ब्रेक' लगाना मालूम नहीं, 'गेयर' बदलना मालूम नहीं; 'ब्रेक' 'जाम' है (फँस गया है, अटक गया है)। 'गेयर' बदल नहीं सकते हैं। टंकी में कितना पेट्रोल डालना, यह मालूम नहीं है। मोटर चलाने बैठे हैं। आप कहेंगे कैसा ड्राइवर है। इसको 'पंचर' हुआ तो ठीक करना मालूम नहीं, इसको 'हैंडब्रेक' 'फुटब्रेक' का उपयोग मालूम नहीं। मोटर चलाने बैठे हैं। आप लोग हंसेंगे, लेकिन जिस मानव-तन में बैठे हैं, उस मानव-तन से हम परिचित नहीं हैं। और उसको चलाना चाहते हैं तो क्या कम नासमझी की बात है? जिस मन के द्वारा व्यवहार करते हैं, उस मन से भी उतने ही अपरिचित हैं। जो चिरपरिचित होना

चाहिये उससे सर्वथा अपरिचित हैं, अपने तन से, अपने मन से। तो यह मन को प्रिय, अप्रिय लगना, यह सुख दुःख की अनुभूति आना, यह हर्ष या शोक के अनुभव से गुज़रना—यह सब क्या है ? यह मन क्यों इस प्रकार झूले पर झूलता ही रहता है ? कभी हर्ष में, कभी शोक में, कभी सुख में, कभी दुःख में, यह क्यों इस प्रकार नाचता-कूदता, चंचल रहता है ? यह विचारों का उठना क्या है ? ये जो हमारी भावनाएं उठती हैं ये क्या हैं ? ये स्पन्दन उठते कहाँ से हैं ? इनका लय कहाँ होता है ? किसी ने देखा कभी ? और उस मन में से स्फुरने-वाले तत्त्वों को लेकर हम सेवा करेंगे; वह शब्द ही कलुषित निकलेगा, दूषित निकलेगा। तन से, मन से, परिचय पाने के बाद जो कर्म आप के भीतर से खिल उठेगा वह समग्रता की ओर लेता चला जाएगा। तब तक सारे कर्म कर्म नहीं हैं. इन्द्रियवश होकर की गई क्रियाएं हैं। और तन-मन की गुलामी से जो क्रियाएँ रात-दिन करते चले जाते हैं, उनको मेहरबानी करके हम कर्म न कहें, कर्मयोग न कहें। उन क्रियाओं में से शरीर थक जाएगा और जीवन के संध्याकाल में हाथ ख़ाली का ख़ाली रह जाएगा। तो, तन की, मन की गुलामी से मुक्त होने के बाद जो स्वायत्त कर्म प्रस्फुटित होता है, वह है सेवा। कोई रामकृष्ण परमहंस सेवा करने के अधिकारी थे, कोई अरविन्द सेवा के अधिकारी थे। कोई रमण महर्षि सेवा करने की बात बोल सकते थे। तो क्या कभी कुछ न करें ? हम विद्यालय बन्द कर दें ? विद्यालय, छात्रालय बन्द करके चले जाएँ यह मतलब नहीं है। मानव बनने की प्रक्रिया में न कुछ छोड़ना पड़ता है, न कुछ बंद करना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि मानव बनने की भूख और प्यास जाग उठना और मानव बनने की ओर क़दम बढ़ाना यह होना चाहिये अधिष्ठान आप की बहिरंग प्रवृत्ति का।

(ख)

सायंकाल की प्रार्थना-सभा

जीवन की गति ऊर्ध्व होती है। जिसमें प्राणशक्ति है और प्राणों का संचालन करने वाली ऊर्जा है, उसकी गति ऊर्ध्व होती है। बीज बोते हैं, अंकुर धरती को भेद कर ऊपर उठता है। पौधे की गति आकाश की तरफ़ होती है। सागर जल से भरा हुआ है। सूर्य की किरणों से वह पाता है प्रेम की ऊष्मा। बाष्प बन कर ऊर्ध्वगति में उठता है। चन्द्रमा की किरणें जब पाता है, तो आनन्द से ऊपर की ओर उछलता है। इसी प्रकार मानव बनने पर अनुभव में आता है कि मानव का जीवन भी ऊर्ध्वगति हैं। सत्य, शिव और सुन्दर की ओर जो गति है उसको मैं ऊर्ध्व गति कह रही हूँ। अपने शरीर से ऊपर उठने की प्रेरणा मिलती है। सत्य की ओर जाने की, अमृत की ओर उठने की, सुन्दर की ओर उठने की जो प्रेरणा है वह ऊर्ध्वगति जीवन की प्रेरणा है। अहंकार अधोगति में ले जाता है क्योंकि वह हमें शरीर से बाँधता है, मन से बाँधता है। और अपने चारों ओर एक परिधि का निर्माण करता है जिसमें मनुष्य को घूमना होता है। 'अहं' के केन्द्र से जिस परिधि का निर्माण होता है वह मनुष्य को वैश्विक चेतना से अलग कर देती है। अहंकार की गति सीमित करने की, मर्यादित करने की, परिधि में बाँध देने की है; वह चारों ओर दीवारें खड़ी करके मनुष्य के लिए सुरक्षितता के आभास का निर्माण करता है, इसी में सारा जीवन बीतता है। अहंकार कहता है—'धन कमाओ, फिर धन से सुख के सामान जुटाओ, धन से प्रतिष्ठा ख़रीदो, धन से अनुयायी बनाओ, चेले बनाओ, धन से सुरक्षा खरीदो'। सुख-सुविधा का सामान भी जब ऐशो-आराम में परिणत होता है, तो वह सुरक्षा की कैद बन

जाता है। अहंकार हमेशा संग्रह और परिग्रह सिखाता है। मन में उठने वाली हरेक वृत्ति को अहंकार अपना साधन बनाता है। और संग्रह और सुरक्षा के प्रलोभन में एक नहीं, अनेकानेक जीवन व्यतीत कर देता है।

प्रार्थना है अहंकार के इस दुष्ट चक्र से छूटने की आकांक्षा। प्रार्थना शारीरिक क्रिया नहीं है, शारीरिक क्रिया उसका बाह्य रूप है। लेकिन प्रार्थना का आशय शरीर से सर्वथा भिन्न है। शब्दों का उच्चारण, महापुरुषों की अनुभूतियों का रस जिनमें लबालब भरा है, ओतप्रोत है, ऐसे शब्दों का, भावनायुक्त शब्दों का उच्चारण करने से हममें भाव-जागृति होगी, यह समझ कर प्रार्थना करते हैं, सन्तों के शब्दों का पुनः उच्चारण करते हैं। भजन करने जाते हैं, लेकिन भाई ! शब्द तो है छिलका। उस छिलके को उतार कर शब्द के भीतर जो अर्थ की गुफ़ा है, उस गुफ़ा में घुसना पड़ता है, जिसमें सन्त की अनुभूति का आलोक पड़ा होता है। यदि छिलकों पर रुक जाएँगे तो प्रार्थना फिर शारीरिक और यान्त्रिक क्रिया रहेगी। वह यान्त्रिक और शारीरिक क्रिया मात्र न रहे, इसलिये उसे सीखना पड़ता है। कला इसमें है कि शब्दों के आवरण जो हैं, उनको हटाकर अर्थ के गर्भगृह में घुसें, शब्द-भेद करके अर्थगृह में प्रवेश करें और अनुभूतियों का जो आलोक उस गर्भगृह में पड़ा है, उसके स्पर्श से ज़रा शुचि हो जाएँ, उसमें स्नान कर लें, नहा लें। तो, अहंकार की यह मायामयी लीला है, जो नाच नाचती है—"अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल"—इन विषयों ने बहुत नाच नचाया गोपाल, काम-क्रोध की माला भी पहनायी, कुछ नूपुर भी मेरे पाँव में बाँधे, बहुत किया—अब यह नाच हम नाचना नहीं चाहते, ऐसी जब चीख़, एक आर्त पुकार समस्त प्राणों में से फूट पड़ती है, तब वह प्रार्थना

बन जाती है। अहंकार की कैद में गिरफ्तार आत्मा जब उस कैद से मुक्त होने के लिए छटपटाता है तो उसकी विकलता शब्दों में व्यक्त होने लगती है, उसको कहते हैं प्रार्थना। यह व्याकुलता, यह विकलता यह आर्तता जागृत हो इसलिये दैनिक जीवन में प्रार्थना-कर्म का समावेश किया जाता है, यह नहीं भूलना चाहिए।

उन लोगों में से मैं नहीं हूं कि प्रार्थना का मर्म हाथ में नहीं आया, इसलिये बाहर के कर्म भी छोड़ दो, उनका भी निषेध करो। मुझे लगता है कि अध्यात्म में निषेध का अवकाश नहीं है। निषेध भी एक प्रकार की सूक्ष्म आसक्ति का ही रूप है। एक ही विकार भावरूप हो जाए तो आसक्ति कहलाता है। और वही निषेधात्मक भाषा में उतर आए तो विरक्ति बन जाता है। अनुरक्ति और विरक्ति, आग्रह और निषेध— ये दो वृत्तियाँ दिखती हैं, लेकिन असल में एक ही है। इसलिये यह नहीं कहूंगी कि प्रार्थना सब झूठ है, यह सब छोड़ दो। यही कहूंगी कि इस बाह्य रूप पर अटकना नहीं, मेरी बहनो; इसके भीतर घुसना, बाहर अटके रहोगे तो फिर एक सदाचार-मात्र हाथ लगेगा, अन्तर भीगेगा नहीं।

आँख न मूंदौं, कान न रूंधौं, काया कष्ट न धारौं।
खुले नयन मैं हँस हँस देखौं, सुंदर रूप निहारौं॥
साधो, सहज समाधि भली॥

ऐसे सहज समाधि के सुख तक यदि पहुँचना है तो बाह्य क्रिया पर रुकना नहीं। रुकता कौन है? जो सभान नहीं होता, जो सजग नहीं होता, वह रुकता है। भेदन करने की शक्ति चाहिये, तो वह सावधानता है। जब किसी शब्द का उच्चारण करते हैं तो देख लेना चाहिये कि शब्द का अर्थ मालूम है या नहीं? यदि कहते हैं कि है, तो फिर 'प्रभु तु असत् में से सत्

की ओर ले जा'—यह कहते समय देख लेना चाहिये कि सत्यमय जीवन के लिये समाज में जो कीमत चुकानी पड़ेगी वह चुकाने का साहस है या नहीं। जिस किसी ने राम को बुलाया और वह जा कर जिस किसी के हृदय में बसा, उसको आप के समाज ने तो कभी भला नहीं कहा। हरिश्चन्द्र के हृदय में सत्य बसा तो राज्य भी गया, और पाट भी गया और भरे बाजार में खड़ा होना पड़ा कि बोलो क्या कीमत है? श्मशान में नौकरी भी करनी पड़ी और पत्नी पर तलवार उठाने की भी नौबत आई। सत्य बड़ा कृपाकठोर है, अपनी क़ीमत वसूल करता है। सब कुछ—जितने विकार हैं, जितनी कमज़ोरियाँ हैं, उनको सत्य अपनी अग्नि में जला देता है, भस्मसात् कर देता है। बड़ा कृपाकठोर है। कहना है कि सत्य की प्रतिष्ठा हो तो कहने से पहले, जिह्वा पर शब्द लाने से पहले दिल में सौ बार सोच लेना चाहिये कि रातदिन कहती हूँ कि 'राम मेरे हृदय में बसो, सत्य मेरे हृदय में बसो, मेरे हृदय में करुणा रहे, प्रेम रहे'—तो सोच लेना चाहिये कि इन के लिये मेरे भीतर जगह है क्या? और वे सचमुच आ कर बैठ जाएंगे तो जो क़ीमत वसूल करेंगे, वह चुकाने की हिम्मत है, इच्छा है, शक्ति है? प्रेम का हृदय में प्रवेश होना मुश्किल नहीं है, लेकिन प्रेम को हृदय में धारण करने के लिये बहुत बड़ी शक्ति चाहिये।

"प्रेमपंथ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जो ने।
माहीं पड्या ते महासुख माने, देखनारा दाझे जो ने।
हरिनो मारग छे शूरानो, नहिं कायरनुं काम जो ने॥"

[प्रेमपंथ पावक, अग्नि की ज्वाला है। इसे देख कर कोई पीछे न भाग जाए; जो इसके बीच पड़ जाता है वह महासुख मानता है और देखने वाला जलता है। हरि का मार्ग शूरों का है, वहाँ कायर का काम नहीं।]

यह पावक की ज्वाला ! प्रेम करना कोई कमज़ोरों का काम नहीं हैं। तो प्रार्थना करते समय यदि सभान रह कर शब्दों का उच्चारण करने लगेंगे तो शब्द कृपापूर्वक अपना अर्थ स्वयं समझा देंगे। अपने सारे व्यक्तित्व को सुबह और शाम जो खड़ा कर देता है अर्थ के आलोक में, उस प्रकाश में जो सुबह शाम नहाता है, उस की शक्ति बढ़ेगी। सूर्यस्नान करते हैं न भाई! गंगास्नान करते हैं। उसी प्रकार संतों की वाणी में जो अर्थ का प्रकाश है, जो अर्थ का जल है, जीवन है, जो उन की अनुभूति का रस है, उसमें सुबह-शाम स्नान करने वाले की शक्ति नहीं बढ़ेगी तो किसकी बढ़ेगी? लेकिन वह स्नान करना चाहिये। तो, दिन में प्रमादवश, तंद्रावश, जड़तावश, अनवधानवश हम भूल जाते हैं कि हम शरीर नहीं हैं, हम मन नहीं हैं, हम बुद्धि नहीं हैं; हम इन से परे हैं, ये सब हमारे साधन, वाहन हैं। हमारा सत्य इन से परे है, इनमें नहीं है, यह मालूम है, लेकिन फिर भी प्रमादवश भूल करते हैं।

बारह वर्ष तप करने के बाद भगवान् महावीर ने क्या कहा? प्रमादरहित जीवन के बारे में ही तो बोले हैं। हम यदि यह समझेंगे कि चार किताब पढ़ने के बाद हमारा जीवन प्रमादरहित हो गया तो बड़ी भूल में हैं। अखण्ड जागृति तो वह तलवार है जिसकी धार कभी कुन्द नहीं पड़ती। इसलिये दिन में २४ घंटे का अवधान साधने के लिये यह प्रार्थना का उपक्रम है। जैसे, तैरना सीखना है तो जाकर नदी के प्रवाह में हमें छलांग लगानी पड़ती है, उसी प्रकार अनुभूति-संपन्न व्यक्तियों की जो वाणी है, जो शब्द हैं, उनके अर्थ में एक बार दिन में जाकर छलांग लगानी चाहिये ताकि २४ घण्टे के अनवधान का परिमार्जन हो जाए। जहाँ तक मैं समझी हूँ, प्रार्थना का यह प्रयोजन है—याद दिलाने

का कि भाई, यह शरीर तो आज है कल नहीं रहेगा; यह शरीर तो आज है, अभी है, और घड़ी भर के बाद नहीं भी रह सकता। लेकिन जन्म और मृत्यु इन दोनों तटों के बीच में बहने वाला जो जीवन का प्रवाह है, उसमें तो जो साक्षित्व का अभ्यासी है, वही नहा सकता है। मैं शरीर नही हूँ, इन दोनों में से बहने वाला जीवन मैं हूँ। इसकी याद अपने आप को दिलाने के लिये प्रार्थना है, पूजा है, आप के जप-साधन हैं। यह प्रयोजन है इनका। लेकिन हमलोग इस देश में ऐसे अभागे हो गये हैं कि हम आचरण का प्रयोजन भूल जाते हैं। व्यवहार या आचरण का प्रयोजन भूल जाते हैं। व्यवहार या आचरण या कर्म जिसकी ओर संकेत करता है, जिसके लिये प्रतीक बनकर व्यवहार का आरंभ हुआ है, उस संकेत को भूल जाते हैं, प्रतीक को चिपके रहते हैं। इसलिये लाखों जाते हैं, मन्दिरों में, मस्जिदों में। शिव की उपासना करने वाले हैं, लेकिन वैराग्य नहीं। वीतराग महावीर की पूजा करते हैं, लेकिन परिग्रह नहीं गया। कृष्ण के गीत गाते हैं, लेकिन प्रेम की किरणें भी हृदय में नहीं जाग उठीं। ऐसे हम कोरे के कोरे रह जाते हैं। यह प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना यदि बहिरंग पर रुक जाए तो दूसरा नुकसान यह होता है कि हम पाखण्डी बन जाते हैं। दम्भी बन जाते हैं। अहंकार होने लगता है कि मैं धार्मिक हूँ और जो भजन नहीं करता वह अधार्मिक है। 'मैं आध्यात्मिक हूँ', लेकिन 'मैं हूँ' जहाँ का तहाँ। और प्रार्थना तो है इसी 'मैं' को पिघलाने की युक्ति; अहंकार को आरजू में बदल देने वाली ही तो प्रार्थना है। लेकिन हम तो उस 'अहं' को चिपके रहना चाहते हैं। हम समझते हैं प्रार्थना एक मानसिक कर्म है, पूजा मानसिक और शारीरिक कर्म है। 'मैं पूजा करूँगा, मैं ध्यान करूँगा'। धन कमाना छोड़

दिया। विवाह किया, छोड़ दिया पत्नी को, 'मेरी पत्नी, मेरी प्रतिष्ठा, मेरी घर, मेरा धन' छोड़कर 'मेरा धर्म, मेरा संप्रदाय मेरी अनुभूतियाँ'—इनको पकड़ लिया। अहंकार ने विषय बदल दिये, लेकिन अहंकार संग्रह, परिग्रह नही छोड़ता। बाहर की स्थूल वस्तुओं को छोड़ दिया तो भीतर का सूक्ष्म परिग्रह ले बैठता है अहंकार। बाहर का परिग्रह छूट भी जाएगा, लेकिन यह जो भीतर का परिग्रह है वह ऐसा चिपक कर बैठता है कि जैसे कर्ण के कवच-कुण्डल थे। ये जो हमारी चेतना पर चिपके बैठे हैं, ये परिग्रह के जो स्तर हैं, इन सबको एक-एक करके प्रेम से उतार देने की प्रक्रिया प्रार्थना है।

गंगाजी में नहा कर आये और शरीर स्वच्छ नहीं हुआ तो आप कहेंगे कि नहाये नहीं है। और प्रार्थना करते-करते जिन्दगी बीत गई है, अहंकार नहीं गया, क्रोध नहीं गया, ईर्ष्या नहीं गई, द्वेष नहीं गया। दोष प्रार्थना का नहीं है, प्रार्थना के नाम से दाम्भिक आचरण करने वाले का है।

[यहाँ पर रामकृष्णदेव के भक्त गिरीश घोष की नाटक-मण्डली की अभिनेत्री तारा के जीवन-परिवर्तन, एक प्रणाम से समग्र कलुष के धुल जाने की घटना कुछ विस्तार से सुनाई गई थी।]

देखिये, कैसे जागृति काम करती है! जागृति ऐसी विस्फोटक वस्तु है, ऐसा द्रव्य है जागृति, कि जिसमें सारे दोष क्षणमात्र में, पलमात्र में भस्मसात् होते हैं। फिर, दोष के परिमार्जन के लिये स्वतन्त्र साधना नहीं करनी पड़ती। जागृति जैसा explosive, विस्फोटक कुछ नहीं, कोई द्रव्य नहीं, कोई तत्त्व नहीं। एक प्रणाम से पाप धुलता है और हम सौ बार करते हैं, हमारा क्यों नहीं धुलता? हम सचमुच करते ही नहीं। यह तो

अहंकार की एक माया है कि वह शरीर को झुका देता है। अहंकार बड़ा कुशल है; कभी गर्दन सीधी रखायेगा, तो कभी झुकायेगा भी। शरीर को झुकाना प्रणाम नहीं है। कण्ठ से या वैखरी वाणी से शब्दों का उच्चारण करना प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना है समस्त चेतना की एक आर्त पुकार, समस्त प्राणों में जगी हुई एक प्यास है, एक भूख है। पुकार की यह उत्कटता, अहंकार की कैद से, उसके कारागृह से मुक्त होने की आकांक्षा हम सब लोगों के हृदय में जन्म ले, यही प्रार्थना मैं करती हूँ।

लोग समझते हैं कि प्रभु कहीं बाहर है, कहीं दूर है और उनसे प्रार्थना करनी है और उन्हें बुलाएँगे, वे आएँगे। कहीं, बाहर हैं, कहीं दूर हैं, उनको सुनाने के लिए हम कह रहे हैं। विवेक से देखा जाए तो यह 'भीतर' और 'बाहर' दोनों शब्द भी बड़े मायावी हैं, मिथ्या हैं। जो त्वचा से बाहर है, उसको 'बाहर' कहते हैं, जो त्वचा के भीतर है वह दिखता नहीं है। इसलिये उसको भीतर कहते हैं। यदि प्रभु बाहर हैं तो वे कहीं दूर नहीं हैं, वस्तुमात्र में हैं, लेकिन बाहर हैं तो भीतर भी हैं। एकदेशीय तो हैं नहीं कि आप जहाँ बैठा देंगे वहाँ मन्दिर में बैठे रहेंगे। बड़े नटखट हैं। सारी दुनिया में संचार करने के बाद भी वह ऊर्जा जो है, अबाधित काल से उस ऊर्जा की सर्जनशीलता चली आयी है। न जाने कितने विश्व आज तक आए, न जाने कितने देश उठे। धीरे-धीरे सभ्यताएँ आईं, उत्थान की चरम सीमा पर पहुँचीं, लय पा गईं। उस आद्यशक्ति ऊर्जा का खेल चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। तो, दूर बैठे हुए किसी प्रभु को बुलाने के लिये प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना अपने आपको स्मरण दिलाने के लिये है।

'हम ने प्रार्थना की और प्रभु आये थे, हमने देखा है, बंसी बजाते आये थे, धनुर्धारी बनकर आये थे, पार्वती के संग आये

थे' ठीक है। चित्त की सारी उत्कटता बटोरकर जिस रूप में देखना चाहोगे उस रूप का प्रक्षेपण करने की शक्ति तुम्हारे मानस में है। यह जो मन है, चेतन-अचेतन मन है, उसमें ऐसी शक्ति भरी पड़ी है कि उस उत्कटता को बटोरकर जिस किसी रूप को देखना चाहोगे, जिस पर निदिध्यास करोगे, वही रूप सामने आ जायेगा। देखो; उस रूप में भी देखो। लेकिन भीतर जिस रूप की चाह थी, उस रूप का प्रक्षेपण हमने बाहर किया है, यह न भूलो। हमने, यानी यहाँ बैठी हुई 'कमला-सरला' ने नहीं, मानव ने हज़ारों वर्ष पहले, जैसे हम सपने देखते हैं, वैसे सपने देखे थे।

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इस प्रकार के निराकार तत्त्व से समाधान नहीं हुआ तो भावयुक्त चित्त ने 'सत्य' का भी रूप देखना चाहा, 'शिव' को भी रूप देना चाहा। चेतना पुरुषत्व और स्त्रीत्व से ग्रस्त है। इसलिये कभी उसे स्त्री के रूप में देखा, कभी पुरुष के रूप में देखा। लेकिन प्रभु के कहीं स्त्रीत्व और पुरुषत्व हैं? हैं तो सभी रूप उस अरूप के ही हैं, नहीं तो कोई नहीं। अन्वय दृष्टि से देखना चाहो तो अनन्त रूप उसी के हैं; स्त्रीत्व भी उसका और पुरुषत्व भी उसी का। और, व्यतिरेक दृष्टि से देखना चाहो तो उस अरूप के कोई रूप नहीं, उस निर्गुण के कोई गुण नहीं। सच्चिदानन्द रूप कहोगे तो भी लक्षणा है। यथार्थता उससे बहुत दूर है। इसलिये अपने को जो रूप प्रिय है, उस रूप में अपने भीतर की उत्कटता से यदि देखना चाहेंगे और उस अनुभव पर पहुँचेंगे कि वह रूप सामने आया है, तो वह भी एक सोपान हो सकता है। हिन्दू है तो कृष्ण के रूप में देखेगा, ईसाई है तो ईसा के रूप में देखेगा, मुसलमान बेचारा देख नहीं पाएगा क्योंकि अल्लाह के कोई रूप नहीं है और पैगंबर

मुहम्मद की भी कोई तस्वीरें उपलब्ध नहीं हैं। जैन है तो महावीर के रूप में देखेगा, बौद्ध हो तो गौतम बुद्ध के रूप में देखेगा। कोई किसी रूप में, कोई किसी रूप में। उत्कटता के साथ जब कल्पनाशक्ति का विहार और विलास होने लगता है तब कविहृदय रूप भी देख लेगा, नाद भी सुन लेगा। लेकिन समझने की बात तो यह है कि सभी नाद, सभी रूप, सभी रंग भीतर पड़े हैं। इससे अधिक इस समय नहीं कहेंगे।

प्रार्थना में द्वैत का आभास होता है और भक्ति का भी यही अर्थ समझ लिया गया है कि भक्त पुकारता है और भगवान् आते हैं। लेकिन भक्ति क्या है? भक्त कौन है? और उसके भगवान् कहाँ रहते हैं, इस विषय में कल विचार करेंगे।

———

(२)

दिनांक—३०-१२-६७

(क)

प्रात:काल की प्रार्थना-सभा

प्रेम में जीवन है और द्वेष में मृत्यु। शान्ति में जीवन है और अशान्ति में मृत्यु। यह जीवन पाने के लिये, शरीर के अणु-रेणु प्रेम से ओतप्रोत होने के लिये भक्ति एक साधन है, ज्ञान एक साधन है, कर्म एक साधन है, यह जो व्यक्ति भूल गये वे कर्म में आसक्त हो गये, ज्ञान में डूब गये, भक्ति के उपकरणों में आसक्त हो गये। वे जीवन का रहस्य खो गये। भक्ति क्या है? भक्त कौन है और उसके भगवान् कहाँ होते हैं, इसका विचार आज करेंगे।

साफ़ ही है कि यह संसार न आपने बनाया है, न मैंने। आशा करती हूं कि आप लोग कभी आँख खोल कर, यह जो सृष्टि है उसे देखते होंगे। मालूम नहीं, आप में से कितनों ने कोयल का गीत सुना है, कितनों ने कौवे का सुन्दर काला वर्ण देखा है, कितनों ने आँख खोल कर मोर के पंखों की सुन्दरता को देखा है, कितनों ने अंधेरे को देखा है। अँधेरा बहुत सुन्दर होता है। मानव-निर्मित प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार की सहज, स्वाभाविक सुन्दरता न जाने चित्त को कैसी प्रसन्नता से भर देती है? आकाश के तारों को कभी देखा है? झरनों को, नदियों को बहते हुए, कभी क्षण-भर रुक कर देखा है? आप से बातचीत करने जो लोग आते होंगे उनकी आँखों में से झाँकने वाली रोशनी को, उस चेतना को कभी देखा है? नहीं। देखने की फुर्सत हमें है नहीं। अपने

विचारों में, अपनी भावनाओं में, वासनाओं में हम ऐसे उलझे हुए हैं कि हमें किसी की ओर देखने की फुर्सत नहीं। पति को पत्नी की ओर देखने की फुर्सत नहीं। देखता है, जब तक उसकी वासना का वह साधन है, तब तक उसके रूप की प्रशंसा होती है। पति के रंजन के लिये शृंगार, प्रसाधन किया हो, तब देखता है। वह तो अपनी ही वासना को देखना हुआ। पत्नी को देखना कहाँ हुआ? पत्नी ने पति को कभी देखा है? वह तो पैसा कमाता है, उसके तन का मालिक है, घर का मालिक है, वह संरक्षण देता है समाज से; तो अपने मालिक को देखा है। पति को किस ने देखा? अपने बच्चों को कभी देखा है आँख खोल कर?—जिन को जन्म दिया है, अपने ममत्व को, 'ये मेरे बच्चे हैं'। आप खुश हों, उस समय बच्चे आएँगे तो आप गोद में बैठाएँगे और आप नाराज़ हों तो उस समय बच्चा या तो आप की आँख देख कर आप के पास आएगा ही नहीं, यदि आया तो तमाचा खाएगा, कम से कम अपशब्द तो सुनेगा ही। बच्चों को देखने की फुर्सत नहीं। आपके अहंकार का पोषण बच्चे से होगा, तब तक देखेंगे। आप की प्रभुत्व-भावना का उपकरण बच्चा बनेगा, तब तक देखेंगे। इसलिये कहती हूँ न, अपने तन को देखने की फुर्सत है नहीं, अपने मन को देखने की फुर्सत है नहीं। आसपास यह जो सुन्दर सृष्टि है, इसे देखा है? नहीं देखा है।

पतझड़ को देखा है? सूखे पत्ते हवा के झोकों से कैसे वृक्ष से अलग होते हैं, हवा में तैरते हैं और कितनी मधुरता से धरती पर आ कर उस की गोद में गिरते हैं, कभी देखा है? एक दूसरे की निन्दा करने की फुर्सत है, आलोचना करने की फुर्सत है, अपने भूतकाल की स्मृति से खेलने की फुर्सत है, भविष्यकाल की कल्पना से खेलने की फुर्सत है; लेकिन वर्तमान में प्रभु ने सृष्टि का सौन्दर्य चारों ओर जो बिखेर दिया है, उसके साथ क्षण-भर के लिए

भी तादात्म्य करने का समय किसी को नहीं है, प्रेम करना दूर रहा। और प्रेमहीन जीवन शुष्क होता है, रूखा-सूखा होता है। अंग-प्रत्यंग को, अणु-रेणु को प्रेम से ओतप्रोत कर देने में ही जीवन की सार्थकता है। इसीलिये कहती हूँ कि जो भक्ति है, वह सृष्टि में बिखरी हुई सुन्दरता को देखने की आँख देती है। जिस किसी ने यह संसार बनाया, वह छिपा हुआ है; व्यक्त सृष्टि के पीछे अव्यक्त बन कर मुस्कराता है। उस को देखने की कला भक्ति सिखाती है।

मनुष्य ने सोचा कि "मेरी भूख सत्य के लिये है, मेरी भूख 'शिवम्' के लिये, मंगलमय के लिये है, मेरी भूख पूर्णता के लिये है सौन्दर्य के लिये है। अच्छा, तो सुन्दरता को, मंगलता को जितनी कल्पनाओं में साकार कर सकता हूँ, प्रतिमा बना सकता हूँ, उतनी प्रतिमाएँ बनाउँगा।" प्रतिमाएँ बनीं। वास्तव में विष्णु हैं या नहीं, शिव हैं या नहीं, कृष्ण हुए थे या नहीं, इस से मुझे कोई मतलब नहीं, लेकिन जिस मानव ने उन का सर्जन किया होगा, अपनी दिव्य दृष्टि से देखा भी होगा, वह धन्य है, क्योंकि उस ने अपने भीतर छिपी हुई मंगलता, सुन्दरता को रूप देने का पुरुषार्थ किया। प्रतिमाएँ बनीं और फिर सिखाने लगे बच्चों को कि 'यह देखो, ये कृष्ण हैं। ये प्रेममय थे। कामगन्धहीन प्रेम, लोकान्त में रहते हुए एकान्त में रहने की कला जिस योगी के पास थी, सब कुछ करते हुए अपने साक्षित्व को टूटने न देने की कला जिस योगी के पास थी, वह है यह कृष्ण, देखो। इसका सुन्दर रूप देखो, इस की निर्व्यंग काया देखो।' इसलिए मूर्त्ति बनाई कि शायद उस सुन्दरता को देखते-देखते भीतर की सुन्दरता जाग उठे; उस प्रेममय को देखते-देखते भीतर के प्रत्यवाय हट जायें, मिट जायें।

"यह राम हैं, यह मर्यादापुरुषोत्तम हैं। मर्यादा सीखनी है तो इन से सीखो"—तो मर्यादापुरुषोत्तम को सगुण साकार बना कर सामने रखा। "यह देखो, यह सत्यमय थे, एकवचनी, एकवाणी थे। ये थे हरिश्चन्द्र; स्वप्न में दान दिया तो उठ कर जागृति में सच ही कर दिया।" तो, गुणों को साकार रूप देकर प्रतिमायें बनाई गईं; और पहले उन से प्रेम करने की साधना बतलाई। "पहले इन से तो प्रेम करो, इन के लिए सब कुछ लुटा देने की कला तो सीखो।"

लोग कहने लगेंगे कि भक्त तो वह है, जो प्रभु से पल-भर के लिए विरक्त नहीं होता। संसार की कोई भी बात प्रभु से उस को हटा नहीं पाती। तो रामभक्त कृष्ण के मन्दिर में भी गये, तो—

"कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गोपिन को साथ।
अपने जन के कारने, नाथ बने रघुनाथ॥"

—यही बोले। वहाँ उन को धनुर्धारी बनना ही पड़ा, और राम के मन्दिर में शिवभक्त गये, यह ठानकर कि हम शिव के सिवा दर्शन नहीं करेंगे। मूर्ति के लिए कुछ वस्त्र बनाने थे, अलङ्कार बनाने थे; आँख बाँध कर नाप लेने लगे तो शिव के सिवा कुछ हाथ नहीं आया। लेकिन यह तो सोपान-भर है। सुन्दरता की एक स्थान पर उपासना की। तो वह उपासना साधन बन जानी चाहिये—संसार में बिखरी हुई सुन्दरता को देखने का। एक मूर्त्ति में अभी प्रभु के दर्शन करने की शक्ति आ गई है, चित्त की एकाग्रता के कारण। अब प्राणी-मात्र, भूत-मात्र, पदार्थ-मात्र प्रभु के रूप हैं, यह सीखना है, पहुँचना वहाँ है। भक्ति की पराकाष्ठा वहाँ है, जहाँ अपने घर में अपने ही हाथ से सजाई हुई, सिंगारी हुई मूर्त्ति में ही प्रभु नहीं हैं, बल्कि जो व्यक्ति मिलता है उसकी आँखों से प्रभु झाँकते हैं। वह मारने के लिए आया तो प्रभु है,

और वह माला पहनाने आया तो भी प्रभु ही है; अपमान किया तो प्रभु की लीला और किसी ने सम्मान किया तो हरि की लीला। इसलिये कहते हैं कि भक्त के सभी काल शुभ हैं। लेकिन अपने अहङ्कार हमारे इतने प्रबल होते हैं कि मैंने जिसको इष्ट माना है, वह राम बड़ा कि कृष्ण बड़ा, कि महादेव बड़ा, क्योंकि वह तो मेरा राम, मेरा कृष्ण, मेरा महादेव बन गया। मेरे महावीर हो गये, मेरा गौतम बुद्ध हो गया; तो हम पूजा तो अपने अहं की करना चाहते हैं। जो सच्चा उपासक भक्तिमार्ग से जाने वाला होगा, वह तो भक्ति से प्रारम्भ करके अखा की तरह पहुँच जायेगा अद्वैत भूमि पर; जहाँ से अखा कह सका था—

"आचार्यो ए कीधी युक्ति, कल्प्यो बन्ध अने मानी मुक्ति"।

[आचार्यों ने युक्ति की। बन्धन की कल्पना की और मुक्ति मान ली।] पहुँचना वहाँ है, पथ आप कर्म का लेते हैं, ज्ञान का लेते हैं, भक्ति का लेते हैं। अपनी रुचि के अनुसार चाहे जो पथ ले लीजिये। गन्तव्य स्थान एक ही है। सारे विश्व के साथ एकता की अनुभूति शरीर के द्वारा, वाणी के द्वारा व्यवहार में जब अभिव्यक्त होने लगती है, तो उसको कर्म कहते हैं और उस कर्म में वह जो एकता की अनुभूति है, उसका सौरभ अद्भुत है। निरहंकारिता ही जीवन में एकमेव सौरभ है, उसके जैसा सुगन्धमय द्रव्य मैंने देखा नहीं है। निरहंकारिता यानी विनम्रता। अहंकार ही दर्प होता है, जिसको आप दुर्गन्धि कहेंगे। दुर्गन्धि देने वाला जीवन में एक ही तत्त्व है और वह है अहंकार। फिर वह अपनी अनन्त दुर्गन्धियों की सृष्टि पैदा करता है। यदि कोई व्यक्ति कमरे में आए तो अपने साथ अपनी सुगन्ध या दुर्गंन्ध ले कर आता है, उसको छिपा नहीं सकती है आप की वाणी। ऊपरी व्यवहार का नाटक कुछ नहीं

छिपा सकता है, क्योंकि आप के रोम-रोम में से अहंकार का अस्तित्व या तो बोल उठेगा या विनम्रता, शून्यता, निरहंकारिता खिल उठेगी, वह निरहंकारिता का और विनम्रता का जो सौरभ है, वही प्रेम है। प्रेम कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जिसे प्राप्त किया जा सकेगा। मैं आप से कह रही थी कि लोग कहते हैं कि भक्ति का पथ सुलभ है, या कर्म का या ज्ञान का।

प्रेम का पथ स्त्रियों के लिये सुलभ है, हो सकता है। नौ मास तक बच्चे को अपने गर्भ में पालन करने के लिये उसके बोझ को बोझ नहीं, आनन्द समझने के लिये जो एक धृति चाहिये, धारणा-शक्ति चाहिये, वह स्त्री में है। पुरुष को तो उसकी उपलब्धि ही नहीं है। तो सर्जन करना, धारण करना, भरण-पोषण करना—जितने पृथ्वी के गुण हैं, वे सबके सब स्त्री में हो सकते हैं यदि स्त्री सावधान हो, जागृत हो। अब होता क्या है? हम लोग जो धारण करते हैं, भरण-पोषण करते हैं, उसमें वृत्ति को और दृष्टि को बदल देने की ज़रूरत है। 'मेरा बच्चा है, मैंने जन्म दिया है, मैंने पालन-पोषण किया है, मेरी इच्छा के अनुसार उसका व्यवहार होगा। मैं चाहती हूँ, वैसा मेरा बेटा बनेगा, मेरी बेटी बनेगी'। यह प्रेम नहीं है। थोड़ा-सा फ़र्क करने की ज़रूरत है। बहुत ज्यादा नहीं।

स्त्री को तो बहुत ज्यादा सीखना ही नहीं पड़ेगा। प्रभुदत्त इतनी देन उसके पास है, इतनी सुविधा है कि स्त्री जिस दिन जागृत हो जाए उस दिन संसार का रंग-रूप ही बदल जाए, इसमें कोई शक नही। तो वह सर्जन करना जानती है, धारण करना जानती है, भरण-पोषण करना जानती है; स्वयं भूखी रह कर आठ-आठ दिन तक बच्चों को खिलाने वाली माताएँ हैं और रात की रात आँखों में काट देने वाली माताएँ हैं और सुबह

उठकर फिर काम में लगेंगी। कोई कहेगा—'आप थकी हुई हैं'। कहती हैं—'नहीं, मुझे थकान तो मालूम भी नहीं।' अपने शरीर से ऊपर उठने की शक्ति स्त्री में बहुत ज्यादा है। जो सामान्य धर्म हैं भूख के, नींद के, उन सब पर वह विजय पा लेती है, अपनी ममता की शक्ति से। अब थोड़ा-सा उसमें परिवर्तन करें। परिवर्तन मूलभूत है, लेकिन बहुत कठिन नहीं! उस में से वह यदि सीख ले कि यह शरीर भी तो मेरा नहीं है, यह दिया हुआ है। मैं मेरा कहती हूँ। अचानक पेट में दर्द होता है। 'क्यों भई? दर्द क्यों होता है?' हमें मालूम नहीं हो रहा है। रहा है। सिर दर्द कर रहा है। 'सिर क्यों दर्द करता है?' मालूम नहीं! 'शरीर आप का है, न किराये से लिया हुआ है'? बड़े धोखे में हैं आप। जो आपके फेफड़े हैं, इनका आकुंचन-प्रसारण कोई आप तो नहीं करते है। कोई ऐसी ऊर्जा, कोई ऐसी शक्ति भीतर पड़ी है, जो आप के फेफड़ों में आकुंचन-प्रसारण करा के श्वास, हवा भीतर खींचने की और बाहर फेंकने की ताकत उनको देती है। आप को मालूम है कि ली हुई हवा भीतर कहाँ जाती है? आप को मालूम है कि जो आप श्वास आप लेते हैं वह पहुँचता कहाँ है? उसकी नाभि तक की भी यात्रा किसी ने देखी है? हमें श्वासोच्छ्वास लेना आता है? वह तो दी हुई प्रभु की देन है। बच्चा आया। वह संसार में आया कि श्वासोच्छ्वास लेकर आता है, हवा उसको लगी कि खींचता है, ऐसा हमको लगता है। लेकिन ऐसी कोई ताकत है जो बच्चे के काबू में नहीं है।

आप श्वास लेते होते तो आप चाहे जब रोक लेते न! अन्न का पचन हम करते हैं? श्वासोच्छ्‌वास लेते हैं? बाहर निकला हुआ श्वास भीतर जाएगा या नहीं, यह भी पता नहीं हैं। कहते

हैं शरीर मेरा है। नींद आप लेते हैं? बताइये न कैसे लेते हैं। कोई नहीं बता पाएगा। कहते हैं नींद आ गई है। अरे भाई, क्या हुआ? नींद आ गई यानी कहाँ थे आप? पता नहीं चलता है। नींद भी कोई बुद्धिपूर्वक, योजनापूर्वक नहीं लेता है। निद्रा आ जाती है। सारे के सारे शरीर-धर्म भी हमारे स्वाधीन नहीं हैं और शरीर हमारा है, हम उसके मालिक हैं, यह कितना बड़ा धोखा है? जिस क्षण मालूम हो जाए, इसका बोध हो जाये कि इस शरीर के भी स्वामी हम नहीं हैं, (उस क्षण बड़ा काम हो जाए)। यह एक बहुत सुन्दर यन्त्र है, एक बहुत सुन्दर, तन्तुवाद्य से भी सूक्ष्म यह वाद्य हमको मिला है। यह हमें मिला है, उपयोग करने के लिये। बस, इतना हमें सीखना चाहिये। इतनी छोटी-सी बात सीख जाओगी तो जीवन बदल जाएगा। शरीर मेरा नहीं: शरीर मिला है उसका उपयोग करना है। मैं ट्रस्टी हूँ। गुरुदयाल मल्लिक जो आज प्रेमिक शिरोमणि है, कहते हैं—भक्ति क्या है? 'मालिक' हूँ, इसमें से 'क' निकाल दो, 'माली हूँ'— बस और कुछ नहीं। माली बगीचे को पानी देता है, लेकिन बगीचे का मालिक तो नहीं है। बस, पानी देता है। बीज अपनी ताक़त से अंकुरित होते हैं। इस प्रकार जीवन के हम मालिक नहीं, हम स्वामी नहीं। यह बोध हो जाये तो शरीर के प्रति देखने की दृष्टि बदल जाती है। दृष्टि बदल गई तो फिर यह मेरा बच्चा है, ठीक है। एक रूप है, प्रभु का। इसको बनाने में कुछ हिस्सा मेरा है।

मिट्टी का घड़ा बनाते हैं न? घड़ा तो आप अपने हाथों से बनाते हैं, मिट्टी तो आप अपनी नहीं बनाते हैं और प्रभु ने मिट्टी न पैदा की होती तो घड़े कौन बनाता? मकान आप बनाते हैं। मिट्टी लेकर ईंट बनाते हैं, सीमेण्ट भी आप बना लेते हैं और जल

प्रभु ने न बनाया होता तो मकान कौन खड़ा करता ? आप खड़ा करते ? गेहूँ और चावल बो कर के आप ज़रूर घर में लाते हैं, और राँध कर भात और रोटी बनाते हैं। लेकिन कन भर बोने के बाद मन भर देने की कीमिया यदि धरती में न होती तो आपके संसार चलते ? और इसमें आपके सामने मैं कोई काव्य नहीं रख रही हूँ। यह जीवन ही महाकाव्य है। मैं क्या करूँ ? मेरा कोई इलाज नहीं है। कन-भर लेकर मन-भर धरती क्यों देती है ? कैसे देती है ? पता नहीं। जल-स्रोत कैसे आता है ? कहाँ से आता है ? पहाड़ों की चट्टानों को तोड़-तोड़कर आने की ताक़त उस जल में कैसे आती है ? मालूम है ? बस इसी रहस्य का भान होना भक्ति है, ज्ञान है और रहस्य का भान होने के बाद विनम्रतायुक्त व्यवहार होना ही प्रेममय, धर्ममय जीवन है।

तो मैं कह रही थी आप से कि स्त्रियों को इतना समझने की ज़रूरत है कि इस बच्चे को जन्म मैंने दिया, इसका धारण पोषण मैंने किया, लेकिन इसकी मालिक मैं नहीं हूं। जिस प्रकार मैं अपने तन की मालिक नहीं हूं, उसी प्रकार इसकी मालिक भी मैं नहीं हूं। जो इसके हित में है, जो मेरी जानकारी है, इसे सिखा दूंगी। जो बोध मुझे हुआ है, जो अनुभव आया है, उसको बतला दूंगी कि 'भाई ! यह रास्ता ग़लत मालूम होता है, यह सही मालूम होता है। इसमें हित मालूम होता है मनुष्य का। इसमें अहित मालूम होता है।' ऐसे एक मित्रवत् बतला देना, निवेदन करना। एक बार नहीं, दो बार, तीन बार, चार बार। यह माता-पिता का कर्तव्य है। लेकिन वैसा नहीं किया तो मारो-पीटो, गाली दो, अपशब्द कहो, 'हमने जन्म दिया है, हमने पालन-पोषण किया है', दिन में दस बार बतलाओ। ऐसा अहंकारमय व्यवहार जिन बच्चों के साथ होता है, वे बच्चे

चौदह-पन्द्रह साल की उम्र तक पहुँचते-न-पहुँचते किस प्रकार माँ-बाप से अलग पड़ जाते हैं !—मन से, हृदय-से, यह आप के अनुभव की बात है।

शिक्षक को अहंकार होता है कि मैं सिखाने वाला हूं। वेतन मिलता है और फिर भी अहंकार रखता है! 'मैं शिक्षक हूं, मेरी बात माननी चाहिये।' गया, वह ज़माना गया कि आप उम्र में बड़े हैं, इसलिये आप की बात मानी जाएगी। वे दिन लद चुके। कभी थे, लेकिन संसार में वे दिन अब कहीं नहीं हैं। भारत के देहातों में यदि ये दिन हों तो वहाँ से भी जाने वाले हैं। मैं आप को चेतावनी देने आई हूं कि वह ज़माना गया। माँ झूठ कहेगी और बच्चे से कहेगी कि 'सच बोल', तो बच्चा कहेगा कि 'तू क्यों झूठ बोल रही है'। पिताजी बीड़ी पी रहे हैं और बच्चे से कह रहे हैं कि बीड़ी मत पीना, तो बच्चा कहेगा—'पिताजी! आप क्यों पीते हैं?' आप केवल जनक जननी हैं, इसलिये आप पर श्रद्धा रखने का ज़माना चला गया। अब आप के जीवन में जितना सदंश होगा उतने का परिणाम बच्चे पर होगा। चाहे माता-पिता हों, चाहे शिक्षक हों, चाहे राजनैतिक नेता हों—आप के जीवन में जितने दोष होंगे, जितनी त्रुटियां होंगी, वे सब प्रतिबिम्बित होंगी आप के सन्तानों में। इसलिये प्रभुत्ववाद का ही ज़माना निकल गया है। आर्थिक क्षेत्र में, राजनैतिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में गया तो कौटुम्बिक क्षेत्र में भी गया। इसलिये भक्ति की तो आज बहुत ज्यादा आवश्यकता है; प्रेममय व्यवहार की आज बहुत आवश्यकता है, क्योंकि ज़माने आएंगे और जाएंगे। प्रेम का ज़माना कभी जाने वाला नहीं, वही सनातन है, वही शाश्वत है। शान्ति का, प्रेम का, विनम्रता का ज़माना कभी नहीं जाएगा। सत्ता के, धन के, दौलत के, राजनीति के दिन जा रहे हैं।

जितना आज मन्थन चल रहा है, संसार में जितनी अशान्ति है, बेचैनी है, भारत के कोने-कोने में आग की लपटें धधक रही हैं—हमारा चित्त उतना ही प्रसन्न है। घोर मन्थन में से यदि मुट्ठी-भर धर्मप्राण व्यक्ति जागृत होकर देश के कोने-कोने में संचार करेंगे तो इसी बेचैनी में से, इसी मन्थन में से, इसी तूफ़ान में से कुछ विधायक, कुछ सर्जनात्मक हो सकता है। यह तो घटित करने वाले पर निर्भर है। धर्म और अध्यात्म के लिये आज भारतवर्ष में जितनी बड़ी चुनौती है, उतनी शायद कभी पहले न थी।

तो, बच्चे के प्रति देखने की दृष्टि बदल जाएगी। लगेगा कि हम तो इसे सम्हालने वाले हैं, देखें तो सही कैसे खिलता है। आप यदि कोशिश करेंगे कि,– बहुत सुन्दर गुलाब की कली है, कमल की कली है—, मैं फूंक मार-मार कर इसे खिलाऊंगा; देखूं, कैसे नहीं खिलती है। 'मैं खिलाऊंगा, मैंने फूल लगाया है, मैंने पौधा लगाया है, कली मेरी है'। अरे! पौधा तूने लगाया? बीज का तो तू ने नहीं निर्माण किया था। वह तो अपनी गति से खिलेगी; तेरे फूंक मारने से कली खिलेगी? नहीं। और खिलेगी तो उसका विकास नहीं होगा। माँ-बाप को अपनी लगाई कलियों पर फूंक मारने की उतावली है; बच्चे ऐसे होने चाहिए, वैसे होने चाहिए।

पूंजीवाद का विरोध करने वाली, समाजवाद का विरोध करने वाली माताएँ मैंने घरों में देखी हैं; किसी 'डिक्टेटर' (dictator) से कम नहीं हैं। भगवान् का नाम लेने वाले, मन्दिरों में, देरासरों (जैन-मन्दिरों) में जाने वाले भक्तों को देखा है। मन्दिर में बैठकर वे कहते हैं कि प्रभु तो विश्वव्यापी है। घर में लौटने पर, उनके बच्चे में वह प्रभु नहीं है, नौकरानी में प्रभु नहीं है,

बहू में नहीं है, पड़ोसिन में नहीं है। तो प्रभु कहाँ गायब हो गये ? उनको तो मन्दिरों में बन्द करके, ताला लगा कर चले आए न ? कहीं बाहर निकल कर हमारे घर में न चला आए ! बड़ी कुशलता है। प्रभु के पट बन्द कर दिये, उनको सुला दिया ताकि हमें जो अपना व्यवहार करना है सो कर लें। ऐसे भक्ति नहीं होती, ऐसे प्रेम नहीं होता। जब बच्चों के प्रति दृष्टि बदल जाएगी, तो उनको जब तक संरक्षण की आवश्यकता है, वाड़ की आवश्यकता है, दे दी जाए। अब जब वे खिल उठेंगे तब उनके जीवन में उनके गुण-दोषों सहित उनको प्यार करने की ताक़त भक्ति देगी।

तो, शुरू कहाँ से किया ? प्रतिमा से शुरू किया था। एक कोने में बैठकर, शान्ति से दीपक जलाकर, धूपबत्ती जलाकर—यह सुन्दरता की मूर्ति है, यह प्रेम की मूर्ति है, यह विशुद्धता की मूर्ति है—ऐसी विशुद्धता मुझमें आए। यहाँ से शुरू किया। लेकिन उस कमरे से बाहर निकलने के बाद यदि भूल गये कि मैं विशुद्धता का उपासक हूँ, मैं विनम्रता का उपासक हूँ, मैं 'सत्यं सुन्दरं' का उपासक हूँ तो क्या होगा, मालूम है ? तो आपके भीतर दो व्यक्ति जियेंगे—एक प्रार्थना-मन्दिर में जाकर विनम्र होने वाला, सन्तों के सामने नम्र होने वाला, भजन सुनते ही रोने वाला (एक) व्यक्ति भीतर बैठेगा और दूसरा प्रार्थनागृह में से बाहर दूकान में, मकान में जीने वाला; क्रोधमय, विकारमय दूसरा व्यक्ति जियेगा। ऐसे छिन्न-भिन्न व्यक्तित्व आपके होंगे; फिर दोनों को साथ लेकर जीना है। जहाँ भक्ति से फ़ायदा मिलता है वहाँ भक्त बन गये और जहाँ अपने अहंकार का फ़ायदा होता है, नफ़ा होता है, मुनाफ़ा होता है, वहाँ जाकर फिर व्यापारी बन गये, नौकरी वाले बन गये। फिर झूठ बोले, फिर काला-बाज़ार,

क्या जाने क्या-क्या किया? भ्रष्टाचार किया, रिश्वतबाज़ी की। आपने देखा होगा न बड़े-बड़े सन्त-सेवकों को रिश्वतखोरी करते हुए देखा है कि नहीं? नहीं देखा है तो आँख और कान खुले रखो।

महावीर के भक्तों को देखा है आपने? शरीर को चलाने के लिये धनोपार्जन करना एक वस्तु है, और संग्रह की लालसा में परिग्रह को बढ़ाते जाना बिल्कुल भिन्न वस्तु है। मन्दिर में आते ही महावीर के सामने बैठे, वीतराग के सामने बैठे तो वैराग्य की महिमा गाना, स्तोत्र गाना, स्तवन गाना। घर गये, परिग्रह कम है तो (यह चिन्ता करना कि) दस लाख के पचास लाख कैसे होंगे, एक हजार के दस हजार कैसे होंगे? यह चिन्ता नहीं है कि जीविका कमाते हुए, धनोपार्जन करते हुए सत्य की, अहिंसा की रक्षा कैसे होगी? यह चिन्ता नहीं है—फिर कहते हैं यह तो सारी दुनिया करती है। और आप करते हैं तो मेहरबानी करके भक्ति का रास्ता छोड़ दो न? व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न होता है, उसके बाद दम्भ आता है जी! दुनिया का होता हो, न होता हो, लेकिन आप का अपना बहुत बड़ा नुकसान होता है। व्यक्तित्व के जैसे टुकड़े-टुकड़े, खण्डित अंश हैं उनको बटोर कर चलना पड़ता है। कपड़े के टुकड़ों को सीधा करके उनकी गुदड़ी बनाते हैं न! आप लोग ऐसा बनाने की कोशिश करते हैं। जीवन की सुन्दरता, एकता—सब नष्ट हो जाती है। यह नष्ट न हो, इसलिये सीखना है कि पूजागृह से उठते समय धूप-बत्ती लेकर तो आप दिन-भर नहीं घूम सकते, लेकिन अपने भीतर दीपक लेकर घूम सकते हैं न! उसमें घी भी नहीं डालना पड़ता और तेल भी नहीं डालना पड़ता। भीतर दीपक कौन-सा लेकर चलेंगे दिन भर? सावधानता का, जागृति का कि मैं शरीर का मालिक हूँ, इस भावना से

कितना व्यवहार होता है और यह प्रभु की बनाई हुई दुनिया है, इसमें जितना मेरे हिस्से में आया है, उतना करूंगा, इस भावना से कितना व्यवहार होता है। आप देखेंगे, इतना सिर से बोझा उतर जाता है! बहुत बोझ लेकर घूमते हैं हम--आप—मैं गृहस्थी चलाता हूँ, मैं संस्था चलाता हूँ, मैं आश्रम चलाता हूँ, मैं इतने लोगों का मार्ग-दर्शक हूँ; मैं नेतृत्व करता हूँ और फिर अन्त में जाकर प्रार्थना करनी पड़ती है—

'म्हारा ज्ञान-गुमान नी गांसड़ी, उतरावो शिरेथी आज।
म्हारा पुस्तक पोथानी पोटली, उतरावो शिरेथी आज।'

[मेरे ज्ञान-गुमान की गठरी आज मेरे सिर पर से उतरवाओ। मेरे पुस्तक-पोथों की पोटली आज मेरे सिर से उतरवाओ।]

फिर बोझ ले-ले कर आप का हृदय हाँफने लगता है। तो शुरू में ही बोझ न रहे, यही तो भक्ति सिखाती है। बोझ उठाकर अन्त में जाकर रोने बैठने से अच्छा है न कि शुरू से ऐसी कला सीखी जाए कि बोझ न रहे! और बोझ कब जाता है, मालूम है? प्रेम हो तो बोझ होता ही नहीं। सात-आठ साल की लड़की पहाड़ पर चढ़ रही है। पीठ पर अपने चार साल के भाई को उसने बाँध लिया है, चढ़ रही है। कोई मुसाफ़िर पूछता है—'तू तो इतनी छोटी-सी लड़की है, पीठ पर यह बोझ क्यों ले लिया है?' तो कहती है—'बोझ नहीं है, यह तो मेरा भाई है'। बात बदल गई, भाई के शरीर में वज़न नहीं था? वज़न था। लेकिन वह बोझ नहीं ढो रही थी, वह अपने भाई को साथ ले जा रही थी, जो चल नहीं सकता था उसे पीठ पर ले जा रही थी। कितना बड़ा फ़र्क है? यह बोझ नहीं है, यह मेरा भाई है। प्रेम यही सिखाता है। रामकृष्ण देव की पत्नी शारदा माता के पास चाहे जैसे लोग आते थे। पापी से पापी—रामकृष्णदेव के देहावसान

के बाद की बात है। शायद विवेकानन्द के भी देहावसान के बाद की घटना है। माँ के पास ऐसे ही कुछ लोग गये, तो माँ के भक्तों ने कहा—'माँ ये दुराचारी हैं, ये व्यसनी हैं, यह शराब पीता है और यह आप के पास आकर रहा? अपने हाथ से रसोई बनाकर आप खिलाती हैं?' उन्होंने कहा—"मैं माँ हूँ न। दुराचारी होगा तो भी मेरा बेटा है न? यहाँ न आएगा तो कहाँ जएगा?"

सामाजिक संस्था में काम करते हुए यदि आप की कोई सहयोगी बहन है, कोई काम करने वाली है, वह आप की निन्दा करे, झूठ बोले और आप पर दिक्कत आए तो आप कहेंगी ठीक है। झूठ बोली होगी, लेकिन मेरी बहन है। है क्रोधी, लेकिन बहन है। जिस प्रकार परिवार के सभी व्यक्तियों को प्रेम के कारण सम्हालने की शक्ति स्त्री में है, उसी प्रकार समाज में जितनी बुराइयाँ हैं, दोष हैं, उनका प्रेम से प्रतिकार करने की और उनको क्षमा करने की शक्ति—यह भक्तियोग स्त्री को दे सकता है। मां अपने बच्चों का गुणगान करते हुए कभी नहीं थकती। रसोई भी बनायेगी अच्छी से अच्छी, तो स्वयं खाने में उतना आनन्द नहीं, जितना पहले खिलाकर बाद में खाने में है। वह कहती है, आज इतनी सुन्दर रसोई बनी है कि सब ख़त्म हो गई! 'ओहो! आप क्या खाएंगी।' 'रात का बचा है, मैं खा लूंगी।' लेकिन अच्छी रसोई बनाई है, पहले मैं ही खा लूं, ऐसा कोई माँ कहती है? बस, यह जो मेरा मन है, मेरा घर है, मेरी बनी हुई रसोई है, इसमें से अहंकार निकल जाए तो यही प्रेमयोग है, यही भक्तियोग है।

आज की प्रार्थना में हमने देखने की कोशिश की कि भक्त के भगवान् कहाँ रहते हैं, वे अणु-रेणु में, कण-कण में किस प्रकार

ओत-प्रोत हैं। सृष्टि से अलग प्रभु नहीं हैं। सृष्टि प्रभु का ही स्वरूप है। लोग इससे अलग प्रभु को खोजने जाते हैं, इसलिये धोखे में पड़ जाते हैं। वृक्ष की हर पत्ती-पत्ती ही वह है। हर फूल में वह ? नहीं, फूल ही वह है, यह सीखना है। फूल में वह है यह कहने से कुछ mystic sense (रहस्य का भाव) आ जाता है न ?—पत्ती तो पत्ती है और प्रभु उससे अलग है, ऐसा नहीं। यह सारा संसार ही प्रभु है, यहाँ तक पहुँचने के लिये भक्ति चाहिये। वहाँ तक कैसे पहुँच सकते हैं ? एकता की अनुभूति में से पहुँचा जा सकता है। वह एकता की अनुभूति कैसे आए ? तो पहले एक मर्यादा में, एक सीमा में जीवन की प्रभुता के, मंगलता के दर्शन करना और फिर वहाँ से अपने परिवार में, अपने गाँव में, अपने समाज में—इस प्रकार उस व्याप्ति को और गहराई को बढ़ाते जाना—इस प्रकार की भक्ति, भक्त और भगवान् के बारे में इस प्रभात में हमने सोचा है।

(ख) प्रातःकाल। निबन्ध-वाचन सभा

पहले तो संस्कार शब्द का अर्थ समझना चाहिये और जीवन में उसका क्या प्रयोजन है, यह देखना चाहिये। आजकल भारत में और सारी दुनिया में दो विचारधाराएँ चल पड़ी हैं। जीवन में विरोध का आभास होता है। एक, संस्कारों के आग्रही लोग और एक संस्कारविहीन जीवन के आग्रही। प्रचण्ड विचारधाराएँ और भावधाराएँ संसार भर के मानव-समाज में तुमुल युद्ध कर रही हैं। बौद्धिक क्षेत्र में, वैचारिक क्षेत्र में, साहित्यिक क्षेत्र में, सांस्कृतिक क्षेत्र में, धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में एक तीव्र, उत्कट संघर्ष चल रहा है। जहाँ पर जीवन में खड़ी हूँ, वहाँ से देख रही हूँ कि दोनों के आग्रह व्यर्थ के हैं। यह जो शरीर मिला हुआ है, इस में जो इन्द्रियाँ हैं, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय—इन इन्द्रियों

को शतकानुशतक से विशिष्ट लीकों में चलने का अभ्यास हो गया है। जब आदि मानव ने जन्म लिया होगा, तब से आज तक शरीर को, मन को, और इन्द्रियों को कुछ लीकों में, कुछ grooves में, कुछ channels में काम करने का अभ्यास हो गया है। Biological and Psychological patterns of behaviour—शारीरिक और मानसिक कार्य-पद्धतियाँ ऐसी दृढ़मूल हो गई हैं। चैतन्य में ये सब संस्कार पड़े हुए हैं जिन को लेकर हम इस जगत् में आते हैं। अब ये जो नमूने बने हैं, कार्य-पद्धतियाँ बनी हैं, ये प्राकृत हैं। इनको संस्कृत बनाना यही मानवता है। इसलिये उन कार्य-पद्धतियों में से शरीर को और मन को स्नेहपूर्वक, कुशलतापूर्वक बाहर निकालने का रास्ता है संस्कार। भूख लगी है तो जो देखो सो खाओ, यह हुआ प्राकृत धर्म। घास है या खेत में खड़ी फ़सल है। भूखी गाय है, भूखा बैल है, तो 'मेरे मालिक का खेत है या नहीं, यह सोच नहीं सकता'। खुला खेत है तो बैल जाएगा, फ़सल खाएगा। मानव भूखा है, तो प्राकृत धर्म है कि जहाँ भी अन्न देखे, खाये। संस्कार ने सिखाया कि भूख तेरे शरीर के साथ चिपका हुआ धर्म है, जन्म से मृत्यु तक जानेवाला। इसलिये भूख की निवृत्ति का उपाय पहले से कर लो। परिश्रम कर लो, अन्न कमा लो, अन्न पर संस्कार कर के फिर भोजन करने के लिये बैठो और भोजन करते समय अपने से अधिक भूखा दिखा तो उसे खिला कर खाओ।

मेरी समझ में नहीं आता कि इस संसार में बन्धन कहाँ से आया? शरीर है, शरीर के लिये निद्रा भी है। तो जिस बिस्तर में सोते हैं, उसे स्वच्छ रखो, निर्मल रखो, पवित्र रखो। दिन भर के मैले-कुचैले कपड़े पहन कर, पसीने से भरे हुए कपड़े पहन कर मत सोओ। निद्रा क्या है?—प्रभु के मन्दिर में प्रवेश है। इसलिये भाई, स्नान कर के, कपड़े बदल कर सो जाओ। यह

संस्कार है। जहाँ नींद आई, वहाँ लुढ़क गये यह प्राकृत धर्म है। प्रातःकाल है, ब्राह्म मुहूर्त है, उस पर उठो। सृष्टि अभी पूरी तरह जागृत नहीं हुई। लोगों के विचारों और विकारों के स्पन्दन 'आसमन्त' में —चारों ओर भरे नहीं हैं। 'आसमन्त' शान्त है, गम्भीर है। ऐसे समय पर बैठ कर 'मैं कौन हूँ' इसकी खोज करो। यह संस्कार है। अब माँ कहती है, शिक्षक कहता है, मेरी इच्छा नहीं है। प्रातःकाल उठने का मर्म मैं समझा नहीं हूँ, ज़बर्दस्ती उठता हूँ, यह बन्धन है। लेकिन तन-मन की आवश्यकता और उसकी पूर्ति में सहयोग लेने की सुविधा—दोनों को देखकर यदि ब्राह्म मूहूर्त पर कोई उठता है, तो संस्कारी व्यक्ति है।

यौवन के साथ-साथ काम-विकार का प्रादुर्भाव प्राकृत धर्म है। हर बालक-बालिका में युवावस्था में विकार उठने वाले हैं। उनके तूफ़ान उठेंगे, आँधियाँ आएँगी। उन आँधियों में और तूफानों में पाँव कहीं उखड़ न जाएँ, इसलिये विवाह में उस काम-विकार को एक व्यक्ति के साथ प्रेमबन्धन से बाँध देना संस्कार है। यह आज के शिक्षण में है ही नहीं। विवाह-बन्धन प्रेम का बन्धन है, असल में वह बाँधता नहीं है, वह तो कामविकार से मुक्ति देनेवाला संयुक्त जीवन है। प्राकृतिक विकार का प्रादुर्भाव तो है ही, उसे संस्कृत पद्धति से जीवन में किस प्रकार चरितार्थ करें? —इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम था, गृहस्थाश्रम था। यह व्यवस्था जो थी, चार आश्रमों की, इस में जितनी रसिकता थी, उतनी रसिकता आज तक किसी व्यवस्था में मुझे दिखाई नहीं दी।

संक्षेप में मैंने, संस्कार का अर्थ क्या है, आशय क्या है, और संस्कारों की आवश्यकता क्या है,—यह बतलाया। पृथ्वी इतनी विशाल है—विविध प्रकार की यहाँ आबोहवा रहती है, हवामान रहता है। कहीं उष्ण है, कहीं शीत है। कहीं कृषिप्रधान देश है, कहीं उद्योगप्रधान है। कहीं यन्त्रों के सहारे जीते हैं

क्योंकि मनुष्य-बल कम है, कहीं मनुष्य-बल इतना अपरिमित है कि यन्त्रों की आवश्यकता नहीं, अनिवार्यता नहीं। फिर हवामान के फेर से, सामाजिक परिस्थिति और आर्थिक परिस्थिति के फेर से संस्कार बदल जाते हैं। भारतवर्ष में तीन-चार बजे उठनेवाला व्यक्ति यूरोप, अमेरिका में जाकर छः सात बजे उठे, इस में कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, लेकिन वहाँ से लौटने पर यहाँ भी आठ बजे उठने का आग्रह रखता है तो वह वहाँ की आदत का गुलाम है। यहाँ उसका प्रयोजन नहीं है।

तो संस्कार बन्धन कब बन जाता है? जब उसकी सापेक्षता का भाव हम भूल जाते हैं। संस्कार समाज में गुलामी कब पैदा करता है? सम्प्रदाय कब पैदा करता है? जिन संस्कारों में मैं पला हूँ वही संस्कार सार्वभौम (universal) होने चाहिये, अखिल मानव-जाति को उन्हीं को प्रमाण मानना चाहि!—यह आग्रह जब पैदा होता है, तब सम्प्रदाय जन्म लेते हैं। सम्प्रदायों अहंकार फिर टक्कर लेते हैं। एक-दूसरे से संघर्ष होते है, लड़ाइयाँ होती हैं। धर्म के नाम पर जितने युद्ध हुए वे ऐसे ही हुए। तो, यह ध्यान में रखने की चीज़ है कि शिक्षण के द्वारा संस्कार-सिंचन करते हुए संस्कारों की सापेक्षता भी साथ ही साथ सिखाई जाए ताकि अपने संस्कारों का अहंकार किसी को न हो; उन का आग्रह बुद्धि में और अहंकार चित्त में न हो। तब, दूसरे के भिन्न संस्कार दिखने पर, वे संस्कार क्यों इस प्रकार के हैं, यह समझने की जिज्ञासा, कुतूहली नम्रवृत्ति पैदा होगी। भाई, जीवन में बन्धन कभी बाहर है ही नहीं। बन्धन सब भीतर है। लोग बाहर से काटने जाते हैं, इसलिये भीतर जकड़े जाते हैं और भीतर से स्वयं को जकड़ने वाला जो व्यक्ति है उसको मुक्त कोई नहीं बना सकता। हाथ-पाँव की बेड़ियाँ काटी जा सकती

हैं, मन की बेड़ी कौन काटेगा ? वह तो मन की ही निर्मित है। जिस व्यक्ति का मन है, उसी को यह काम करना पड़ता है। इस विषय को यहीं समेट लेना होगा।

स्त्री-शिक्षण के बारे में कुछ चर्चा हुई। उसमें अधिष्ठान यह होना चाहिये कि स्त्री और पुरुष दोनों मानव हैं। स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भीतर से मानवता का जो प्रवाह बहता है, वही जीवन का अधिष्ठान है। यह कन्याओं को सिखाना पड़ेगा। हम मानव हैं, हम मनुष्य हैं। यह मानवता का अधिष्ठान कन्याओं के जीवन में अवश्य होना चाहिये। उसका परिणाम क्या होगा ? आज भी हिन्दुस्तान में लाखों करोड़ों देहातों में लड़कियाँ, महिलाएँ यही समझती हैं कि हम पुरुषों से कुछ-कुछ कम हैं। धर्म ने यही सिखाया कि पुरुष-शरीर में प्रवेश किये बिना स्त्री-जन्म में तो मुक्ति है ही नहीं; इस जन्म में अच्छी तरह रहो, तब अगले जन्म में पुरुषदेह मिलेगी, फिर मुक्ति होगी।

कल मैंने निवेदन किया कि ब्रह्मचर्य और संन्यास इन दो शब्दों की व्याख्या और आशय जब तक हम अपने पुरुषार्थ से नहीं बदलेंगे, तब तक स्त्री-पुरुष का सहजीवन असंभव है। तो, दूसरी बात कन्याओं को सिखानी पड़ेगी कि कन्या का जन्म होना कोई पाप नहीं, कोई अपराध नहीं, कोई गुनाह नहीं। वह काया उतनी ही पवित्र है, जितनी कि पुरुष की है, तो फिर निर्भयता आएगी। आज भय-ग्रन्थि है, स्त्री भयग्रस्त है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ भी शहरों में कहीं मुक्तता से संचार नहीं कर सकतीं। गुंडों की तकलीफ़ है, आवारागर्दी करने वाले लड़कों की तकलीफ़ है। लेकिन कहीं अहमदाबाद में, बम्बई में, बड़ोदा–भावनगर–राजकोट में पढ़ने वाली लड़कियाँ या समाज-सेवा करने वाली स्त्रियाँ यह नहीं सोचती है कि कॉलेज से छूटने के समय या सिनेमा गृह पर

शनि-रविवार को हमारी स्वयंसेविका जाकर खड़ी होंगी और देखेंगी कि कौन गुंडागर्दी करता है। मैं संकेत बतला रही हूँ, यह बारह महीने का कार्यक्रम नहीं है, लेकिन ज़रा दो-चार शहरों में इस प्रकार से निर्भयता का व्यवहार देख लेंगे तो आज के जो प्लास्टिक के नौजवान हैं, उनकी अक्ल ठिकाने आ जाएगी। ज्यादा कुछ करने की ज़रूरत ही नहीं। जब वे बहनों की आँखों में प्रहरी बैठे हुए देखेगें तो हिम्मत नहीं पड़ेगी। लेकिन हम डर जाते हैं; भय के कारण लड़कियाँ सह लेती हैं। निर्भयता की शिक्षा देने की नितान्त आवश्यकता है।

तीसरी चीज़। स्त्री के जीवन में प्रसाधन का, शृङ्गार का स्थान आवश्यक है। मैंने कल कहा था—नारी क्या है?—प्रभु का लिखा हुआ एक छन्द है, जिसका अर्थ कोई समझ नहीं पाया। उसमें जो काव्य है, उसका हमें परिचय है। लेकिन यह भान रहे, यह याद रहे कि विद्यार्थी जीवन कोई प्रसाधन और शृङ्गार का समय नहीं है। यह तो विद्या प्राप्त करने का समय है। शृङ्गार और प्रसाधन उसके लिये किया जाए जो आप का जीवन-साथी बने, तो उसमें romance (रोमांस) है, उसमें adventure (नवीनता) है, उसमें मधुरता है—उसमें काव्य है। लेकिन गली-गली में लैला-मजनू बनकर घूमने में न तो स्त्री का जीवन सुरक्षित है और न ही पुरुष का। तो, स्त्री-संस्थाओं को—समाज सेवा करने वाली और स्त्री-शिक्षण-संस्थाओं को इस बारे में कोई-न-कोई ठोस शिक्षा देनी चाहिए, इस पर ज़ोर देना चाहिए बार-बार याद दिलानी चाहिए छात्राओं को, कि ज़रूर प्रसाधन-शृङ्गार करो, लेकिन जब तुम्हारा समय आए तब, आज नहीं। लेकिन आज तो किसी भी बड़े शहर में चले जाइए—लड़के-लड़कियों की पोशाकें देखकर शर्म से मेरी आँखें झुक जाती हैं।

उनमें न स्वास्थ्य की दृष्टि है, न सौन्दर्य है। ऐसा भद्दापन, ऐसी बेहूदगी, ऐसी अरसिकता—और जीवन का जिस समय जो प्रयोजन है, उसके ठीक विपरीत, ठीक विरोधी वेशभूषा है, इसका दुःख है। जिस समय जिस प्रकार की वेशभूषा, वाणी, कटाक्ष, दृष्टिपात—इनकी आवश्यकता हो, उस समय उसका उपयोग (आप) नहीं करेंगी। गुंडों, आवारा लोगों से यदि तकलीफ़ हो तो दोष कम से कम ७५% लड़कियों का है। मैं सौ फ़ी सद कह सकती हूँ, लेकिन दया करके २५% छोड़ दिया। इसमें कितना अपमान है? जिस पुरुष के साथ, लड़के के साथ, युवक के साथ विवाह नहीं करना है, सभी युवकों और पुरुषों के सामने सजधज कर निकलने में आत्मसम्मान को धक्का क्यों नहीं लगता? विवाह-पूर्व जीवन में इस प्रकार का उच्छृंखल व्यवहार करने से विवाह करने के बाद पति-पत्नी के जीवन में जो काव्य होना चाहिए, संगीत होना चाहिए, वह आता नहीं है। स्रोत सूख जाता है।

चौथी बात। स्त्री और पुरुष का संयुक्त जीवन है—गृहस्थाश्रम। सौ में से निन्यानबे, ९९% लड़के-लड़कियाँ गृहस्थाश्रम में जाएँगे। आप लोगों ने इसके बहुत गुन गाये। अपना ही गौरव गाया, ठीक है—ग्रन्थों में पढ़ने के लिए और ऐसे शिविरों में सुनने के लिए। लेकिन आप प्रामाणिकता से विचार कीजिये। अपने घरों में आपकी माताएँ, आपकी बहनें, मौसी, नानी, दादी—आप खुद—कितने समय मार्दव की मूर्ति बनकर रहती हैं? मृदुता की, नम्रता की, मधुरता की मूर्तियाँ बनकर कब तक आप रहती हैं? प्रयोजन हो, तब मधुर वाणी निकलती है। स्त्री को पति से गहना चाहिए, नई साड़ी चाहिए, तब तो वाणी में अमी बरसता है। पड़ोसिन से कुछ मतलब

साधना है, दो घंटे बच्चे को उसके पास रखना है, तो आपके जैसी नम्र कोई नहीं। प्रयोजन न रहे और जहाँ आभास हो अपमान का, क्रोध आ जाए; फिर देखिये उस अमी बरसाने वाली वाणी में से क्रोध की ज्वाला निकलती है, जिसमें लड़के-बच्चे तो क्या, उसके पति हों तो वे भी झुलस निकलते हैं। ऐसी प्रज्वलित क उस बेचारे का खाना हराम हो जाए। लगने लगे उसको कि घर छोड़कर भाग जाऊँ दो-चार घंटों के लिए।

और, सन्देह, संशय करना—यह भारतीय स्त्री के जीवन का सब से बड़ा अभिशाप है। लिखती-पढ़ती हैं लड़कियाँ, लिखते-पढ़ते हैं लड़के। लिखी-पढ़ी बहू चाहिये। प्रेम भी हो जाता है और प्रेमविवाह भी हो जाता है। उसके बाद. पति यदि दूसरी लड़की से पाँच मिनट बोला, तो पत्नी को गुस्सा है कि पता नहीं कैसे बोला और, पत्नी, यदि कॉलेज के किसी सहपाठी से हँसकर बात करे तो पति के क्रोध की आग का कोई ठिकाना नहीं है, पाँव से सिर तक वह जल उठता है। इसलिये कल कहा था कि प्रेम करना—यह कमज़ोरों का खेल नहीं हैं। अपने प्रेम पर जिनका विश्वास नहीं, श्रद्धा नहीं, वही अपने साथी की जीवन-चर्या पर शक कर सकते हैं—वह पति हो या पत्नी हो। अपने प्यार पर जिसकी श्रद्धा है, ऐसा पति पत्नी पर संदेह जल्दी नहीं करेगा। लेकिन आजकल तो भाई, संदेह के पुतले हैं। मैं कहना यह चाहती हूँ, भई, कि यदि आप लोगों ने कहा कि स्त्री प्रेम की मूर्ति है, तो वह अपने प्रेम पर श्रद्धा रखना सीखे। घड़ी-घड़ी में संदेह है, घड़ी-घड़ी में उसको क्रोध है, घड़ी-घड़ी में ईर्ष्या है। इस प्रकार का तो जीवन है। इस जीवन से वह मुक्ति पाये।

पाँचवां मुद्दा। जिस लड़की को मैट्रिक तक भी पढ़ने का मौका मिलता है, उसे एक व्रत लेना चाहिए। जान-बूझकर 'व्रत'

शब्द का प्रयोग कर रही हूँ। जिसका हम स्वयं-प्रेरणा से और इच्छा से वरण करते हैं, वह व्रत है। जो परंपरागत आचार है, वह व्रत नहीं है, वे रूढ़ियाँ हैं। समझ-बूझकर सभान और सजग होकर जिसका वरण किया जाता है, वह व्रत है। क्या व्रत लेना चाहिये ?—कि मैं शिक्षण पूरा होने के बाद कम-से-कम एक वर्ष किसी गाँव में जाकर बैठूँगी। मैं तो चाहूँगी कि सरकार ही ऐसा नियम करे। लड़कियों के लिए स्कॉलरशिप दे, उन्हें सुविधा दे, क्योंकि कन्याओं के शिक्षण में हम बहुत पिछड़े हुए हैं अभी तक। तो, व्रत यह लेना है कि एक साल गाँव में जाकर बैठेंगे। दो लड़कियों, तीन लड़कियों का एक छोटा समूह बैठा दीजिये। तो एक साल में क्या सिखायेंगी ? स्त्रियों को यह सिखायेंगी कि शारीरिक स्वच्छता कैसे रखी जाए ? Adult education (प्रौढ़ शिक्षण) का काम करें। मैं तो चाहती हूँ कि ऐसा नियम यदि सरकार नहीं कर सकती है तो शिक्षण-संस्थाएँ यह नियम बनाएँ कि हमारी संस्था में प्रवेश उन कन्याओं को मिलेगा जो गर्मी की छुट्टियों में आधा समय किसी-न किसी गाँव में जाकर (जहाँ भी हम भेजें वहाँ) काम करने के लिये तैय्यार होंगी। तो, शिक्षण-संस्थाओं को चाहिये कि यदि सौ छात्राएँ हैं तो कम-से-कम २० गाँव उन्हें ले लेने चाहिये और वहाँ पाँच-पाँच कन्याओं का एक दल भेजना चाहिये। सिर्फ दल भेजना ही नहीं, वहाँ जाकर व्यवस्था कर देनी चाहिये; दो महीने छुट्टी है तो एक महीना वे कन्याएँ गाँव में जाकर रह सकें, ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिये, गाँव वालों से परिचय करा देना चाहिए। कुछ काम First aid (प्राथमिक चिकित्सा) का रहेगा, कुछ शिशु-विहार का काम वे चला सकेंगी।

छठी बात। घर-घर में शोषण के द्वार, रिश्वतख़ोरी के, भ्रष्टाचार के द्वार बन्द करने के लिए भी स्त्री को प्रयत्न करना

चाहिये। जब स्वमान जागृत रखने वाली पत्नी घर में पति से कहेगी कि अन्याय से लाया हुआ धन मैं घर में उपयोग में नहीं लाऊँगी, पाप से कमाया हुआ आहार और अन्न-वस्त्र मैं बच्चों के उपयोग में नहीं लाऊँगी तो भ्रष्टाचार का, शोषण का प्रतिकार करने में वह ज़रूर मदद कर सकेगी।

(ग) सायंकालीन प्रार्थना-सभा। प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : दर्शन के बाद भी मनुष्य गिरता क्यों है? दर्शन में और मोक्ष में क्या फ़र्क़ है? मोक्ष होने का भ्रम यदि किसी को हो तो इस भ्रम से कैसे बच सकते हैं? और मोक्ष है क्या? साधना किस प्रकार की जा सकती है?

उत्तर : जैसे शब्द प्रश्न में रखे गये हैं, उनपर से 'दर्शन' शब्द का अर्थ लेना होगा सगुण दर्शन, साकार दर्शन। तो, सगुण दर्शन होने के बाद मनुष्य यदि गिरते हुए दिखाई देता है तो क्यों गिरता है? बात ऐसी है कि हमारे अध्यात्म का हमारे समग्र जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है, कोई अनुबंध नहीं है। सगुण मूर्ति की उपासना की; उसी का चिन्तन, उसी का मनन, उसी का निदिध्यासन हुआ। आँख मूंदने पर या खोलने पर उसी के दर्शन भी होने लगे। उत्कटता अत्यन्त बढ़ गई और चेतना की गहराई तक जा कर उसके तल को भी छू गई, तो जिस सगुण रूप का ध्यान करते हैं, वह मूर्ति पवन और अग्नि—दो तत्त्वों का उपयोग करके सघन बनकर सामने भी आती है; लेकिन पूजन करते समय या भजन करते समय जिस गहराई में मनुष्य रहता है, उस उत्कटता के साथ जीवन के सभी व्यवहार वह नहीं करता। पूजा करते समय गहराई में उतरना, पूजा समाप्त होने के बाद पूजा-घर से बाहर निकले कि चेतना के ऊपर के स्तर पर आकर बहने लगना—तो सगुण दर्शन के

बाद भी आप किसी में यदि पाते हों कि उसके संपूर्ण चरित्र का, उसके व्यक्तित्व की समग्रता का उत्थान नहीं हुआ है, तो उसका एक ही अर्थ समझिएगा कि उसकी साधना एकांगी है, समग्रता में नहीं है। मोक्ष है समग्र व्यक्तित्व का उत्थान, मोक्ष है अहंकार का निर्मूल होना, मोक्ष है जीवन की प्रकृतियों में से 'अहं' नाम के केन्द्र का निःशेष हो जाना, नष्ट हो जाना। इन दोनों में अन्तर है। यह ज़रूरी नहीं कि जो सगुण साक्षात्कार पाते हैं, उनके दर्शनों का संबंध उनके समग्र जीवन के साथ हो। आशा करती हूं कि यह आप समझ रहे हैं।

मान लें कि बालकृष्ण की उपासना (आप) कर रहे हैं, पूजा में बैठे हैं। लड़की ने या लड़के ने फूल चुन कर ठीक से नहीं रखे, वहीं पूजाघर में बैठे-बैठे क्रोध आता है। अरे! फूल अच्छे नहीं हैं। यह ऐसा ही करती हैं, वह ऐसा ही करता है। उस क्रोध को आप शब्द का रूप दें या न दें, लेकिन गुस्से में भर-भर कर वे फूल (आप) चढ़ाते हैं भगवान् के ऊपर। कृष्ण की मूर्ति की पूजा की। बाहर निकले, बच्चों को चाँटे लगाये। उस कृष्ण के दर्शनों के साथ घर में खेलनेवाले कृष्ण का कोई संबन्ध नहीं। 'प्रभु तुम सर्वव्यापी हो' मन्दिर में बैठकर ऐसा कहने वाले बाहर निकलते ही प्रभु को मन्दिर में बन्द करके रखते हैं। इस देश में आध्यात्मिक सत्ता अलग और व्यवहार की सत्ता अलग—इस प्रकार जीवन को दो सत्ताओं में बाँट दिया गया है। तो, कहते हैं कि एकता, वेदान्त, अद्वैत, उपासना प्रेम—सब कुछ अध्यात्म के लिये सुरक्षित रखो और व्यवहार में पैसा कमाना हो तो झूठ बोलना पड़ेगा, चोरी करनी पड़ेगी। समाज में रहना है तो चतुराई से रहना, किसी पर विश्वास नहीं रखना। कहना यह चाहती हूं कि व्यवहार की सत्ता के लिये

जीवन-मूल्यों की एक शृंखला और अध्यात्म के लिये जीवन-मूल्यों की दूसरी शृंखला—ऐसा जीवन को बाँट दिया गया है।

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि सगुण दर्शन की वात करने वाले, अनुभव करने वाले, जिनमें अतीन्द्रिय शक्तियों का विकास हुआ है, यहाँ बैठे-बैठे आप के विचार बतला देंगे, हवा में से चीज़ें लाकर आपके सामने हाज़िर कर देंगे, हाथ में से कुंकुम, भस्मी सभी कुछ गिरायेंगे, हो सकता है कि उनकी जीवन-समग्रता में देखने जाइएगा तो आप न सत्य पाएंगे, न प्रेम पाएंगे, न और कुछ। और मोक्ष है चेतना का समग्रता में उत्थान। कल कहा गया था कि जीवन की गति ऊर्ध्व है। तो, संपूर्ण जीवन का उत्थान ही मोक्ष है। अहंकार के केन्द्र में से संपूर्ण जीवन का उठना, ऊपर होना—यही मोक्ष है, यही मुक्ति है। मुक्ति का घर-बार छोड़ने से, पति को, पत्नी को, पुत्र को छोड़ने से कोई संबंध नहीं। मोक्ष का न छोड़ने से संबंध है, न खोजने से संबंध है। बस, मोक्ष का संबंध है समग्रता में प्रतिष्ठित होने से; मैं देह हूं, इस भ्रम में जबतक रहेंगे, मैं मन हूं, इस भ्रम में जबतक रहेंगे, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। तब तक तन की और मन की गुलामी में ही जिंदगी कटेगी। फिर यह मन जो है—सुबह उठकर एक वस्तु के दर्शन किये, (इस मन में) एक प्रतिक्रिया उठी। कोई व्यक्ति सामने आया, उसने कुछ व्यवहार किया, दूसरी प्रतिक्रिया उठी। कभी वासना उठी, कभी विकार उठे और फिर उनकी तानाशाही और हुक्मशाही में हम चलते रहें, यह बन्धन है

और, पता चले कि यह क्रोध उठ रहा है, यह द्वेष उठ रहा है, यह लोभ उठ रहा है, यह महत्त्वाकांक्षा उठ रही है, तो महत्त्वाकांक्षा, लोभ या क्रोध का अवसर देने वाली परिस्थिति को

भी देखेंगे और लोभ को, क्रोध को, मोह को भी देखेंगे। एक साथ दोनों को देखेंगे। अपने क्रोध को, अपने विचार को, अपने विकार को देखने का साक्षित्व जिस दिन प्राप्त कर लेंगे उस दिन बाह्य परिस्थिति और आन्तरिक प्रतिक्रिया—दोनों से हम एक साथ दूर हट जाएंगे। तो फिर प्रतिक्रियाएं उठेंगी, जैसे सागर में मौजें उठती हैं, नदी में लहरें उठती हैं; और उन पर सवार हो कर हम निकल जाएंगे, उनके नीचे दबेंगे नहीं।

लोग समझते हैं कि जो मुक्त हो गया उसमें तो कोई परिणाम नहीं होता। जो स्थितप्रज्ञ है, उस पर सुख-दुःख का कोई परिणाम नहीं होता। भावनाओं की, संवेदनशीलता की बधिरता का नाम स्थितप्रज्ञता नहीं है, बल्कि सारे विश्व का दुःख मेरा दुःख बन जाता है, सारे विश्व के अभाव और त्रुटियाँ मेरी त्रुटियाँ बन जाती हैं। इसका नाम मोक्ष है। पूछा गया है कि इस अवस्था का वर्णन करो। अरे भाई, वर्णन करते हैं; लेकिन मन की मदद से। वर्णन हो सकता है—शब्दों से न! और शब्दों से वर्णन करने के लिये मन का वहाँ उपस्थित होना आवश्यक है। और जिस अवस्था को आप मुक्ति या मोक्ष कहते हैं, उस अवस्था में मन में बैठा नहीं जाता। अभी तो हम मन में बैठे हैं न! हमें अच्छा लगना, बुरा लगना, प्रिय लगना, अप्रिय लगना, मान-अपमान—हम इस मन के झूले पर बैठे हैं। कभी झूला इस तरफ़, कभी झूला उस तरफ़। उससे नीचे उतरते ही नहीं। मन के झूले से एक साथ नीचे उतर जाना, सुख आये, दुःख आये; मान हो, अपमान हो; शीत हो उष्ण हो; सफलता हो असफलता हो—इन सब के बीच में से बादशाह की शान से गुजरते जाना मुक्ति है। टाल नहीं सकते सुख और दुःख को, टाल नहीं सकते मान-अपमान को; सारे समाज का नियंत्रण आप नहीं कर सकते है।

(स्वयं को मुक्त कर सकते हैं।) मुक्तावस्था का वर्णन कैसे करें? वहाँ तो मन की क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं; मन की क्रियाएँ यानी जिसे आप स्मृति कहते हैं, भूतकाल की याद कहते हैं, आकांक्षा कहते हैं, भविष्य के सपने, सुख की आसक्ति या दुःख से उद्वेग—ये सब जो मन के खेल हैं, वहाँ चलते नहीं हैं—मन अपनी समग्रता में स्वयमेव शान्त हो जाता है। वहाँ मुक्तावस्था है। अब ऐसी मुक्तावस्था का, आप कहते हैं, शब्दों से वर्णन करो। वहाँ वाणी पहुँचे तब तो वर्णन करूँ न! वहाँ शब्दों का प्रवेश हो तब तो वर्णन करूँ! शब्द हमेशा, जहाँ द्वैत है, वहीं पर प्रवेश कर सकते हैं; जहाँ द्वैत नहीं, वहाँ शब्द का प्रवेश नहीं हो सकता। इतना ही कह सकती हूँ कि मुक्तावस्था में जो व्यक्ति रहता होगा, उसका व्यवहार मन की भूमिका पर से होता नहीं है। ऐसा नहीं है कि वह मन का उपयोग नहीं कर सकता। उसका मन बधिर नहीं हुआ है, मूर्छित नहीं है। आप लोगों से भी तीव्र संवेदनशीलता उसमें है, अधिक जागरूकता है, अधिक उत्कटता है, लेकिन मन की भूमिका में वह बैठा नहीं रहता। जब कोई परिस्थिति सामने आई और वाणी के द्वारा, मन के द्वारा उसका प्रतिसाद देना होता है, तो भले ही मौन में से उठकर वाणी की दहलीज पर आकर, दरवाजे पर आकर खड़ा हो जाये और चार शब्द कह कर वापस चला जाये अपने मौन में। तो, भाई! मुक्तावस्था मौनावस्था है।

और मौनावस्था क्या है? बाह्य शारीरिक व्यापार का संवरण मौन नहीं है। वाग्-व्यापार का संवरण भी मौन नहीं है। मौन है चित्त की ऐसी निःस्पन्द अवस्था, जहाँ किसी प्रकार की वृत्ति, किसी प्रकार का तरंग नहीं उठता। और यह कब होगा? यह कैसे होगा? इसकी साधना कैसे होगी? यह समझने से

कि जन्म में और मृत्यु में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं है। आप की छाया से भी अधिक निकट मृत्यु है। जन्म में हाथ मिला कर, कदम में कदम मिला कर मृत्यु चलती है। यह जिसको मालूम है, वह शरीर रहते हुए भी शरीर से बँधा हुआ नहीं रहता।

"इसकी साधना कैसे" ?—बड़ा अच्छा सवाल पूछा है। आशा करती हूँ कि जिन्होंने पूछा है, वे सचमुच इसके बारे में कुछ करना चाहते हैं, सिर्फ़ सुनना नहीं चाहते। सुनने की आदत हो जाये तो सत्संग-सभाओं में जाया करेंगे; एक के उत्तर की दूसरे के उत्तर से जाँच-पड़ताल करके देखेंगे। अपनी बुद्धि में और स्मृति में उत्तरों को भर लेंगे, लेकिन करेंगे कुछ नहीं। सुनने की आदत हो जाती है तो सुनने का नशा होता है। और विचारों के नशे में से, आपने जिस भ्रम का उल्लेख किया है, वह भ्रम पैदा होता है (मोक्ष होने का भ्रम)। आशा करती हूँ कि कुछ करने वाले ने यह सवाल पूछा होगा। भाई, शुरू ऐसे करते हैं कि प्रत्येक व्यापार, प्रत्येक व्यवहार के बारे में—शारीरिक व्यवहार को मैं शारीरिक व्यापार कहती हूँ, वाणी के व्यवहार को वाग्व्यापार कहती हूँ—तो प्रत्येक कर्म के लिये सावधान रहने का प्रयत्न होगा। मैं यह व्यवहार क्यों कर रहा हूँ ? इसका प्रयोजन क्या है ? बोल रहा हूँ, इसका कुछ प्रयोजन है या कुछ लोगों से छिपाने के लिए बोल रहा हूँ ? एकदम 'वाचा' रुक जाएगी। अनावश्यक शब्दों की जो आतिशबाज़ी है, और यह वाणी का दुरुपयोग है, वह शान्त हो जाएगा एकदम। बिना मौन लिए मौन विकसित होगा क्योंकि वाणी जहाँ अनिवार्य है, उसका उपयोग जहाँ अनिवार्य है वहीं आप बोलेंगे। शरीर को हिलाना-डुलाना जहाँ आवश्यक हो वहीं आप हिलाएँगे-डुलाएँगे, नहीं तो शरीर को स्थिर रखेंगे।

तो, पहला सोपान है, पहला चरण है, अखण्ड अहर्निश जागरूकता। दूसरा सोपान है शरीर की स्वस्थता की ओर ध्यान देना—आहार, विहार, निद्रा—सब सावधान रहते हुए करना। मुक्ति खेल नहीं है। मौन या ध्यान खेल नहीं है। कमज़ोरों का वहाँ कोई काम नहीं, गुज़ारा नहीं। कमज़ोर व्यक्ति यदि ध्यान करने बैठेगा या जप करने बैठेगा, तो घंटे, डेढ़ घंटे के ध्यान में ही कुछ नाद सुनाई देंगे और प्रकाश दिखेगा तो घबड़ा कर या तो उससे पागल, विक्षिप्त हो जाएगा और या व्यवहार करने की अपनी क्षमता खो बैठेगा। ध्यान और मौन की साधना करने के लिए फ़ौलाद का शरीर चाहिए; ज्ञानतन्तुओं में फ़ौलाद जैसी ताक़त चाहिए और बुद्धि में तलवार जैसी धार चाहिए। ध्यान करना समर्थों का काम है, निर्बलों का नहीं।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—यह बलहीनों का काम नहीं। आप देखते हैं न! जाकर मन्दिर में बैठते हैं, कुछ थोड़ा-सा भजन सुना, कम्प आता है, स्वेद आता है, बेहोश हो जाते हैं। अरे! इतनी-इतनी अनुभूतियों में बेहोश होने वालो! आगे कैसे बढ़ोगे? थोड़ा-सा कुछ नाम-जप किया और इसके जो स्पन्दन हैं, उन्हें भी धारण नहीं कर सके; उसी में बेहोश हो गये, उसी में चक्कर आया, उसी में खा नहीं सकते, पी नहीं सकते, काम नहीं कर सकते—फिर लोग कहते हैं यह पागल हो गया है। इसलिए कहती हूँ कि शरीर की स्वस्थता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। ऐसा होने पर जिस व्यक्ति में यह जिज्ञासा हो कि मन के परे जो अस्तित्व है, जो मुक्तावस्था है, उसको हम देखें,—उस व्यक्ति के लिए यह कह रही हूँ कि चौबीस घंटे में से एकाध घंटा ऐसा निकालें कि शान्त चित्त से मकान के किसी कोने में, आँगन में, खेत में बैठ सकें, आँखें खुली रखकर या बन्द रखकर

जैसा चाहें—मेरुदण्ड सीधा रखकर—खड़े रहो, या बैठे रहो, इससे कोई मतलब नहीं, लेकिन मेरुदण्ड सीधा रहे, गर्दन सीधी रहे; फिर ज़रा देखो खेल कि मन में कौन-कौन से विचार उठते हैं, कैसे उठते हैं। सुशिक्षित हो तो डायरी रखना शुरू कर दो कि भाई! आज बैठा था दस मिनट, दस मिनट में पचास बार मन दौड़ा। किस विषय पर दौड़ा? कितनी बार एक विषय पर गया? कितनी देर उसपर रहा?

मन देखेगा कि मैं तो जाता हूँ दौड़-दौड़कर, लेकिन यह व्यक्ति तो मुझ पर गुस्सा भी नहीं करता, रोकता भी नहीं; यह भी नहीं कहता कि यह पापी विचार है, यह भी नहीं कहता कि यह सुन्दर विचार है। प्रशंसा भी नहीं, निन्दा भी नहीं। निषेध भी नहीं, स्वीकार भी नहीं। यह हो क्या गया इसे? मन पचास बार दौड़कर आया। बस, उसके साथ जाना, जहाँ भी जा रहा है। यहाँ बैठे हैं, शिविर में, घर की याद आ रही है। जाने दो, उसके साथ उँगली पकड़कर घर तक जाओ। 'देख ले, भाई। क्या देखना है घर में'? वह कहता है—'कुछ नहीं, बस आ गया, हो गया; बस चल वापस'। वापस आया। उससे यह न कहो कि क्यों दौड़ गये? तूने ऐसा क्यों किया? मेरा मन होकर पापी विचार करता है। शिविर में बैठा हुआ सिनेमा का विचार करता है? यह सब निषेध अहंकार में से पैदा होता है। आत्मनिषेध, आत्मग्लानि और आत्मविषाद—ये अहंकार के रूप हैं। इनमें से किसी में पवित्रता नहीं। तो, विचार के साथ गये, विचार के साथ वापस आये।

अब दूसरे दिन बैठे हैं। मन ने फिर दौड़ना शुरू किया। इस विचार के पीछे, उस विचार के पीछे। यहाँ, वहाँ—वह तो बिना टिकट पृथ्वी परिक्रमा एक पल भर में कर के आता है।

रोक न टोक उसको। दूसरे दिन देखा, तीसरे दिन देखा। जब रोक-टोक बन्द हो गई तो मन का दौड़ने का आधा मज़ा तो ख़त्म हो गया। अब दौड़कर आगे जाए कहाँ? कहाँ जाए दौड़कर! जब तक हम रोकते हैं तभी तक मन की दौड़ने की आदत चलती है। मन को हमारा रोकना ही उसे दौड़ने की गति देता है। The momentum for running away—दौड़ने की जो गति है, वह हम ही उसमें भरते है। हमारा निषेध उसको गति देता है। जब आसक्ति भी नहीं है, निषेध भी नहीं है, तो मन जायेगा कहाँ? क्योंकि निर्विचार अवस्था आत्मा का स्वभाव है।

दो दिन, चार दिन करके देखो। यह तो प्रयोग का शास्त्र है, वाणी का व्यापार नहीं है। यहाँ उधार बातें नहीं चलेंगी और दूसरों की उधार अनुभूतियों के वर्णन से कम्पित होना और हर्षित होना यहाँ काम नहीं देगा। उधार की पूँजी कितने दिन चलेगी? और कल्पना पर, उधारी पर आत्मा की पुष्टि नहीं होती। इसलिये कह रही हूँ कि प्रयोग करके देखो।

फिर मन का दौड़ना स्वयमेव शान्त होता है और इस प्रकार मन के शान्त होने पर उसे कुछ देखने को नहीं मिलता, विचार देखने को नहीं मिलते, विकार देखने को नहीं मिलते। कुछ उठता नहीं है तो मन को लगता है ओहो! चारो तरफ़ अन्धकार है। और लोग कहते हैं—'हम तो बैठने गये ध्यान में; विचार तो उठते नहीं हैं, लेकिन अन्धकार दिखता है।' मैं कहती हूँ—'भाग्यशाली हो, ज़रा अन्धकार को देखो, घबड़ाओ मत।' अन्धकार की सुरंग में से गुज़रने का साहस करो तो सामने आगे आलोक है। लेकिन जो अन्धकार से डरे वे वापस आए विचार की भूमि पर। जो अन्धकार से डरे वे वापस आये, मस्ती में, नशे में। लेकिन अन्धकार से बिना डरे, उस निर्विचार अवस्था में जो

दिव्य अन्धकार दिखता है, उस अन्धकार में जो स्थिर होता है, हो सकता है कि आगे जो साक्षित्व का आलोक है, वहाँ उसका प्रवेश हो। आपने पूछा 'साधना कैसे करें ?' तो, एक रास्ता तो यह बताया कि दिन में, २४ घण्टे में एक बार, दो बार जैसी सुविधा हो, वैसे यह प्रयोग करना शुरू करो और बाकी जो २२ या २३ घण्टे हैं, उन में जो व्यवहार होगा वह प्रतिक्रिया में से न हो; बाह्य परिस्थिति और आन्तरिक प्रतिक्रिया दोनों से हट कर देखें और फिर व्यवहार करें। इसको कहते हैं साक्षित्व की साधना। बाकी व्यवहार में साक्षित्व की साधना के सिवाय कुछ करना नहीं पड़ता।

प्रश्न : स्थूल परिणाम के लालच से कैसे बचें ? स्थूल परिणाम न भी दिखाई दे तब भी समाधान कैसे करें ?

उत्तर : "स्थूल परिणाम के लालच से कैसे बचें ?"—मैं मान लेती हूँ कि यह विषय भी आध्यात्मिक जिज्ञासा से संबन्धित है। देखिये, स्थूल परिणाम की लालसा कैसे आती है, किसको आती है ? मन को आती है, अहंकार को आती है। हमने अध्यात्म को भी कुछ प्राप्त करने का विषय समझ लिया है। पैसे कमाते हैं न ? प्रतिष्ठा कमाते हैं न ? सत्ता कमाते हैं, ऐसे ही परमार्थ कमाएँगे। हम आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करेंगे, हम सगुण साक्षात्कार प्राप्त करेंगे। यानी तथाकथित आध्यात्मिक विषय अहंकार के लिये उपकरण बन गये। यह कमाउँगा, अनुभूतियों का संग्रह करूँगा, आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होगा। अहंकार उसी में जीता है। अध्यात्म मानसिक कर्म का विषय है ही नहीं, यह जब तक समझ में नहीं आएगा, तब तक साधना में स्थूल परिणाम देखने की लालसा बनी रहेगी। मुझे अनुभूति कब आएगी ? मुझ में अतीन्द्रिय शक्तियाँ कब विकसित होंगी, occult powers कब मिलेंगी ?

अमुक को जितना आनन्द मिला है, वह मुझे कब मिलेगा ? यह मिलने की वस्तु नहीं है रे ! इसमें कुछ प्राप्त भी नहीं करना है, न इसमें किसी चीज़ का त्याग करना है। तो, स्थूल परिणाम की वासना एक ग़लत धारणा में से उठी है कि अध्यात्म कुछ करने का विषय है। अध्यात्म तो करने का विषय नहीं, न करने का विषय नहीं, यह होने का विषय है।

लोग तो समझते हैं ध्यान भी करने का ही विषय है। अरे भाई ! पूजा करने का विषय है, मान लूं, चित्त की एकाग्रता करने का विषय है, मान लूं ; लेकिन ध्यान तो एक अवस्था है। दस साल का लड़का है, और बाप से कहे कि आप के तो दाढ़ी-मूंछ हैं, मेरे नहीं हैं ; लाओ मुझे दवा दो। दाढ़ी भी चाहिये, मूंछ भी चाहिये। क्या कहेंगे पिताजी ? यही तो कहेंगे कि बेटा ! ठहर जाओ, अभी दस साल के हो। और चार-छः साल ठहरना ; फिर मूछें आएंगी और फिर दाढ़ी फूटेगी। यौवन को कहीं से लाया नहीं जा सकता। यौवन तो, शरीर का और मन का कुमार अवस्था में से यौवन में एक-साथ उत्थान करना है। उसी प्रकार ध्यान एक अवस्था है, जिसमें सारी चेतना का उत्थान होता है। ध्यान को जिन्होंने करने का विषय मान लिया, वे ही भ्रान्त धारणा में पड़े रहे। तो, स्थूल परिणाम की लालसा से कैसे बचें ? बचना नहीं है, समझना है। बचना भी तो एक प्रकार का पलायन-वाद होगा। हमें बचना किसी से नहीं है। २४ घंटे जीवन-सागर पर हम हैं। लहरों के थपेड़े आएंगे, लगेंगे, इधर-उधर से—देखते रहेंगे, धक्के लगेंगे, वे भी झेलेंगे। यहाँ बचना नहीं, यहाँ जीना है।

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ॥

बचने-वाले किनारे पर बैठे रहेंगे। दूसरों के साधनों का हिसाब करेंगे। किसका विचार कितना तर्कशुद्ध है, और निर्दोष हैं, इसका हिसाब करेंगे। दूसरों की तुलना और निर्णय करने में जिंदगी बीत जाएगी। इनके हाथ अन्त में खाली रह जाएंगे। यह किनारे पर बैठने वालों का काम नहीं है भाई! यह तो छलाँग लगा कर तैरने वालों का काम है; या तो तैर जाऊं या डूब जाऊं; लेकिन डूबना जीवन में है। तो, स्थूल परिणाम की लालसा से बचने का एकमेव रास्ता यह है कि अध्यात्म या मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, साक्षित्व—जो भी कहियेगा—यह करने का विषय नहीं है। जब समझ में आएगा कि करने का विषय नहीं है, वहीं अहंकार का दम्भ समाप्त हो जाएगा, क्योंकि उसे रास्ता ही नहीं है, फिर कहीं काम करने का।

आप लोगों ने जो प्रश्न पूछे थे, उनके जैसे सूझे वैसे विश्लेषण मैंने रखे। मैं चाहती थी कि स्वयं कहने के बदले, आप लोगों की जिज्ञासा जहां पहुँची है, वहां तक जाकर मैं हाथ में हाथ मिलाऊँ। और आप की जो जिज्ञासा हो, जितनी जिज्ञासा हो उतना हम यहाँ पर सहचिन्तन और सहविचार करें। इसलिये आज की सन्ध्या में यह उपक्रम हम लोगों ने रखा। जो बातें प्रश्नों के उत्तरों में कही गई हैं, विश्लेषणों में कही गई हैं, उन पर से ध्यान में आया होगा कि पहला काम यह करना है कि अध्यात्म और व्यवहार—दो सत्ताओं में जीवन खण्डित नहीं करना है, बाँटना नहीं है। यह तो व्यवहार है, इसमें चलेगा—शाक सब्ज़ी लेने गये तो उस ग़रीब बहन के पीछे पड़कर चार आने के दो आने कराने में व्यवहार-कुशलता समझना (यह नहीं होना चाहिये)। वह बहन ग़रीब है, देख रहे हैं कि उसके तन पर फटे कपड़े हैं, चार आने किलो तो खरीद सकते हैं, लेकिन

व्यवहार-कुशलता है—कर्म करायेंगे हीं। डाक्टर हों, वकील हों, व्यापार में हों, नौकरी में हों, शिक्षक हों, यह तो व्यवहार है; इसमें असत्य, अनीति, दुराचार सब स्तुत्य है, क्योंकि पैसा मिलेगा, प्रतिष्ठा मिलेगी और अध्यात्म में सन्त के पास जाना, नम्रता से बैठना, जिज्ञासा दिखा कर सवाल पूछना, वहां सत्य, प्रेम करुणा के गीत गाना यह भी स्तुत्य है क्योंकि वहाँ भी प्रतिष्ठा मिलेगी। यहाँ भी प्रतिष्ठा, वहाँ भी प्रतिष्ठा। दोनों हाथों में लड्डू रहेंगे। इसलिये जीवन को खण्डित और विभाजित कर देते हैं और फिर दोनों खण्डों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। नुकसान इसमें दूसरे किसी का नहीं, हमारा ही है।

इसलिये पहली चीज़ बहनें ध्यान में रखें कि जीवन एक, अखण्ड, अविभाज्य है—जीवन को काटा नहीं जा सकता, बाँटा नहीं जा सकता, छाँटा नहीं जा सकता। उसे खण्डित करना यही पाप है, यही बन्धन है, और उसकी समग्रता में उसे देखना, यही मुक्ति है, मोक्ष है। यह पहली चीज़ समझें तो फिर यह नहीं करेंगे कि छात्रालय या विद्यालय में रहते हैं तो अपने कमरे में रहने वाली बहनों से लड़ना और मुख्य शिक्षक आये तो उनके सामने नम्रता की मूर्ति बन जाना। घर में. शादी हुई है तो पति के सामने तो भीगी बिल्ली बनकर रहना और फिर नौकरानी आई या बच्चे सामने हैं तो उनकी ताड़ना करना, डाँटना। फिर मन्दिर में गये तो रोना, धोना, नाम लेना। अपने व्यक्तित्व के इतने सारे टुकड़े करके रखते हैं हम। मन्दिर में जाने का निषेध नहीं कर रही हूँ, लेकिन कह यह रही हूँ, कि आप जीवन के एक क्षण में जो हैं, वही सब क्षणों में बने रहिये। कहीं छिपना, कहीं दूसरा दिखाना, प्रदर्शन करना, यह न कीजिये। तो, अपने आप की, जैसी हम हैं, वैसी स्वीकृति और यदि सुधार करना है तो समग्रता में सुधार

करने की चेष्टा—ये दो चीजें, यहाँ जो कन्याएँ बैठी हैं, वे समझ सकें इस भाषा में मैंने रखीं।

जो बड़े लोग बैठे हैं, उनके सामने तो मुक्ति क्या है, दर्शन क्या है, सगुण दर्शन और सगुण साक्षात्कार के बाद भी व्यक्ति के अध:पतन क्यों देखने में आते हैं—इत्यादि बातों का विश्लेषण किया गया। असल में बात तो यह है भाई! कि सगुण साक्षात्कार—यह तो मन की गहराई में से ही उठता हुआ एक खेल है। बच्चे गुड्डा बनाते हैं, गुड़ियाँ बनाते हैं, उनकी शादी करते हैं, उनके लिये भोज रखते हैं; बुलाते हैं एक-दूसरे को। खेल है बच्चों का। वैसे ही, निर्गुण निराकार की उपासना सहन नहीं होती है—इसलिये हम सगुण साकार की उपासना करते हैं। यह खेल प्रारम्भ में चलता है, भले चले, लेकिन सगुण साक्षात्कार, सगुण दर्शनों का मोक्ष से और मुक्ति से कोई संबन्ध नहीं है; जैसे अतीन्द्रिय शक्तियों का कोई संबन्ध नहीं, वैसे सगुण साक्षात्कार का आत्मसाक्षात्कार से, आत्मरत जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। इस विषय का थोड़ा विश्लेषण आपके सामने रखा, आगे का विचार कल सुबह करेंगे।

———

दिनांक ३१-१२-६७

प्रात:कालीन प्रार्थना-सभा

आज एक बड़ा पुण्य पर्व आया है—पश्चिम में, पूरब में, उत्तर में, दक्षिण में। जहाँ भी मानव रहता है, वहाँ एक अपूर्व क्रांति का यह पवित्र पर्व आया है। जो इस ज़माने में जीवित हैं और युवावस्था में हैं वे धन्य-भाग्य हैं। सनातन काल से मनुष्य खोजता आया है चिरन्तन सुख, चिरन्तन शान्ति, चिरन्तन समतुलन—इन तीनों की खोज करते-करते यहाँ तक मानव पहुँचा है।

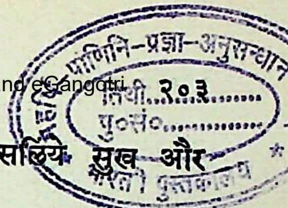
पूरब में मानव ने अपने शरीर से प्रारम्भ किया। प्रयोगशाला शरीर में ही खोल दी। तन की और मन की प्रयोगशाला में खोजते-खोजते कि सुख का बिन्दु कहाँ है शान्ति का केन्द्र कहाँ है, समतुलन की कला कहाँ है—इसकी खोज में मानव ने पाये वेद। पश्चिम में यह खोज बाहर की ओर चली, जिसमें से, आज जिसे पश्चिमी संस्कृति (culture) कहा जाता है, जिसे सभ्यता (civilization) कहा जाता है, यह पैदा हुई। बहुत बड़ी हद तक वहाँ से गरीबी गई। मनुष्य को पूरब में घोर परिश्रम करना पड़ता था और अब भी पड़ता है; वह वहाँ नहीं करना पड़ता। आहार, विहार, निद्रा के लिये जो साज उन्होंने सजाया और जुटाया उसमें एक व्यक्ति की नहीं, हजारों की जिन्दगियाँ व्यतीत हुई। कहीं भी जाइये, वहाँ 'बहुजनसुखाय' 'बहुजनहिताय' कहते हैं। वहाँ बहुजनों के सुख की सभी सुविधाएँ और सामान उपलब्ध हैं, भीख नहीं माँगनी पड़ती है। स्त्री-पुरुषों को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक समता उपलब्ध है।

देखने को पश्चिमी राष्ट्र और पश्चिमी समाज सम्पन्न, सुखी प्रतीत होते हैं। लेकिन जो व्यक्ति उनके घरों में घूमता है, जिसे उधर रहना पड़ता है महीनों तक, वर्षों तक, वह जानता है कि सुख-सुविधा का सामान जुटाते-जुटाते पश्चिम ने हजारों वर्ष बिता दिये। उनके व्यक्तिगत यान्त्रिक जीवन दरिद्री रह गये, प्रेम का स्पर्श तो हृदय नहीं कर पाया। यह नहीं कि वहाँ भी कोई महापुरुष नहीं हुए। वहाँ भी इस सारी सभ्यता और संस्कृति के खिलाफ़ विद्रोह करके उठने वाली कुछ आत्माएँ ज़रूर आविर्भूत हुईं और हर समाज में होंगी। परिस्थिति की अनुकूलता में अपना विकास बहुजन-समाज करता है, लेकिन ऐसे भी विद्रोही निकल आते हैं जो परिस्थिति की प्रतिकूलता को ही अपनी साधना समझकर उसके पार चले जाते हैं। ऐसे शूर, ऐसे वीर अल्प हों, हाथ की उँगलियों पर गिनने लायक हों, लेकिन वे हम लोगों को दिखा देते हैं कि मानवता कितनी ऊँची उठ सकती है, मानव अपनी गहराई में कितना उतर सकता है और मानव अपने को किस प्रकार व्यवहार में अभिव्यक्त कर सकता है। आकाश जैसी विशालता, और सागर जैसी गहराई, हिमालय जैसी स्थिरता, चाँद जैसी भव्यता और सूरज की दिव्यता जिनकी वाणी में नेत्रों में, व्यवहार में ओत-प्रोत हो गई है, ऐसे भी व्यक्ति होते हैं।

कहना यह था कि पश्चिम के लोग भी—वैज्ञानिक, चिन्तक, दार्शनिक और सामान्य मानव--सभी ऊब गये हैं। इन्द्रिय सुखों के पीछे दौड़ते-दौड़ते सदियाँ निकल गईं; न शान्ति हाथ आई न जीवन का संतुलन हाथ आया। अच्छे-अच्छे कीमती कपड़ों में लिपटे हुए उनके हृष्ट-पुष्ट शरीर हैं, लेकिन मन उनके भूखे हैं। न प्रेम का स्पर्श है, न शान्ति का। ऐसा यह क्षण है।

इसलिये प्रारम्भ में कहा कि अब ऐसी शुभ क्रान्ति का पुण्य पर्व आया है कि इन दोनों धाराओं का समन्वय होगा। बाह्य जगत् का निषेध किये बिना, उसको मिथ्या और माया कहकर प्रभु की सुन्दर सृष्टि का अपमान किये बिना और उसमें अटके बिना मानव अब अन्तर्जगत् की खोज में निकल पड़ा है। आन्तरिक सुख के बिना और संतुलन के बिना अब मानव चैन नहीं लेगा।

जो लोग घबड़ाते होंगे आज का प्रखर, घोर मन्थन और अशान्ति, बेचैनी देखकर, वे तूफ़ान और आँधियों के आदी नहीं हैं। मानव ने ऐसे न जाने कितने तूफ़ान और आँधियाँ देखी होंगी, थपेड़े खाये होंगे सागर की मौजों के। लेकिन मानव अब जागृत बन रहा है और बना रहेगा। तो, इस शुभ क्रान्ति के अवसर पर आप, हम क्या कर सकते हैं। यही कि हम अपने जीवन में सुखी हों, हम शान्त हों, हम संतुलित हों। यही सबसे बड़ा योगदान है। यह किस प्रकार हो सकता है? अपने आप को पहचान कर अपने-आप से मैत्री करें तो सुख, शान्ति और संतुलन तीनों उपलब्ध होंगे। आप कहेंगे इसमें कौन-सी बड़ी बात है? मेरा नाम शारदा है, सरस्वती है, वीणा है और मैं जैन हूं या हिन्दू परिवार में हूं, मैं फ़लाने की बेटी, फ़लाने की पत्नी हूं। मैं इन बच्चों की माँ हूं, मैं पाटन-निवासी हूं या मेहसाना-निवासी हूं या गुजराती हूं। यह आप की पहचान नहीं है। यदि कल आप कहेंगी कि जो पहनी हुई साड़ी है, वही आप हैं तो लोग कहेंगे यह कैसी बात है? तो पहनी हुई साड़ी आप नहीं हैं, यदि आप मोटर में बैठी हैं तो वह मोटर आप नहीं हैं, उसी प्रकार आप किसी की पत्नी, किसी की माता, किसी की बेटी, किसी की बहन हैं, यह आप का परिचय नहीं है। जैन परिवार में या हिन्दू परिवार में पैदा होना यह आप



का परिचय नहीं है। बड़ी भूल में हैं आप, इसलिये सुख और शान्ति आप से कोसों दूर भागती है।

खोजिये, भीतर चलिये तो आप पाएँगे कि मैं यह शरीर हूँ साढ़े तीन हाथ का। शारदा, वीणा, सरस्वती—ये नाम तो समाज के दिये हुये हैं, माता-पिता के दिये हुये हैं। इस एक शरीर की दूसरे शरीरों से जो भिन्नता है, उसका संकेत है नाम। मनुष्य के कहीं नाम होते हैं? जैसे प्रभु के कोई नाम नहीं हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अनामी है और यदि नामी भी है तो सभी नाम उसके हैं। लेकिन व्यवहार के लिये नाम दिये गये हैं और हम समझ बैठे कि वह नाम ही हम हैं; उपयोग के लिये शरीर दिया तो समझ बैठे कि शरीर ही हम हैं। हाथ को देखिये, पाँव को देखिये, आँखों को देखिये, अपने कानों को देखिये। इन सब का आप उपयोग करते हैं, ये आप के उपकरण हैं। प्रभु बड़े दयालु हैं, बड़े रसिक और बड़े प्रेमी। कहीं भी कोई कठिनाई न हो, इसलिये ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दे दीं।

और भीतर चलिये, शरीर से भीतर चलिये—कान, आँख, नाक—इन में यदि सुनने, देखने, सूँघने की शक्ति होती हो तो किसी मुर्दे के पास चलिये। न वह बोलेगा, न हिलेगा. आँख है, खुली है, देख नहीं रही है, कान है, सुन नहीं पा रहे हैं। हाथ हैं, हिल नहीं पा रहे हैं। गति का संचार नहीं है, जो जीवन का लक्षण है। इसीलिये कहा है—

[पीछे पृ० १३७ पर उद्धृत उपनिषद्-वाक्य यहाँ सुनाया गया था। पाठक कृपया वहीं पर देख लें। पृ० ७१ पर उद्धृत वाक्य भी देख लें।]

अरे, वहाँ सूर्य और चन्द्र भी नहीं हैं और तेरी मानव-निर्मित अग्नि का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। तो ये जो बाह्य उपकरण हैं,

कृपा कर के यह मत मानिएगा कि आँख-कान-नाक वाले शरीर आप हैं। आप शरीरधारी हैं और जो नियम सृष्टि के अन्य जीवों पर लागू होता है, वही नियम आप के शरीर पर भी लागू होता है। अण्डे से पंछी बाहर निकला, उड़ा इस डाल से उस डाल पर; चहकता गया और किसी दिन प्राण-संचार समाप्त होने पर समाप्त हुआ। वैसे ही आप बचपन से कुमार अवस्था में जाएँगे, कुमारावस्था से यौवन में जाएँगे, यौवन के तूफ़ान और आँधियों में से इधर-उधर धक्के खाते हुए प्रौढ़ावस्था में से वृद्धावस्था में जाएँगे—इस शरीर की यात्रा को तो कभी देखिये। बच्चे भी आप थे, कुमार भी आप थे, युवक भी आप हैं, प्रौढ़ भी आप बनेंगे, वृद्ध भी आप बनेंगे ? नहीं, आप नहीं बनेंगे। न आप बच्चे थे, न युवक हैं। यह शरीर का धर्म है।

चलिये अन्दर। तो जब भीतर चलते हैं तब पता चलता है कि मन से सोचते हैं, विचार करते हैं, तो हम मन हैं ? नहीं आप मन भी नहीं हैं। नहीं तो आप यह कह नहीं पाते कि मुझे यह चीज़ प्रिय लगती है, यह सुनने से मुझे सन्तोष होता है। यह कह नहीं पाते क्योंकि प्रिय और अप्रिय जिसे लगता है, उस मन से आप भिन्न नहीं हो पाते, सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो पाते। मन का सुखी होना, दुःखी होना, सम्मानित होना, अपमानित होना, इसको देखनेवाले आप अलग नहीं रह पाते। जिस प्रकार अपने वस्त्र को आप पहन भी सकते हैं, और उतार कर रख भी सकते है, उसी प्रकार आप चाहें तो मन को सुख और दुःख के अव्यक्त वस्त्रों में लपेट दीजिये या सुख और दुःख, मान-अपमान हर्ष, शोक के वस्त्रों को उतारकर वीतराग की तरह आप निर्वस्त्र हो जाइए। तो मन भी आप नहीं हैं। फिर आप हैं क्या ? एक शक्ति-पुंज; मन को, बुद्धि को, शरीर को चलाने वाली शक्ति का

केन्द्र आप हैं। यह है स्व-स्मरण। अपने-आप को पहचानना यह धर्म का प्रारम्भ है, यही अध्यात्म की साधना है। जब एक बार पहचान लिया कि यह शरीर मैं नहीं हूँ, मन भी मैं नहीं हूँ, बुद्धि से भी मैं परे हूँ, इन सब का संचालन करनेवाला मैं हूँ, तो मनुष्य इन सब की गुलामी से मुक्त हो कर एक आनन्द के साम्राज्य में प्रवेश करता है, जहाँ सुख और दुःख के झूले पर झूलना नहीं पड़ता है। ऐसी एक शान्ति की स्थिति में, अवस्था में मनुष्य प्रवेश करता है और यहाँ प्रवेश पाकर स्थिर होना—इसको जीवन कहते हैं। वहाँ से जो गति होगी वह जीवन्त गति है। तब तक जीवन्त गति नहीं जब तक शरीर और मन से जो अपनी पृथक् सत्ता है, उसका भान नहीं है। उसे किसी ने साक्षित्व कहा, किसी ने निर्वाण कहा, किसी ने कैवल्य कहा।

देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित ॥
(श्रीमद् राजचन्द्र)

[देह रहते हुए जिसकी देहातीत स्थिति है, उस ज्ञानी के चरण में अगणित वन्दन हों।]

देहातीत अवस्था के लिये समय सुरक्षित रखो और देहबद्ध होकर बाकी व्यवहार करो, यह धर्म नहीं है, यही अधर्म है, यही पाप है, यही बन्धन है और संभव है—२४ घण्टे व्यवहार में रहते हुए तथाकथित जागृति या निद्रा में—अपने स्वरूप का अनुसन्धान रखना संभव है। ग्रन्थों से नहीं कह रही हूँ, ग्रन्थ पढ़े भी नहीं हैं; स्वयं जीवन देखकर यह कह रही हूँ कि रात्रि-दिवस उस अनुसन्धान में रहना,—इसमें जो मस्ती है! इसमें जो खुमार है! इसमें जो आनन्द है! फिर कोई दुःख देने के

लिये आता है, उल्टी-सीधी बातें करता है; आप सुन लेते हैं क्योंकि ऐसी जड़ता में तो नहीं हैं कि शब्दों का अर्थ नहीं समझेंगे। क्रोध नहीं होगा, लेकिन उस मनुष्य पर दया आएगी कि क्रोध से वह व्यक्ति अपने-आपे को क्यों बिगाड़ रहा है।

जो क्षण गया वह वापस नहीं आता। यही तो जीवन की अद्भुत और अनोखी लीला है! लाखों, करोड़ों रुपया देने पर भी आप अपना यौवन नहीं लौटा सकते हैं और बचपन खरीद नहीं सकते हैं। यह नहीं कह सकते हैं कि बचपन गया, ग़लत ढंग से जिया था, अब ज़रा दो करोड़ रुपये में ख़रीद लूं तो फिर से बचपन जी लूं, नहीं जी पाएंगे। शुक्र है खुदा का कि प्रभु के साम्राज्य में कोई सौदा नहीं चलता और ख़रीद-बेच नहीं हो सकता। यह ख़रीद-बिक्री का सारा जो काम है, मनुष्य ने ही इसका अपने समाज में निर्माण किया है। हो सकता है आगे चलकर यहाँ ऐसे मानवीय संबन्ध प्रतिष्ठित हों, जहाँ ख़रीदना बेचना न पड़े। इसका सपना कभी महात्मा गाँधी ने देखा था, कभी रस्किन ने देखा था, कभी रूस में टॉल्स्टॉय ने देखा था, कभी नाज़रेथ के नौजवान ईसा ने देखा था। ये देखे हुए सपने कभी बेकार नहीं जाएँगे।

इसलिये कहा, प्रारम्भ में, कि शुभ अवसर पर आप और हम मिले हैं। ऐसे क्रान्ति के अवसर पर मिले हैं, जब कि पश्चिम का विज्ञान-यन्त्र-उद्योग और बहिर्मुखी सभ्यता और भारत की अन्तर्मुखी प्रज्ञा-प्रतिभा में से जन्मी हुई एक संस्कृति और सभ्यता (के उद्भव का समय उपस्थित है)। आज हम में अपनी संस्कृति नहीं है। मेहरबानी करके आप और हम यह भ्रम न रखें कि आज भारतवर्ष में जो व्यक्ति है, जो जीवन है और जो समाज-व्यवस्था है वह सनातन भारतीय प्रज्ञा और प्रतिभा के अनुरूप

है। उसका कोई अवशेष हम में नहीं है। We are an uprooted humanity (हम उन्मूलित—उखड़े हुए मानव हैं)। लेकिन लौटना होगा, अपने भीतर और अपने आप में प्रतिष्ठित होकर दूसरों को प्रतिष्ठित होने में मदद करनी होगी। जो पथ है, जो रास्ता है, वह मैंने कहा कि सुख के साधन कहीं बाहर नहीं, शान्ति कहीं अरण्य में नहीं, जंगलों में नहीं, पहाड़ों में नहीं, और संतुलन कोई उधार नहीं ले सकता, खरीद नहीं सकता। इस कृपा-कठोर सत्य को पहचानें। अध्यात्म यदि सचमुच खरीदा जा सकता तब तो पैसे वालों की वहाँ भी बनती। इस समाज में बनती है तो वहाँ भी बन जाती। लेकिन यह सौन्दर्य है, यह कृपा है, वरदान है कि अध्यात्म में कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता, क्योंकि यहाँ खरीदना और बेचना है ही नहीं और उधार व्यवहार भी नहीं चल सकता।

महावीर का जीवन पढ़ा, गौतम बुद्ध का पढ़ा, राम और कृष्ण के जीवन देखे, ईसा का देखा, जरथुष्ट्र का देखा; उनकी जो अनुभूतियाँ हैं उनको खूब बार-बार रट कर स्मृति में संगृहीत कर लिया; जैसे बच्चे खेलते हैं, वैसे फिर उनसे खेलने लगे। नहीं, यह भी मैंने ठीक नहीं कहा जैसे गाय चारा खाने के बाद जुगाली, रोमन्थ करती है न, उसी प्रकार सन्तों के जीवन-चरित्र पढ़कर अपने मनमें कल्पना करते रहना कि ऐसी अनुभूति मुझे भी आई है; ऐसे उधार के व्यवहार से कुछ नहीं होगा। इससे तुष्टि नहीं मिलेगी, पुष्टि नहीं मिलेगी, न शान्ति मिलेगी। मैं यह नहीं कह रही हूँ कि वह न पढ़ें, जरूर पढ़ें, लेकिन दूसरे की अनुभूति दोहराते-दोहराते हम भी अनुभूति तक पहुँचेंगे यह भ्रम है। सजीव अनुभूति के लिये भीतर परिश्रम करना पड़ता है। यहाँ कोई 'शॉर्ट-कट' नहीं है, और 'रेडीमेड' सामान भी नहीं है।

पढ़ने से दिशासूचन हो सकता है और साक्षित्व इसी शरीर में रहते हुए संभव है, इसका एक सबूत मिल सकता है। इससे अधिक नहीं। उन लोगों के भीतर जो शान्ति समाई है, जो प्रसाद ओत-प्रोत है, जिस सन्तुलन में वे प्रतिष्ठित हैं, उसकी कुछ किरणें, कुछ रश्मियाँ उनके भीतर से बाहर फूटती हैं; उन रश्मियों में, किरणों में नहाना, शुचिभूत होना यह सत्संग है। यह लोगों की समझ में आता नहीं। वे जड़ शब्दों को पकड़ लेते हैं और (सन्तों के) शारीरिक व्यवहार की पद्धतियों को पकड़ लेते हैं और उन्हीं का अनुकरण करने जाते हैं। यह सत्संग नहीं है। सत्संग है आत्मोपलब्ध या सत्योपलब्ध व्यक्ति के शरीर से, दृष्टि से, वाणी से, स्पर्श से जो शान्त, समतुलन और सुख की किरणें फूट पड़ती हैं, जो सुगन्ध, सौरभ वहाँ से फैलता रहता है, उसको ग्रहण करना; बहुत सरल बात है। बगीचा हो, बगीचे में मोगरे का, बेले का छोटा पौधा हो, या जाई, जुही, चमेली की वेल हो, फूल खिले हों। क्या फूल की सुगन्ध नहीं आती? आप यहाँ बैठे हैं, फूल कुछ दूर हैं, फिर भी सुगन्ध आती है। जिसको आप जड़ फूल कहेंगे उसकी सुगन्ध वहाँ से यहाँ आ सकती है, तो फिर जिन्होंने शान्ति पाई, संतुलन में जो स्थित हो गये हैं, प्रसाद से जिनके कण-कण ओत-प्रोत हो गये हैं उनके शरीर से यदि शान्ति, संतुलन और प्रसाद की किरणें फूट पड़ती हैं तो क्या आश्चर्य है? जिसके सत्संग की इन्द्रियाँ हों—वह सत्संग करना जाने, बड़ा मजा है उसमें, बड़ा आनन्द है, लेकिन यह नहीं कि वहाँ जाकर भी शरीर को ही प्रणाम करें।

गुरु गये और चेले रोये तो कहते हैं कि दोनों के दोनों कोरे निकले। हम इतने शरीर के उपासक हैं कि अपने आप को भी शरीर समझते हैं और सत्संग में गये तो सन्त की सुन्दरता में

अटक गये, उसकी आँखें, उसकी नाक, उसके शरीर की लम्बाई-मोटाई नापने लगे। ओहो! कितना सुन्दर! कुछ ऐसे हों कि तन पर नहीं रुके तो उसकी बोलने की शैली यदि अच्छी हो, वक्तृत्व हो उसके पास, तर्कशुद्ध विचार रखने की कला हो, काव्य हो, उसके भीतर रसिकता हो—तब तो और भी गये। अब दूसरा जाल तैय्यार है। तन की सुन्दरता से नज़र आगे बढ़ी तो मन की सुन्दरता, विचारों की सुन्दरता, अभिव्यक्ति की सुंदरता में फँस गये।

तो, वह दूसरा जाल बहुत सूक्ष्म है और सत्संग करने वालों में से, जो सुशिक्षित हैं, वे ९९% (सौ में निन्यानवे) उसी में फँस जाते हैं। सादे-सीधे, भोले-भाले हों तो वे सत्संग का ग़लत अर्थ समझने के कारण सन्त के शरीर की पूजा करने लगते हैं। ज़रूर, शरीर सुन्दर है; भीतर की सुन्दरता को जो पाये हैं उनकी लंबाई-मोटाई न देखें तो उनकी आँखों में से सौन्दर्य और प्रेम ही झरता है। इसलिए आत्मोपलब्ध व्यक्तियों में लावण्य की आभा हो तो कोई आश्चर्य नहीं; लेकिन वहाँ रुकना नहीं है, क्योंकि कल उनके हाड़-मांस यदि समाप्त हो जाएँगे, तब हमारा क्या होगा?

अव्यक्त में से लावण्य पाने की कला ही तो मुक्ति है। गनीमत तो यह है कि सन्त के शरीर को किसी प्रकार भी उपभोग का विषय बनाना संभव नहीं, इसलिये ग़रीब बेचारा बच जाता है। लेकिन न जाने कितने लोगों की, सत्संगियों की, तथाकथित प्रेमियों और भक्तों की निःशब्द, मूक वासनाओं का शिकार उसे होना पड़ता है। जैसे कि अभी कह रही थी, उसकी शैली में, उसके निवेदन में, उसके काव्य में अटक जाते हैं, तो फिर शब्दों को दोहराने लगते हैं। जो प्राकृत हैं, वे उसके कपड़े-लत्ते, खाने-पीने, उठने-बैठने की नक़ल करने तक सन्तोष मान लेते हैं और

जो तथाकथित सुशिक्षित हैं; वे लोग फिर उसके विचार, उसके शब्द, उसकी जो अभिव्यक्ति-पद्धति है उसको पकड़ लेते हैं और दोहराने लगते हैं। उसके शब्द लेकर घर गये और मित्रों को सुनाने लगे।

लोग कहते हैं—"देखो, वह पहुँचा हुआ आदमी है।" कौन पहुँचा है, कौन नहीं पहुँचा है, इसकी परख करने वाले तो स्वयं पहले ही पहुँचे हुए होंगे न! जो सही सत्संग नहीं कर पाते वे फँस जाते हैं और उनमें से कोई शारीरिक सम्प्रदाय बनाता है तो तो कोई वैचारिक सम्प्रदाय बनाता है। सत्संग कोई कर नहीं पाता, यही दुःख है। इनको भी भेद कर, इनको भी पार कर के जाना होगा। सन्त के शरीर, हाड़-माँस, उसके विचार, उसकी बुद्धि—इन सबको चीरते हुए भीतर जाइये। उसमें अपमान नहीं, उसी में हमारा सम्मान है। चीरते हुए जब भीतर जाएँगे तब पाएँगे कि जहाँ से वह विचार उठता है, मन से परे जिस सघन शून्यता में उसका वास है, वहाँ आहत नाद नहीं, अनाहत नाद बज रहा है। ऐसा जीवन-संगीत जो आपके सप्त स्वरों में बाँधा नहीं जाता, ऐसा सौन्दर्य जिसकी परिभाषा मानवीय शब्दों में और भाषा में नहीं है, ऐसा प्रसाद जिसके रस की तुलना संसार के किसी भी रस से नहीं हो सकती, उसका जो मूल स्रोत है, वह है आनन्द। सुख, शान्ति और समतुलन के सम्मिश्रित सौरभ को आनन्द कहते हैं, वही स्वरूप है और उसी में रंग जाना सत्संग है। यह सीखना है; इसी का नाम साधना है।

[यहाँ आनन्द-सम्बन्धी उपनिषद्-वाक्य सुनाये गये, जो पहले पृ० १४५ पर उद्धृत हो चुके हैं।]

वह जो स्रोत है, आनन्द का, वही तो आपका स्वरूप है, वही मानव का स्वरूप है और उसमें रहते हुए मानवीय संबंधों का

निर्वाह कैसे करेंगे ? वहाँ प्रतिष्ठित होकर एक दूसरे के साथ कैसे रहेंगे ? तभी तो सहजीवन का मज़ा है। अभी सहजीवन है नहीं, अभी समाज नहीं, अभी सभ्यता नहीं, अभी संस्कृति नहीं। मानव का जन्म लेना बाकी है और मानव के जन्म में से जो मानवीय संबंध होंगे, जहाँ सुख, शान्ति और सन्तुलन के आधार पर समाज-रचना, अर्थ-रचना और राज्य-व्यवस्था होगी, वहाँ फिर मानवीय सभ्यता और मानवीय संस्कृति होगी। अभी तो हिन्दू संस्कृति, इस्लाम संस्कृति, क्रिश्चियन संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति—ये सब हैं। ये सब जो संस्कृतियाँ हैं, सभ्यताएँ हैं, इनमें जो सदंश है, वही बचने वाला है और जितने unessential, secondary, dross gross—अनावश्यक, गौण, कूड़ा-कचरा इत्यादि हैं, जितने ऊपर के छिलके हैं, वे सब छँट जाने वाले हैं। इस बात का आनन्द है कि छँटकर, जो सत्य है, वह रहेगा। पश्चिम की वैज्ञानिक प्रतिभा का सत्य रहेगा, पूरब की आन्तरिक खोज की प्रतिभा का सत्य रहेगा और इन दोनों के समन्वय से नव मानव का जन्म होगा।

यह सपना नहीं रख रही हूँ। भारत में चारों ओर गहन, गम्भीर अन्धकार है। उस अन्धकार में भी निराशा का स्पर्श पल भर के लिए इस चेतना को क्यों नहीं होता ? यह जब बार-बार खोजती हूँ तब पाती हूँ कि इस क्रान्ति के अवसर में उठने वाली आँधी और तूफ़ान मानव का जो चिरन्तन 'सत्यं, शिवं सुन्दरं' का स्वरूप है उसे नष्ट नहीं कर सकेगा, ऐसा प्रत्यय है। इसलिए निराशा छूती नहीं। ऐसे प्रत्यय का सौभाग्य आप सबको प्राप्त हो।

शिविर में आप लोग आये थे यह सोचकर कि जीवन की नवीन दृष्टि मिलेगी। मिली या न मिली, पता नहीं। लेकिन आपके

सत्संग में तीन दिन रहते हुए मुझे प्रसाद, शान्ति और दिव्यता की अनुभूति तीनों मिले। प्रार्थना में प्रवचन करती गई, क्योंकि मित्रों की इच्छा थी। ये प्रवचन जितने आप के लिए थे उतने ही मेरे लिये भी थे। इनमें जो कुछ कहा गया वह मेरा नहीं है। आपके और मेरे सान्निध्य में से जो विकसित हुआ वह न आपका है, न मेरा है। सहजीवन में से उठने वाली और उगने वाली ये चीजें होती हैं। प्रभु करे गुजरात के जिले-जिले में इस प्रकार का महिला शिविर हो। आप लोग इकट्ठे हों और सामाजिक संस्थाएँ चलाने में—पैसा इकट्ठा करो, मकान बनाओ, खाने-पीने की व्यवस्था करो, सरकार के नियम हैं, उनका पालन करो—इस चक्र में जो घूमना पड़ता है, उसमें से कभी-कभी बाहर निकल कर अंतरंग की जो शुद्ध हवा है, उसमें चलें। लोग हवा की खोज में बाहर जाएँगे; हम ताज़गी के लिये भीतर जाएँगे। लोग बाहर नदियों और सागरों की खोज में निकलेंगे। ऐसे मिलकर जब घूमने जाते हैं सागर के किनारे तो आपको मज़ा आता है न! अब गोता लगाना, न लगाना आपकी इच्छा पर निर्भर है। किनारे तक ले जाना शब्दों द्वारा संभव है। गोता लगाना हरेक की इच्छा का प्रश्न है।

———

: ३ :

स्थान—बम्बई

(अध्यात्म-जिज्ञासुओं का शिविर)

दिनांक १६, १७–३–६८

दिनांक १६–३–६८

अध्यात्म और धर्म इन दो शब्दों का इतना दुरुपयोग हो चुका है कि इनमें से किसी भी एक शब्द का उपयोग करने में मुझे संकोच होता है, झिझक होती है। हिन्दुस्तान में इस प्रकार के पहले ही शिविर में आई हूँ। यूरोप में गत ५–७ वर्षों से आध्यात्मिक शिविर होते हैं, प्रवचन होते हैं, चर्चाएँ चलती है, meditation camps (ध्यान-शिविर) चलते हैं। लेकिन इस देश में अब तक मैंने यह स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि यदि ऐसा शिविर चलाना हो, उसमें सहचिन्तन करना हो, अध्ययन करना हो तो जिस क्रांतिकारक वृत्ति की और दृष्टिकोण की आवश्यकता होगी, उस प्रकार को क्रांतिकारिता वृत्ति में, दृष्टि में और जीवन में लाने की तैयारी कितनी होगी यह सवाल मेरे मन में रहा।

भारत में अध्यात्म को दैनिक जीवन से स्वतंत्र समझा गया। यह दुर्भाग्य रहा कि भारतीय की नस-नस में, उसके कतरे-कतरे में, बूँद-बूँद में यह एक बहुत गंभीर भ्रम पड़ा हुआ है कि आध्यात्मिक जीवन अलग और व्यावहारिक जीवन अलग। एक को कहते हैं पारमार्थिक जीवन, दूसरे को कहते हैं भौतिक जीवन। यह जो द्विसत्तावाद है, यह भारत के मानस को और जीवन को खा गया है।

तो, पहली चीज़ यह कि हमारे खून में जो गहरा संस्कार पड़ा है, उसको पहचानना कि भिन्न-भिन्न सत्ता हम मानते हैं, दोनों को भिन्न-भिन्न मूल्य में स्वीकार करते हैं और इन दोनों मूल्यों के आधार पर एक ही दिन में दो मूल्य-मानों (sets of

values) पर चलते हैं, यानी कभी 'आध्यात्मिक' आधार पर चलते हैं और कभी 'भौतिक' पर। क्षमा करें, अविनय के लिये—लेकिन भारत में आज ऐसा व्यक्ति देखने में नहीं आता जिसका व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न (split personality) न हो।

ज़ाहिर है कि जब परमार्थ की सत्ता अलग मानेंगे, दोनों के लिये स्वतन्त्र मूल्यों की निमिति करेंगे और दोनों मूल्यों पर चलने की कोशिश करेंगे तो व्यवहार में असत्य का व्यवहार आसानी से करेंगे और धर्म में या आध्यात्मिक क्षेत्र में 'सत्यं वद, धर्मं चर' यह कह देंगे। कितना गम्भीर विरोधाभास है। कितनी गम्भीर बीमारी हमको छू गई है इसका भान तक हमको नहीं है।

अपनी लम्बी परम्परा ठहरी; ग्रन्थों का ढे. लगाएँ तो आसमान को छू जाएगा; आध्यात्मिक परिभाषाओं से छोटे-छोटे बच्चे भी परिचित हैं। तो इस संस्कार का निराकरण करने के लिये हम में से कितने तैय्यार हैं, यह सवाल होता है। और जब तक हम इस द्विसत्तावाद का निराकरण नहीं करेंगे, इस भ्रम का निराकरण नहीं करेंगे, तक तक शिविरों में जाइए, ध्यान-शिविरों में जाइये, कभी एक सन्त को, कभी दूसरे को सुनिये, मन्दिर जाइये, जप कीजिये, जो कुछ भी कीजिएगा, वह चेतना के ऊपरी स्तर का decoration (अलंकरण) रहेगा। वह आपके बौद्धिक और मानसिक जीवन का आभूषण मात्र बन जायेगा, वह शब्द, वह मूल्य। लेकिन अंतस्तल की चेतना को छू नहीं पायेगा, जीवन का जो गुणधर्म है उसको बदल नहीं पायेगा, आपकी जो चित्तवृत्तियाँ हैं उनमें कोई आमूलाग्र परिवर्तन ला नहीं पायेगा। इसलिये अध्यत्म एक साहस का काम है। और अध्यात्म नहीं है तो जीवन भी नहीं है। आध्यात्मिक जीवन अलग और भौतिक जीवन अलग ऐसा नहीं है। जीवन है तो अध्यात्म है, अध्यात्म

है तो जीवन है। और नहीं है तो we are vegetating (हम लोग वनस्पति सरीखे हैं)। फिर तो ठीक है, पशु है, पक्षी है, वनस्पति है, वैसे मनुष्य देह में हिलने-डुलनेवाली चेतना का ही एक रूप हममें भी है, उसमें और इसमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

तो पहली चीज़, जीवन की अविभाज्यता को, अखंडता को पहचानना। भौतिक और आध्यात्मिक ऐसे दो खंड जीवन के नहीं है। जिसको आप material life (भौतिक जीवन) कहते हैं, भौतिक जीवन जैसा कोई पदार्थ नहीं है। जिसको आप matter (जड़) कहते हैं, there is nothing like matter यानी जिसको आप 'जड़' कहेंगे, ऐसे जड़ पदार्थ कुछ नहीं हैं। जो कुछ है वह एक स्पंदन है। एक ऊर्जा का स्पंदन है, एक चित्शक्तिका स्पंदन है, जिसको आप vibrations (स्पंदन) कहते हैं, उनकी गति है। उनमें फ़र्क होगा, उनकी घनता में फ़र्क होगा, उनकी गहराई में फ़र्क होगा स्पंदनों की गतिविधि में फ़र्क है, लेकिन यह सारा विश्व एक स्पंदन-मात्र है, चिन्मयके सहज स्पंदन का नाम विश्व है। प्रयोग करके देखा तो जहाँ अणु को, परमाणु को तोड़ने गये, देखा गया कि ऊर्जा के सिवा और कुछ हाथ नहीं आया। छोटा ही लीजिये, परमाणु या बड़ा अणु लीजिये, लेकिन आप उसमें quantums of energy (ऊर्जा की प्रमात्राएँ) पायेंगे, और कुछ नहीं। तो यह जब वैज्ञानिकों ने देखा तो उनके ध्यान में बात आ गई कि matter (जड़) नाम की कोई चीज़ नहीं है। वह तो सिर्फ़ ऊर्जा के स्पंदन हैं, vibrations of energy हैं। जब मैं कहती हूँ कि जीवन में भौतिक नामकी कोई वस्तु नहीं है, जीवन में जड़ पदार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है, तब तात्पर्य यही है कि स्पंदन हैं, लपेटे गये हैं पत्थर के आकार में, पाषाण के आकार में कुछ लपेटे गये हैं, कुछ जल के कणों में, बिन्दुओं

में लपेटे हुए हैं, कुछ वृक्ष के पत्ते के रूप में लपेटे गये हैं, कुछ मानवदेहधारी के रूप में लपेटे गये हैं, लेकिन हैं सिर्फ स्पंदन। यह जो पहचानेगा वह जीवन को दो सत्ताओं में बाँटेगा नहीं। वे लोग जो दो सत्ताओं में बाँटते हैं, वे कुछ समय आध्यात्मिक काम के लिये और कुछ समय व्यवहार के लिये देते हैं। शरीर-यात्रा को चलाने के लिये पैसा कमाना यह हो गया भौतिक जीवन और मंदिर में या देरासर (जैन-मन्दिर) में जाकर बैठना, जप करना यह हो गया पारमार्थिक जीवन। जिस दिन ध्यान में आयेगा कि शरीर-यात्रा शव-यात्रा से भिन्न है, वह शिवयात्रा है और उस शिव-यात्रा के लिए जो धन कमाना है. जो पैसा कमाना है वह भी आध्यात्मिक कर्म है, वह भी उपासना कर्म है, और उसमें उतनी ही सावधानता की ज़रूरत है जितनी कि जप करने के लिये रखते हैं, तब देखियेगा कि घर में बैठे-बैठे जीवन कैसे बदल जाता है। तो पहली चीज़ यहाँ जो आप लोग आकर बैठे हैं, उनके सामने यह मैं रखूँ कि जीवन में यह एकता, एक अविभाज्यता है, उसको हम पहचानना सीख जायें, यह बड़ी बात है।

बहुत छोटी उम्र थी मेरी, ४-५ साल की रही होगी। तब मुझे इस अव्यक्त सृष्टि से बड़ा प्रेम था। पता नहीं क्यों ऐसा लगा करता कि व्यक्त सृष्टि, यह अव्यक्त सृष्टि की छाया है। इस व्यक्त सृष्टि की स्वतंत्र सत्ता है, ऐसा नहीं लगता था। ऐसा लगता था कि अव्यक्त में सत्ता है और यह तो प्रतिबिंब है, छाया है। अब समझ में आता है कि ये जो विविध आकार के, विविध प्रकार के पदार्थ हैं, वृक्ष हैं, वल्ली हैं, पत्ते हैं, फूल हैं, पाषाण हैं, नदियाँ है, पहाड़ियाँ हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, मनुष्य हैं, ये सब जो हैं ये भिन्न-भिन्न आकार में बहने वाले स्पंदनों का पुंज मात्र हैं। तो, इन दो सत्ताओं की भिन्नता, यह जो भ्रम है, इसको तोड़ने का जो साहस करेगा वह हमारे साथ आगे चले।

कबीरा खड़ा बजार में, लिये लुकाटी हाथ।
जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ॥

तो जो कोई घर है उसमें थोड़े ही दियासलाई लगानी है? नहीं। इस भ्रम को तोड़ना है। यह है घर फूंकना। तो द्विसत्तावाद को तोड़ दें। जीवन का जो बँटवारा करते हैं, वे watertight compartments (विच्छिन्न खण्ड) बनाते हैं। 'तो संसार के लिये करना ही पड़ता है, यह व्यवहार है, उसके लिये भी करना ही पड़ता है'। इतना व्यवहार में किया, तो चलो फिर सन्तों के पास हो आए। दुनिया भर में, हिन्दुस्तान में भी यही समस्या है। तो फिर compensation (क्षतिपूर्ति) हो जाती है कि इतना व्यवहार के लिये असत्य किया, इसका परिमार्जन इधर हो गया। ऐसे परिमार्जन होता नहीं है और न ही ऐसे चित्तवृत्ति शुद्ध होती है। चित्तवृत्ति की शुद्धि का मतलब है भ्रमों का निराकरण। भ्रमों का निराकरण ही चित्तशुद्धि है। और दूसरी शुद्धि कहाँ से लायेंगे? शुद्धता कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है जो बाहर से लानी है, उसके लिये कोई अलग उपासना नहीं करनी पड़ती है। To break the illusion is to the plunge into innocence—भ्रम को तोड़ना यानी निर्दोषता में छलाँग लगाना, कूद पड़ना। भ्रम-निराकरण ही शुद्धता है और निर्दोषता है। जो कल्मष है, जो कलुष है, जो मल है उसे तोड़ना धर्म है। अब इसको कौन तोड़ेगा? उसको दूसरा कोई व्यक्ति नहीं तोड़ सकता। मैं आप के लिये नहीं तोड़ सकती। यह दो सत्ताओं का भ्रम है, उसका निराकरण जो व्यक्ति है उसको ही अपने लिये करना होता है। दूसरा व्यक्ति उसके लिये नहीं कर सकता। चाहे जितना मां का प्रेम हो, बेटे को ही भोजन करना होगा और भोजन का पाचन करना होगा। तब तृप्ति मिलेगी, तब पुष्टि मिलेगी।

इस शिविर में यह एक चीज़ आपके सामने रख रही हूँ कि जब इन दो सत्ताओं का निराकरण हो जायेगा, तब यह भ्रम टूटेगा, तो हम कहाँ रहेंगे ? खड़े रहने के लिये कोई धरातल है ? आज तो लगता है कि मैं वेद पढ़ गया हूँ, मै उपनिषद् मानता हूँ. मैं भगवद्गीता जानता हूं, मैं आत्मशुद्धि-शास्त्र जानता हूँ, मैंने आगम पढ़े हैं, निगम देखे हैं, मैंने ज्ञानेश्वर पढ़ा है, मैं दयाराम जानता हूँ, मैं अखा को पढ़ गया हूं; यह हमारे मन में रहता है। हम मान लेते हैं कुछ। जहाँ यह दो सत्ताओं की भिन्नता का भ्रम टूटेगा और जीवन की अविभाज्यता के धरातल पर खड़े हो जायेंगे तो हम कहाँ रहेंगे ? हमारी वही अवस्था होगी जो पांच वर्ष के बालक की होगी। "मैं कुछ नहीं जानता हूं, मुझे सब कुछ सीखना है।" आज जो ग्रंथों से शब्द उधार लिये जाते हैं, आज जो संतों की वाणी से, विचारों की उधारी करके बैठे हैं और इस विचारों के संग्रह को ज्ञान कहा है, शब्दों की उधारी को विद्वत्ता कहा है, और संतों के जीवन में जो चमत्कारिता है उसका अपने मन में आरोपण करके उस पर अपनी कल्पनाओं का आरोपण करते हैं, कल्पना-शक्ति में हम बैठे हैं, यह सब चला जायेगा। उसमें उधार चलता नहीं। इसमें शब्दसंग्रह अथवा मित्रों में घटित चमत्कार हमको तुष्टि-पुष्टि नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार संगृहीत विचार, शब्द, कल्पनाएँ—सब जल जायेंगे। और चित् की नग्न-शून्यता में आप का प्रवेश होगा। और जो उधार का माल भर-भर के रखा है स्मृति के कोश में, जिसे मान बैठे हैं कि हमारी अनुभूति है, वह अनुभूति तो है नहीं, उधार है। गीता के १८ अध्याय कंठस्थ होने पर भी कोई ओज नहीं, कोई तेज नहीं। कहते हैं इतना जप किया, इतना तप किया ! उधार का धन्धा बंद करो। शब्द-संग्रह, विचार-संग्रह का लोभ है ; इसको छोड़ दें ; और

जो अब तक संचित है, इसको झड़ जाने दीजिये। फिर विशुद्ध शून्यता में खड़े हो जायेंगे।

जीवन की अविभाज्यता में, विशुद्ध शून्यता के धरातल पर जब खड़े हो जायेंगे, तब फिर आगे सवाल उठेगा कि अब कहाँ? अब किधर? अब कैसे? आज तो किधर, कैसे, कहाँ पूछने का अधिकार हमें प्राप्त नहीं है, क्योंकि हमारे पास निष्कर्ष हैं। हमारे पास दूसरों की अनुभूतियों पर आधारित निष्कर्ष हैं। दूसरों के उधार लिये हुये विचार हैं। तो, हमको तो blue-prints (ख़ाके) मालूम हैं कि साक्षात्कार होने पर ऐसा होता है, मुक्त पुरुष ऐसा होता है, स्थितप्रज्ञ होने पर ऐसा होता है, liberation (मुक्ति) का यह अर्थ है, यह सब भर के रखा है। Encyclopeadia (विश्वकोश) में इतना नहीं मिलेगा। हिन्दुस्तान के आदमी को पूछिये अध्यात्म के बारे में। वह एकदम बता देगा। बौद्धों का निर्वाण क्या है? वेदांतियों का साक्षित्व क्या है। जैनों का कैवल्य क्या है? श्रीमद् राजचन्द्र की निर्ग्रंथता क्या है? उसको व्याख्या पूछिये। धड़ल्ले के साथ निकलेंगे एक-एक बतलाने! और फिर वह समझता है कि, मैं जानता हूं। मैं कुछ नहीं जानता, मुझे कुछ भी मालूम नही हैं, इस अज्ञान के भान में निर्दोषता का जन्म होता है। उधार के व्यवहार को ज्ञान समझने वाले में अहंकार पुष्ट होता है। और अपने ही अज्ञान, अपने ही अभाव के परिचय में नम्रता का जन्म होता है। वह विनम्रता, उसको विनम्रता कहिये, आर्जव कहिये, उसको ऋजुता कहिये। चाहे जितने नाम दीजिये। भारतीय भाषा में उसके लिये अनेक-अनेक शब्द हैं। एक-एक शब्द की छटा है, अर्थ की। उसमें आज मैं जाना नहीं चाहती हूं। आज की संध्या में तो विषय-प्रवेश कराना है।

तो, द्विसत्तावाद के निराकरण के बाद अभाव और अपने अज्ञान का परिचय—उसका जीवंत प्रत्यय होना चाहिये। फिर छटपटाहट होती है। फिर होगी बेचैनी कि मैं कैसे सत्यको पहचानूँ? मैं कैसे जीवन का अर्थ जानूँ? हम जाते हैं—सत्संग में बैठते हैं। हमारी जिज्ञासा यह शब्दिक या बौद्धिक जिज्ञासा है। आज हमारी जिज्ञासा भी अहंकार की चेष्टा है। विशुद्ध जिज्ञासा है नहीं। क्योंकि मन में होता है कि यह कैसे होता है, ज़रा चलकर देखेंगे। इसका विचार क्या वेदांत से मिलता है, क्या गांधी से मिलता है? यह विचार 'थियोसोफ़िस्ट' से मिलता है? यानी परीक्षक बनकर निष्कर्ष सुनने को हम जाते हैं। भारतवर्ष में आध्यात्मिक परिभाषा का अतिपरिचय होनेके कारण परीक्षक ही हैं सब, साधक कोई नहीं। तीन दिन का जो अवसर आप मित्रोंने कृपापूर्वक मुझे दिया है—I am not going to spare a single person amongst you (मैं आप लोगों में से एक को भी बख्शूँगी नहीं)। मेरी और आपकी मैत्री की यह कसौटी है। मुझे जो कुछ कहना है—निःसंकोच कहूँगी। तभी आपके आतिथ्य के लिये मेरी कृतज्ञता व्यक्त होगी। इसमें मान-अपमान, इसका ख्याल आप मत रखियेगा, न मेरे पास वह था, न कभी रहेगा। लेकिन हम अपने-अपने जीवन की ओर तटस्थ होकर एक research scholar (शोध-छात्र) की तरह, वैज्ञानिक दृष्टि से देखना अगर सीख जायँ इन तीन दिनों में! कहाँ-कहाँ हम लोग किस प्रकार के मिथ्या व्यवसाय में पड़ते हैं। उससे हमारी क्या हानि होती है, इसको भी हम पहचानने लगेंगे तो तीन दिन में एक बहुत बड़ा कदम हमने उठाया।

यह जो दंभ और पाखंड भारतवर्ष में है उसे तोड़फोड़ कर फेंक देना चाहती हूँ। अध्यात्म और धर्म के नाम पर इस पाखंड

से देश का बहुत नुकसान हुआ है। व्यक्तियों के जीवन का विनाश तो है ही, और ऐसी गंभीर बेला में, जब कि संसार में या तो विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा, या तो मानव का सर्वनाश होगा, इतनी गंभीर बेला में खुशामद में और 'अहो रूपम्-अहो ध्वनिः' में समय गँवाना! इसलिये कहती हूँ कि अध्यात्म के बारे में हम कुछ नहीं जानते हैं। अरविंद का ग्रंथ पढ़ा, रमण महर्षि का ग्रंथ पढ़ा 'त्रिपुरासुन्दरी-रहस्य' पढ़ा, 'डिक्शनरी' में, शब्द-कोष में उसका अर्थ देख लिया और प्रतीत हो गया कि मैं जान गया। यह जानना नहीं, यह जीवन का अर्थ समझना नहीं। शब्द के अर्थ का एक गर्भगृह होता है। शब्द का कलेवर है, मात्राओं से बना हुआ। उसके गर्भ-गृह में अर्थ है। उसके द्वार खोलकर भीतर जाना पड़ता है। और वह जो अर्थ का आलोक है, उस आलोक में खड़े होना पड़ता है। एक-एक शब्द के लिये यही करना होगा। "अमंत्रम् अक्षरं नास्ति।" कोई अक्षर नहीं जिससे मंत्र की सिद्धि न हो, जिस में मंत्रशक्ति न हो, और फिर भी शब्दमय व्यवहार करनेवाले हम, निस्तेज, निष्प्राण रह जाते हैं। क्योंकि शब्दों पर हम तैरते हैं, शब्दों के भीतर जाकर अर्थ का आलोक उपलब्ध नहीं करते हैं। तो यह अभाव का परिचय, अपने अज्ञान का परिचय— यह है दूसरा कदम। प्रारंभ करने से पहले, यानी साधकावस्था के पहले की बात कर रही हूँ, किस धरातल पर खड़े होना है, तो इस धरातल की सिर्फ मीमांसा कर रही हूँ। यह है धरातल। मालूम नहीं है कुछ। तो फिर कौन साक्षात्कारी है, कौन नहीं है, कौन पहुँचा हुआ है, कौन पहुँचा हुआ नहीं है। यह सारी जो अभद्र भाषा है, उसका व्यवहार चलता है। पूछते हैं न? आप लोग भी जाते होंगे सत्संग में, सभाओं में। फिर लौटकर एक दूसरे से पूछते हैं "क्यों भाई? वह अमुक व्यक्ति पहुँचा हुआ है कि नहीं?" अच्छा, इसका मतलब है कि आप ऐसी अवस्था में जाकर

खड़े हैं कि देखते हैं कि कौन पहुँचा हुआ है, कौन पहुँचा हुआ नहीं है। कितना घोर अहंकार!

तो, विनम्रता के या शून्यता के धरातल पर जब खड़े होते हैं, तो अहंकार को इधर से उधर रत्ती भी क़दम उठाने का अवकाश नहीं मिलता। विनम्रता में एक अद्भुत शक्ति है। "मैं कुछ नहीं जानता, मुझे मालूम नहीं है, मेरी कोई अनुभूति नहीं है।" यह जिसने पहचान लिया उसके सर्वांग से जो विनम्रता झरने लगती है, उसकी वाणी में, दृष्टि में, विद्यार्थी की जो नम्रता की झलक उठती है, that is a dimension of life—वह एक जीवन का आयाम है। वह रिक्तता है। और उस रिक्तता के ऐश्वर्य का जिन्होंने अनुभव नहीं किया वे साधना कभी 'नहीं कर पायेंगे। जिसने बुद्धि और स्मृतिको ठूंस-ठूंस कर भर दिया वह क्या साधना करेगा? वह क्या ध्यान करेगा?

तो अभाव के अपने अज्ञान के परिचय में और जीवन्त प्रत्यय में एक प्रकार की अद्भुत शून्यता की अनुभूति आती है कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। "मैं क्या करूँगा, मैं कहाँ जाऊँगा", एक अव्वल शून्यता, अव्वल रिक्तता। बच्चों में वह स्वाभाविक है। चार या पाँच साल का बच्चा हो, वह पूछता है यह क्या है? इंद्रधनुष के रंगों को वह जानना चाहता है। समुद्र की लहरों के ऊपर उठने वाली फेन को वह पहचानना चाहता है। वैसे फिर हमारी वृत्ति होगी कि जीवन का यह जो क्षण है, यह क्षण यह घटना मेरे सामने लाया, उसका क्या अर्थ है; यह व्यक्ति मेरे सामने आया, इस नज़र से मुझे देख गया इसका क्या अर्थ है? फिर जीवन का प्रत्येक क्षण अपनी मुट्ठी में बाँधकर चिरंतन सत्यका जो संदेश लेकर आता है, वह खोलकर देखने की इच्छा, वह जिज्ञासा है। उस शून्यता में उस जिज्ञासा

का जन्म होता है। "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा"। वह जो विनम्र जिज्ञासा है, अंग्रेज़ी में जिसको आप लोग enquiry of humility—कहेंगे. विनम्रता के बिना जिज्ञासा नहीं। तो फिर जीवन में प्रति क्षण, प्रति व्यक्ति, प्रति घटना का जो अर्थ है उसको खोल-खोलकर देखने की इच्छा होगी। आज तो हम ऐसे बधिर हो गये हैं, ऐसी बधिर वित्तवृत्तियाँ, बधिर बुद्धि हो गई है, कि २४ घण्टे में प्रभु घटनाओं की एक संपत्ति और ऐश्वर्य हमारे सामने फेंकता जाता है, घटनाएँ घटती जाती हैं, व्यक्ति आते हैं, गुज़रते हैं सामने से, बोलते हैं, हमसे कोई रूठता है, कोई नाराज़ होता है, कोई आलोचना, कोई प्रशंसा करता है, लेकिन उसमें से हम कुछ सीख नहीं पाते। न उसमें से कोई आनन्द का सेवन कर पाते हैं। आनंद का सेवन—जो हमारा मूल स्वरूप है।

स्पंद-विज्ञान—science of vibrations आजकल nuclear physics (आणविक भौतिकी) के लोग उस तरफ़ मुड़े हैं—Science and metaphysics of vibrations—स्पंद-विज्ञान। इस देश में तंत्र-शास्त्र में वह हम पायेंगे। तो वह जो स्पंद-विज्ञान है, उसमें कहते हैं कि आख़िर आनंद की अनुभूति में ही, वह जो स्पंदन या vibration हैं, उसकी अनुभूति में ही रस मिलता है। मैंने कहा आनंद का सेवन हम कर नहीं पाते, दैनिक जीवन में। क्योंकि घटनाएँ घटती हैं, क्षण चिरंतन सत्य के संदेश लाता चला जाता है, खोल कर उसको देख नहीं पाते। क्योंकि हम समझते हैं कि हमको तो सब मालूम है। यह व्यक्ति कैसा है, इसने यह क्यों कहा, यह हम जानते हैं। हम सब कुछ जान बैठे हैं। कौन भला है, कौन बुरा है। किसके मनमें क्या हेतु है, सभी कुछ, हमको भ्रम है कि, हम जानते हैं। उससे दैनिक जीवन से हमें समृद्धता प्राप्त नहीं होती। एक दिन

और गया। न दिन हमें ताज़गी दे जाता है, न रात हमें ताज़गी देती हैं। न मानवों का संपर्क हमें कोई सौरभ, भीतर कोई ताज़गी देता है। कुछ नहीं होता। ऐसे-के-ऐसे थके-मांदे सोते हैं, थके-मांदे उठते हैं। जीवन की ज़बरदस्ती है; इसलिये कमाना है, दफ्तर चले जाते हैं, नौकरी पर चले जाते हैं। काम करना है, इसलिये करते हैं। (the drudgery of routine is dragging us, dragging us; the moment will come and the body will fall away and you will call it death.) ऐसा दैनिक जीवन हमारा शहरों में, देहातों में हो गया है। मृत्यु की प्रतीक्षा करते रहने को कोई जीवन नहीं कहते। और यांत्रिक क्रियाओं को सुबह से रात तक करते रहना कोई जीवन नहीं है। और स्मृति में जो संचित शब्द, विचार हैं उनको प्रतिक्रिया के रूप में फेंकने को कोई कर्म नहीं कहते। इसलिये हम जी नहीं पाते, मेरे भाइयो, हम जी नहीं पाते। शवयात्रा शिवयात्रा नहीं बन पाती। जीवन आनन्द का कल्लोल बन नहीं पाता।

तो, यह नम्रता में से जिज्ञासा का जन्म भीतर होने दीजिये। जिज्ञासा की प्रसव-वेदना बड़ी भयानक होती है। उदाहरण से जल्दी समझ में बात आती है। आजकल के ज़माने में विवेकानंद का, रामतीर्थ का उदाहरण परिचित है। सोलह साल की उमर नहीं हुई तो पूछते घूमते थे वे नोरेन (नरेन्द्रदत्त) 'मोशाय, (महाशय !) आपने देव को, भगवान् को देखा है?' फिर वह देवेन्द्रनाथ टैगोर हैं तो चले उनकी नौका पर। 'हाउसबोट' में हैं तो चढ़े वहाँ। छलाँग लगाई गंगा में और जाकर सामने खड़े हो गये। भींगा हुआ बदन है—बालों से पानी झर रहा है। पूछते हैं—"मोशाय आपने प्रभु को देखा है?" जवाब नहीं दे पाये वे। उस बच्चे को ही पूछने लगे—"ओहो—तू कौन है?

तेरी आँखें योगी जैसी हैं।" यह तो समझ गये कि उन्होंने कुछ नहीं देखा। फिर छलाँग लगाई, आये वापस। दक्षिणेश्वर पहुँचे, तो रामकृष्ण को पूछते हैं—"भगवान् देखा है? दिखा सकते हैं?" वह बेचैनी, जिज्ञासा का आशय है। The content of enquiry is divine discontent—जिज्ञासा का आशय है एक दिव्य असंतोष कि कहीं धन छिपा हुआ है, मुझे मिलता नहीं। जीवन का अर्थ छिपा है मेरे सामने। लेकिन मुझे मिलता नहीं। कैसे पहचानूँ? तो फिर खायेंगे, पियेंगे, सोयेंगे। लेकिन वह जो निदिध्यास है वह जीवन में चलता रहेगा। उसको कैसे जानूँगा? पहचानूँगा? बच्चे को अखरोट का फल दीजिये तो वह नहीं फोड़ सकेगा, दरवाज़े में रखेगा, पत्थर लाएगा। बादाम दीजिए। उसके छिलके को तोड़ने के लिए बच्चा कितना विकल होता है। तो ये जीवन में जितने छिलके हैं—उनको तोड़ने-फोड़ने के लिए विकलता, आकुलता आती है, वह है जिज्ञासा। 'चाहे जो कीमत चुकाऊँगा। लेकिन सत्य को पहचानूँगा। चारों तरफ़ मैं अपूर्णता से घिरा हुआ हूँ। वह पूर्णता कहाँ छिपी हुई है, मैं देखकर रहूँगा। पूर्णता के सागर में डुबकी और गोता लगाकर रहूँगा।' यह जिज्ञासा की अग्नि, प्रज्वलित होने पर, जीवन में बड़ी धाँधली मचा देती है। फिर स्वजन स्वजन नहीं रहते। परजन परजन नहीं रहते। फिर अपना-पराया भेद मिट जाता है। दुनिया में चारों तरफ़ आँखें खोजती हैं—कैसे पहचानूं? कैसे जानूं? सीखूँ? सीखने के लिए तैयार रहता है। भले-बुरे की, पाप-पुण्य की, नीति-अनीति की रेखाएँ घुल जाती हैं। जिज्ञासा की दुनिया बड़ी 'रोमांटिक' (रूमानी) है जी। बड़ी रोमहर्षक, बहुत मधुर, बहुत मनोहर। उस जिज्ञासा की अग्नि, उसकी ज्योति एक बार जल उठी—वह है धर्म का प्रारम्भ।

अब आ गया ऐसा मनुष्य, जिसको जिज्ञासा का वरदान उपलब्ध हुआ। फिर उसके धर्मजीवन का, अध्यात्म-जीवन का प्रारंभ हुआ। तब तक प्रारंभ नहीं।

स्वायत्त जिज्ञासा चाहिए। कहा है—मनुष्य के जीवन का साध्य है आत्मसाक्षात्कार। इसके लिए मैं भी आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करना चाहता हूँ। यह हो गई derived (उधार) जिज्ञासा। Inferred (अनुमान-जन्य) जिज्ञासा! उधार जिज्ञासा! यह बुरी बात नहीं है। लेकिन यह हमको साधक की भूमिका तक ले नहीं जाती। यह बौद्धिक जिज्ञासा की उलझन में, शब्दों के जाल में अटकाये रखती है। अच्छा है, कुविचार से सुविचार अच्छा। कदाचार से सदाचार अच्छा। लेकिन वह जो सापेक्ष अच्छाई है—वह निरपेक्ष धर्माचरण तक नहीं ले जाती। अध्यात्म के महाद्वार तक नहीं ले जाती। इसलिए मैंने कहा कि स्वायत्त जिज्ञासा का जन्म होना चाहिये। सच बताइए, हमको और आपको क्या पड़ी है? यह जो संतों के जीवन में उन्मुक्त आनंद हैं—स्त्री-पुरुष के भेदातीत जो विशुद्ध मानवता है, और मानव के छिलके के भीतर छिपी हुई जो चिन्मय सृष्टि है, उसमें जाने की हमको क्या पड़ी है? मान लीजिए कि नहीं जायेंगे तो हमारा कोई नुकसान है उसमें? नौकरी है, व्यापार है, घर-गृहस्थी है। मोटर है, बँगला है। यह सब करके यदि समय मिला तो जायेंगे उसमें। सिनेमा थियेटर में बैठते हैं, तो बैठेंगे सत्संग में। It becomes an emotional and intellectual pastime. (सत्संग तो भावनात्मक और बौद्धिक 'जीबहलाव' बन कर रह जाता है)। अध्यात्म के रास्ते जाना ही नहीं चाहिये। अपने लोगों को मैं कहती हूँ—भले, जाना ही नहीं उस रास्ते से। जाओगे तो पता नहीं हमारे जीवन के साथ वह क्या-क्या करेगा? आपके जीवन

के जो सारे मूल्यांकन हैं, total evaluation of life—उसको उथल-पुथल कर रख देगा। इसलिये जाओ ही नहीं उसमें। यदि जाओगे तब तो आज जिस धरातल पर खड़े हैं, वह पाँव के नीचे से खिसक जायेगा। आज जहाँ भेद हैं वहाँ भेद नहीं रहेंगे। जहाँ नहीं हैं, वहाँ खड़े होंगे। क्या-क्या होगा? इसलिए यह जो स्वायत्त जिज्ञासा की अग्निशिखा है, उसका जन्म होने से पहले सावधान रहिये और ऐसे शिविरों में कभी न जाइये। ऐसे शिविरों में जाना और विद्रोह की वाणी सुनना भी अपने जीवन के साथ खेल करना है। या तो उसमें से पाखंड आयेगा कि हम आध्यात्मिक हैं और दूसरे जो जाते नहीं हैं वे आध्यात्मिक नहीं हैं; या तो उसमें से शब्द-बाण, शब्द-तीर लग गया तो आपके जीवन को उलटकर रख देगा। 'उलट भई मोरे नैनन की।' इसमें से कुछ एक होगा और दोनों तरफ़ खतरा है। इसलिए मैं आपको कल या परसों इस विषय में आगे बढ़ने के पहले ही सावधान कर देती हूँ।

लेकिन यदि जीवन के अर्थ को जानना ही है, सत्य को पहचानना ही है, वह प्रभु कैसा है? वह जो प्रेम-स्वरूप प्रभु है, वह प्रेम क्या है? इसको पहचानना है, तब तक जीने में मज़ा नहीं आता, ऐसी लगन लग पाये, ऐसी बेचैनी लग जाये, तब फिर आगे स्वाध्याय के, ध्यान के, साधना के—जो भी आप क्रम कहिये, उसके अधिकारी हम बन जाते हैं। पहले कहते थे न लोग कि अनधिकारी को नहीं कहेंगे। यानी अधिकार क्या है? Receptivity—ग्रहणशक्ति को अधिकार कहा है। संवेदनशीलता और जिज्ञासा की जिसकी तैयारी हो वह अधिकारी है और जिसको जिज्ञासा नहीं है वह अनधिकारी है; और दूसरी कोई बात नहीं। अधिकारी-अनधिकारी शब्दों के साथ अलग-अलग भाव

लगा रखे हैं लोगों ने और उसका एक आडंबर बनाया है। लेकिन यह जिज्ञासा ही अध्यात्म में अधिकार है। दूसरे किसी अधिकार की आवश्यकता नहीं। एक ही अधिकार, यानी पात्रता। 'अधिकार' का यदि निरुक्त देखने जाएँगे तो उसमें अर्थित्व ही अधिकार है। "अर्थित्वम् अधिकारः"। यानी आपको प्राप्त करने की इच्छा है। जैसे 'विद्यार्थी' है न—"विद्या एव अर्थो यस्य स विद्यार्थी।" यानी विद्यार्थी वह है जिसे विद्या प्राप्त करने की ही इच्छा है। "सत्यमेव अर्थो यस्य स साधकः।" व्याख्या ही करनी पड़ी तो सत्य ही जिसका अर्थ है—'अर्थित्व' जिसको प्राप्त हो गया है, सत्य के लिए—वह हो गया साधना का अधिकारी। अब साधना क्या है? साधना का प्रारंभ, जहाँ हम हैं वहाँ, दैनिक जीवन चालू रखते हुए कैसे हो सकता है? इसमें कोई अपनी मदद कर सकता है या नहीं? मार्गदर्शक की आवश्यकता इसमें है? है, तो कहाँ तक है? किस प्रकार का मार्गदर्शन, कोई भी मार्गदर्शक कर सकता है? ऐसे कौन से पथ हैं जहाँ कोई मार्गदर्शक काम नहीं आता? इन सबकी चर्चा हमको कल छेड़नी है। लेकिन जिज्ञासा तक आज आपको पहुँचा देना था।

भाई, अध्यात्म खेल नहीं है। आजकल उसको बुद्धिजीवियों ने, संपन्न वर्गों ने—भारतवर्ष में ही नहीं, दूसरी जगहों में भी एक शौक़ का विषय बना लिया है, एक 'हॉबी' बना लिया है। तो ऐसा नहीं है। यह तो ऐसा व्यसन है कि—

व्यसनानि सन्ति बहूनि, व्यसनद्वयं केवलं व्यसनम्।
व्यसनं विद्याभ्यसनं, व्यसनं वा हरिपादसेवनम्॥

दो ही व्यसन हैं। फिर उससे किसी का उद्धार नहीं हो सकता। इस प्रकार का व्यसन लग जाये, आत्मसाक्षात्कार,

आत्म-रति, आत्मरत जीवन, उसका चसका लग जाय तो वहाँ से लौटना मुश्किल हो जाता है। फिर 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' क्योंकि जिज्ञासा का अपना momentum होता है, अपनी गति होती है, यह आप को ले चलती है। आप को आगे ही आगे ले चलती है। सदियों के संस्कार जीवंत जिज्ञासा के सामने ठहरते नहीं हैं। इसीलिये कहा है—'अपि चेत् सुदुराचारो'। उसमें दुराचारी भी रहे। एक बार जिज्ञासा की ज्योति जल उठी, तो शतकानुशतकों के संस्कार, भले बुरे, सब उसमें जल जायेंगे। और उसी के आलोक में फिर चेतना आगे बढ़ती चली जायेगी।

आप के सामने मैंने तीन मुद्दे रखे। एक जीवन में भौतिक और पारमार्थिक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक ऐसी भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। जिन्होंने भिन्न सत्ताओं की कल्पना की, जो भिन्न सत्ताओं की कल्पना करते हैं, वे दुःख के बीज बोते हैं। और अपने व्यक्तित्व में संघर्ष के बीज बोते हैं। जीवन एक है, अविभाज्य है। उसमें शरीर है तो शारीरिक जीवन है। मन है तो मानसिक जीवन है और जीवन को watertight compartments (जलरोधक कक्षों) में बाँट देना कि यह व्यावहारिक है, यह पारमार्थिक है, इसके लिये यह नियम, उसके लिये वह नियम, इन दो नियमों में संगति रहे न रहे, हमें कोई परवाह नहीं—, तो सत्ताओं की भिन्नता की कल्पना करना, भ्रम रखना ही दुःख और संघर्ष के बीज बोना है, तनाव के बीज बोना है। इस भ्रम का निराकरण पहले करें।

यह निराकरण करने के बाद जो प्रचलित धर्मग्रंथ हैं उनसे या संतों से, ऋषियों से, मुनियों से जो सुना है—यह शब्द का और विचारों का उधार, वह संग्रह, वह संचय का मोह छोड़ दें। धन

का मोह छोड़ना आसान है, भाईयो ! विचारों का मोह छोड़ना बहुत मुश्किल है। धन के संग्रह का त्याग करके एक रात में उसे ठोकर लगा कर आदमी निकल जायेगा। कइयों ने ऐसा किया है। वह चाहे आगे चलकर भगवान् गौतम बुद्ध हों, चाहे आगे चल कर मुनि नेमिनाथ बनें या और कुछ बने हों। धन के संग्रह को ठोकर मारना आसान है। अपनी संस्कार-राशि और विचार-राशि जो इकट्ठी करके रखी है, उसका ममत्व छूटना बड़ा मुश्किल है। वह तो कर्ण के कवच-कुंडल जैसे हैं; जो निकलना मुश्किल है। उस संस्कार-राशि का तो हमारा सूक्ष्म शरीर बना हुआ है। और वह जो विचारों की राशि है, वही तो हमारी सूक्ष्म काया है। आप ने शायद देखा होगा अभी-अभी अमेरिकन डॉक्टरों ने किताब लिखी है कि यह जो स्थूल शरीर है, हाड़-मांस का, उसके भीतर एक 'ईथर' की 'बॉडी' (सूक्ष्म काया) मनुष्य के भीतर रहती है, ऐसा वैज्ञानिक शोध हुआ है। मनुष्य का जो शरीर है, उसके भीतर उसकी एक सूक्ष्म काया है। तो उनको पता चला था अब तक कि एक thought body है, यानी एक विचारकाया है। लेकिन अब वे कहते हैं कि यह विचार से भी सूक्ष्म है। उसको उन्होंने ether (ईथर) नाम दिया है। तो यह जो (ईथर) का शरीर है वह मरता नहीं है। ऐसा शोध एक physicist (वैज्ञानिक) को अभी हाथ लगा है। उसकी तफ़सील में नहीं जाऊंगी लेकिन किताब बड़ी रोचक, पढ़ने लायक है। और वह कहता है, आखिर में, उपसंहार में कि शायद पूर्व में लोग जो कहते हैं हज़ारों बर्षों से कि यह देह मरता है, फिर भी हम नहीं मरते। तो हो सकता है कि शरीरों के भीतर ad infinitum (अनन्त) शरीर होंगे—हमको उसका पता नहीं, यह हो सकता है। ऐसे एक वाक्य में उन्होंने उपसंहार किया है। तो मैं कह रही थी की विचार-राशि का और संस्कार-राशि का त्याग करना

या उसका ममत्व छूटना बड़ा मुश्किल है। 'येन त्यजसि तत् त्यज।' धन छोड़ना आसान है। उससे अहंकार पुष्ट होता है कि मैंने धन छोड़ दिया। मैंने स्त्री का त्याग किया, मैंने पुत्रों को छोड़ दिया। मैंने संस्था का त्याग किया। करनेवाला मैं तो बचता ही है न! और उसी मैं के भीतर जो संग्रह करके रखे हैं, संस्कार, विचार, उन पर अहंकार पलता है। अहंकार की पुष्टि के लिये कुछ न कुछ चाहिये। घर गया, द्वार गया, पत्नी-पुत्र गया, प्रतिष्ठा गयी। कम से कम विचार तो मेरे हैं। इसी सूक्ष्म अहंकार में से भारत में आध्यात्मिक संप्रदाय बने। संन्यासियों को संप्रदाय बनाने की नहीं तो क्या जरूरत थी? लेकिन स्थूल त्याग के बाद यह जो सूक्ष्म शरीर है, उसमें जो केन्द्र बना कर बैठे हुए, हैं, उसका ममत्व नहीं छूटता। ये उधार लिये हुए विचार, अनुभूतियों के वर्णनपरक शब्द, ये शास्त्र-संग्रह जो हैं इनको पहचानकर, उनको झरने दीजिये। तब विनम्रता का जन्म होगा। विनम्रता में शून्यता का आलोक है। उस शून्यता के आलोक में जिज्ञासा की ज्योतिशिखा आप को दिखती है। और वह फिर मनुष्य को किस प्रकार आगे ले जाती है इतना विषय आज मैंने रखा।

————

दिनांक १७-३-६८

साधना शब्दका भी इस देश में इतना दुरुपयोग हुआ, इतनी निर्घृणता के साथ शब्दों का हम उपयोग करते हैं कि शब्दों के चेहरे देखने की कोमल संवेदनशीलता हममें अगर होती तो हरेक शब्द के आंसू हमें दिखाई पड़ते।

सच चीज़ जानने की स्वायत्त जिज्ञासा, जीवन का अर्थ समझने की, जीवन की सही जिज्ञासा जब जाग उठती है, तो मनुष्य प्रारंभ कहाँ से करे ? शुरू करे अपने शरीर से। मैंने कल कहा था कि संसार, जिसको आप जड़ कहेंगे, केवल पार्थिव कहेंगे, ऐसा कुछ भी नहीं है। एकाध मिट्टी का कन लेंगे तो वह भी चिन्मय है, चेतनामय है; यह आप का शरीर चेतनामय है। तो, स्पन्द का परिचय पाने के लिए शुरुआत अपने शरीर से करें कि हमारा अपने शरीर से परिचय है या नहीं। सत्य का परिचय पाने के लिये शुरुआत अपने शरीर से करें कि हमारा शरीर पार्थिव है या नहीं। निकट है, तो हमारा शरीर सबसे अधिक निकट है और फिर कितने व्यक्ति हम में से होंगे जिनको अपने शरीर से परिचय और मैत्री है, हृदय में इसका स्वीकार जिन्होंने किया हैं। शरीर का स्वरूप क्या है, यह जानने वाले कितने होंगे ? यह जो physical organisation शारीरिक संघटन है, किन cells (कोशाणुओं) से बना होगा ? एक में से अनेक 'सेल्स' कैसे बनते हैं muscles (माँसपेशियां) कैसे बनती हैं, nervous system (ज्ञानतन्तु-व्यवस्था) क्या है, यह सब कुछ भी जानते नहीं।

इस शरीर में रहते हैं, लेकिन उसे जानते नहीं। उसकी क्या कार्य-प्रणाली है, कौनसा function (व्यापार) है यह भी नहीं जानते। न सामान्य-जन जानते हैं, न डॉक्टर जानते हैं।

यह जो अद्भुत रचना है मनुष्य के शरीर की—biological evolution, consummation of biological evolution is the creation of a human body (प्राणिगत विकास का चरम उत्कर्ष मनुष्य-शरीर की रचना में है।) ऐसा यह सुंदर शरीर है। लेकिन हम जानते नहीं। इससे प्रारंभ करें; यह है क्या? और देखें कि मेरी glandular system, nervous system (ग्रन्थियों की और ज्ञानतन्तुओं की व्यवस्था) आरोग्यमय है? इसमें सौष्ठव है? इसमें सौन्दर्य है? जो पचन की क्रिया है, वह ठीक चलती है? निद्रा क्या है? किस प्रकार लगती है? अन्न खाते हैं तो आहार का संबंध किस प्रकार शरीर से है, कोई नहीं जानता। लोग इसको भौतिक जीवन कहते हैं। मैं कहती हूँ आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ ही वहाँ से है; साधना का प्रारंभ वहाँ से है। शरीर के प्रति उदासीनता क्या है? शरीर का अस्वीकार है। शरीर का परिचय न हो तो साधना का प्रारंभ नहीं होता। इसलिये आप इस देश में देखेंगे कि आध्यात्मिक अनुभूति-संपन्न व्यक्ति जो कहलाते हैं, उनके शरीर की हालत देखिये; स्वस्थ, सौष्ठवपूर्ण सुंदर शरीर है, ऐसा नहीं है। या तो भोगासक्त हों, या तो अनासक्त हों। मेरी दृष्टि से आसक्ति और अनासक्ति दोनों ही दोष हैं। एक में शरीर की तरफ़ भोगासक्त दृष्टि है और दूसरी तरफ़ जिसे अनासक्ति कहते हैं वह शरीर के प्रति अस्वीकार और उदासीनता है। और शरीर के प्रति आसक्ति और वैराग्य दोनों में एक तरफ़ से भोगासक्ति, दूसरी तरफ़ अनासक्ति है। दोनों के बीच भारतवर्ष का जीवन, आध्यात्मिक और धार्मिक

जीवन चलता है। और यह शरीर का अपमान है। या तो उसके प्रति अनुदारता करते हैं, उपेक्षा करते हैं; चाहे वह साधु हो या संन्यासी, उसकी उपेक्षा करते हैं और भोगासक्त व्यक्ति उतना ही अपमान करता है जितना कि वैराग्य के नाम पर कोई साधु संन्यासी करता है। तो राग और विराग—ये दोनों दो छोर हैं अंतिम, इनके बीच जो मध्यस्थ बिन्दु है, वैज्ञानिक तटस्थता का जो बिन्दु है, वह साधना का प्रारंभ है। इसलिये आप को अपने शरीर से दोस्ती करनी चाहिये, दुश्मनी नहीं। ये शरीर की इंद्रियाँ, ये शरीर के अवयव, उनकी आवश्यकताएँ, उनकी वैज्ञानिक पूर्ति, जीवन के सौन्दर्य का प्रारंभ तो वहाँ होता है। और उसको किस प्रकार का आहार देंगे, किस प्रकार की व्यायाम-पद्धति से उस शरीर के नस-नसको हम संवेदनशील रखेंगे, चपल रखेंगे, जिस समय जिससे काम लेना होगा उससे काम ले सकेंगे। The beginning of self-knowledge is from the acquaintance and freindship with your own body आत्मज्ञान का प्रारम्भ शरीर के साथ परिचय से होता है। और यह जब तक नहीं होता है, तब तक सही शुरुआत नहीं, क्योंकि उसी शरीर में बैठना, उसी के साथ रहना, लेकिन परिचय के अभाव में, मैत्री के अभाव में उसके साथ एक 'हार्मनी' (संवादिता) हो नहीं पाती। या तो थका हुआ शरीर या जिसमें बहुत tension है, तनाव है ऐसा शरीर, जिसमें पाचन शक्ति काम नहीं करती है; इसलिये शरीर में भारीपन लगता है। आप हम देख लेंगे अपने ही घर में, अपने ही व्यवहार में। घर जाकर ज़रा सोच लें कि मेरा शरीर चौबीस घंटे में किस हालत में रहता है। एक खिले हुए गुलाब के फूल जैसा उसमें ताज़ापन है– ताज़गी है? जब चाहे जिस अवयव से जैसा काम चाहें वैसा ले सकते हैं? कोई यदि मोटर चलाने के लिये बैठेगा और फिर मुझसे कहेगा कि इसका 'ब्रेक'

काम नहीं करता, 'गिअर जाम' हो गया है। तो उससे मैं कहूँगी कि भले आदमी पहले क्यों नहीं देखा। तो जो जीना चाहते हैं उन्हें अपना वाहन जो है शरीर, उसे पूरा कार्यक्षम रखना (to keep in order) चाहिये, यही धर्म है।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

तो धर्म यानी हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, क्रिश्चियन धर्म नहीं। 'धारणात् धर्म इत्याहुः'। यह धारण जिन नियमों से होता है, वही धर्मका तत्त्व है।

साधना का प्रारंभ शरीर से करें। यह इस देश में कहने की बहुत आवश्यकता है और यह हम लोग करते नहीं। शरीर की आवश्यकता की पूर्ति के लिये अनुरक्तता या विरक्तता रखते हैं। इसलिये जब ध्यान करने बैठेंगे, आत्मचिंतन करने बैठेंगे तो शरीर साथ नहीं देता। मेरुदण्ड है, इसका महत्त्व का स्थान है। इसे इतना महत्त्व क्यों दिया गया? यह जो हमारी श्वास और प्रश्वास की क्रिया है, यह श्वास उठता कैसे है, कहां जाता है? श्वासोच्छ्वास की क्रिया जिन प्राणों के आघात से चलती है वह प्राणतत्त्व क्या है? निद्रा आती है। यानी होता क्या है? विचार उठता है, कहां से उठता है, विकार उठता है, कहां से उठता है? मैं समझती हूँ कि आपके सामने, आप जो यहां पर सुशिक्षित भाई बहनें बैठी हैं, इससे अधिक विस्तार में इस विषय में जाने की मुझे ज़रूरत नहीं है। आपका, जिस प्रक्रिया से अनुकूल पड़ता हो, उस प्रक्रिया से शरीर स्वस्थ, सुन्दर निर्मल, अनामय, निरामय रखना, यह पहला धर्म है। जब चाहे तब खायेंगे, चाहे जो देखेंगे, चाहे जैसा सोयेंगे, चाहे जैसी निद्रा आवेगी और फिर जाते हैं, सत्संग में बैठते हैं, तो हमारा मन लगेगा, ध्यान करने बैठे हैं तो ध्यान लग जायेगा, यह आशा एक निरर्थक आशा है। ऐसी व्यर्थ

की आशा है, हो नहीं सकता। शरीर की जो त्रुटियां है, जो खामियां हैं, उनको लाँघ जाने में समर्थ कोई व्यक्ति निकलेगा, यह बात अलग है। लेकिन साधना का प्रारंभ शरीर की निरामयता से, निर्मलता से, सौंदर्य से, सौष्ठव से है, यह चीज़ भारतवर्ष भूल गया है। शहरों में रहते हैं, देहातों में रहते हैं, तो जीवन-पद्धति में अंतर पड़ जाता है; लेकिन जहाँ पर प्रारब्ध से आ गये हैं, वहां अपना साथी जो है शरीर, इससे पहले दोस्ती कर ली जाय। इसका आदर करना, इसकी इज़्ज़त करना, इसके प्रति श्रद्धा रखना हम सीखें। किसी धर्म-सभा में शायद इन बातों को कोई उठायेगा नहीं। लेकिन मैं इसपर बहुत ज़ोर देना चाहती हूं, क्योंकि हमारे मनमें शरीर के प्रति अनुराग है, लेकिन धर्म और अध्यात्म के के नाम पर इससे विराग रखना चाहते हैं। इस अन्तर्विरोध के बीच से संघर्ष और उसमें से पाखंड का जन्म इस देश में हुआ है। भीतर अनुराग पड़ा हो, उसके प्रति लालसा हो और ऊपर से धर्म के नाम पर, अध्यात्म के नाम पर विराग दिखाना है, उदासीनता दिखानी है तो जीवन में 'हारमनी' (संवादिता) कैसे आयेगी ?

अभी यह आध्यात्मिक पर्दा उठता है, फिर जहां एकांत मिला, वहाँ दूसरा पर्दा जीवन के लिये खड़ा करते हैं। जहां एकांत मिला, वहां उदासीनता है नहीं, वहां वासना धधक उठती है और ऐसा व्यवहार भी करते हैं; जो चीज़ छिपाने की इच्छा है, जिसके लिये अनेक आकांक्षा है, उसको दबाने का प्रयत्न भी होता है और ऐसी दयनीय अवस्था में साधक आ जाता है। तो उसकी छाया आ जाती है उसके अपने ऊपर। ऐसे साधक अनेक देखे हैं। इस दशा में शरीर का विचार न करने के कारण अनुराग और विराग के बीच tug of war (रस्साकशी) चलती है, कभी इधर, कभी उधर। आत्मग्लानि, आत्मवंचना, आत्मनिषेध, जन-वंचना, ऐसे एक

शृंखला, chain reaction, शुरू हो जाएगा। आप मंदिरों में जाइये, मठों में जाइये, बौद्ध संघों में जाइये, संन्यासियों को देखिये—देखा सब जगह, You will come across cases of suppression and repression. You will come across cases of hypocrisy or criminal indifference to the body. आप को दमन, पीड़न, दम्भ. पाखण्ड और शरीर के प्रति अपराधपूर्ण विराग के नमूने सर्वत्र मिलेंगे। कुछ न कुछ संघर्ष रहता है और फिर जीवन में संतुलन नहीं आता। स्वस्थता का रहस्य ही संतुलन में है। जिसको आप स्वस्थता कहते हैं न, वह है—'स्वे तिष्ठति इति स्वस्थः'। अपने स्वरूप में जो प्रतिष्ठित है वह स्वस्थ है, स्वरूप में जो स्वस्थित है।

अब आयुर्वेद की भाषा में रखूं तो धातु का साम्य शरीर में रहता है, यह स्वस्थता है। चित्त में जब स्वस्थता रहती है, त्रिगुणों के बीच चित्त का जो साम्य है उसको योग कहा। 'समत्वं योग उच्यते'। तो इस शरीर में धातुओं का साम्य जब रहेगा; धातु यानी वात-पित-कफ हैं, इनकी सम दशा कैसे रहे यह सब देखना चाहिये; नहीं तो इच्छा हुई आहार लिया, जीभ कहती, खा लिया, पी लिया। जो totality of your life है—जो जीवन की समग्रता है, उसमें अधिक महत्त्व जीभ को दे दिया गया; शरीर की समग्रता को भूल गये, आखिर है क्या? खंडित दर्शन ही तो sin है, 'पाप' है और पाप दूसरा क्या होता है? हर क्षण का, हर कर्म का, हर विचार का समग्रता के साथ संबंध जीवन है। शरीर के साथ मैत्री-संबंध ही पुण्य है, धर्म है। और समग्रता को भूल कर खंडित दर्शन में और खंडित कर्म में आसक्त हो जाना ही पाप है। दूसरा कोई पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म नहीं है। इस चीज़ को बहुत बारीकी से देखना

चाहिये। आप को आहार, विहार के बारे में देखने वाले और सोचने वाले मिल भी जाते हैं, लेकिन निद्रा के प्रति सोचनेवाले, चिंतन करनेवाले मिलते ही नहीं। आख़िर निद्रा वस्तु ही क्या है? निर्दोष, निःस्वप्न निद्रा आती है या नहीं, उसकी शरीर को आवश्यकता है? इसको कोई आध्यात्मिक कर्म मानता नहीं। जिस बिस्तर में रोज़ सोते हैं, क्या सुन्दर प्रभु की योजना है। ६ घंटे या ७ घंटे आप को संपूर्ण विश्राम के लिये निद्रा की सुविधा दे दी है न! जिसमें मनको आराम मिलेगा, पूण तन-मन में एक लय बन जायेगा, शरीर के रग-रग में विश्राम की ताज़गी भर जायेगी, इसलिये निद्रा है। ऐसी सुविधा का उपयोग भी नहीं करते, सुविधा से लाभ नहीं उठाते हैं, सोते नहीं हैं; न जागना जानते हैं, न सोना जानते हैं। कहां से धर्म होगा, कहां से आध्यात्म आयेगा? यदि निद्रा नहीं आती है तो क्यों नहीं आती है। स्वप्न नहीं आते हैं तो क्यों नहीं आते हैं।

अब आप के ध्यान में आयेगा कि शरीर के परिचय से मेरा मतलब कितना गंभीर है, कितना गहन है। ये तो सब आध्यात्मिक कर्म हैं। ये सब धर्म-साधन हैं, इनको छोड़कर और जीवन लायेंगे कहां से? सुबह से रात तक जो जीवन है, वह तो आप को मिला है। यह नहीं है कि मंदिर में एक घंटा बैठे या किसी शिविर में एक घंटा बैठे, वही है आध्यत्मिक जीवन; बाकी सारा भौतिक! ऐसा नहीं है। जीवन को खंडों में मत बाँटिये और प्रतिक्षण में जैसे जल का हर बिन्दु उसकी समग्रता का सौरभ और समग्रता का सौंदर्य है, उसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षण को चिरंतन काल, सनातन काल कहते हैं। सौन्दर्य उसमें छिपा हुआ हैः इसलिए। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक विचार प्रत्येक भावना को अपने उठते, बैठते, बोलते, हंसते जीवन की समग्रता के साथ

जोड़ दिया जाय, और कुछ पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता। साधना यही है. समग्रता के साथ जोड़ देना, एक बार समग्रता के साथ अनुसंधान सध गया, फिर तो समग्रता में प्रतिष्ठित हो जाती है चेतना और जो भी विचार उठते हैं, उनका मूल स्रोत ही समग्रता हो जाती है।

खैर, पहिले मैंने शरीर की बात आप के सामने की। दूसरी बात, हमारे पास दूसरा साधन या वाहन है मन। मन और बुद्धि दोनों भिन्न होंगे ऐसा लोगों ने माना है। मैं नहीं जा रही हूं इस देश के सनातन ग्रंथों में। पातंजल योगशास्त्र में मन और बुद्धि को भिन्न नहीं माना। इसमें मैं आज जाना नहीं चाहती हूं। अभी यदि गहराई में उतरूं तो—और भी २, ४, ५, ७ दिन रहने का मौका मिलेगा—तो उसमें जाऊंगी; लेकिन चूंकि आप बंबई में रहनेवाले सुशिक्षित व्यक्ति हैं, में आप को पश्चिम से ही उदाहरण देती हूं। लेकिन यहां भी वैसे उदाहरण हैं और जिसको आप 'रिसर्च' कहेंगे, संशोधन कार्य कहेंगे, वह इस देश में भी हुआ है। फिर उसकी जो 'टरमिनोलोजी' है, परिभाषा हैं, शायद उससे आप परिचित न हों, इसीलिए मैं जिस परिभाषा में आप पढ़ते हैं, वह परिभाषा आपके सामने रख रही हूँ। अभी biology (प्राणिशास्त्र या जैव विज्ञान) और medicinal science (औषधविज्ञान) की यह खोज है कि मन और बुद्धि दोनों स्वतंत्र वस्तु शरीर में नहीं है। हम समझते हैं कि मन कहीं यहां होगा, 'हार्ट' के पास होगा, और मस्तिष्क यहाँ (सिर में) है तो बुद्धि वहीं होगी। यह हमारी धारणा है। अब 'बायोलोजी' और 'सायन्स ऑफ़ मेडिसिन' हमको बतलाते हैं कि यह जो मस्तिष्क में कोशाणु हैं, जो कि brain cells हैं उनमें जितना आपको ज्ञान है, अनुभव है, वह स्मृति के रूप में संचित होता है

'ब्रेन सेल्स' में कुछ 'केमिकल्स' हैं—every knowledge, every experience is reduced to certain chemicals in the body and those chemicals are stored in your brain-cells.

यह उनकी भाषा है। वो कहते हैं कि जो रक्तकण हैं—गोलक हैं उनमें रसायन के रूप में हमारे ज्ञान, अनुभव, इकट्ठा संगृहीत हो जाते हैं। एक संशोधन समिति, यह खोज कर रही है कि यह biological inheritance (जैव वंशानुक्रम या विरासत) क्या चीज़ है? मां-बाप के गुण-दोष, शारीरिक और मानसिक, बच्चों में कैसे आते हैं? इस खोज में अचानक उनको पता चला कि सिर्फ 'बायोलोजिकल इन्हेरिटेन्स' नहीं, बल्कि 'सायकोलोजिकल इन्हेरिटेन्स' (मानसिक वंशानुक्रम या विरासत) भी है। उसका कारण यह है कि मस्तिष्क के रक्त-गोलकों में रसायन के रूप में स्मृति में संगृहीत हो जाता है सारा ज्ञान, अज्ञान और शारीरिक अनुभव। इसका extricate करना (बाहर निकालना) और दूसरे आदमी में 'इन्जेकट' करना भी संभव बना है। उसका प्रयोग उन्होंने १९६० में शुरू किया। चूहे पर किया, फिर खरगोश पर, अब मानस रोगियों पर शुरू किया। और परिणाम devastating (विनाशजनक) रूप से उत्साहवर्धक हुए हैं। विनाशजनक इसलिए कहती हूं कि यह जो खोज है वह 'अणु बम' बनाने की खोज से कम भयानक खोज नहीं है। मनुष्य का अनुभव या स्मृति या ज्ञान 'अक्स्ट्रेक्ट' करने (निकालने) और दूसरे आदमी में 'इन्जेक्ट' करने की संभावना अपने सामने आना भयानक है। उसका उपयोग ठीक हो तो ठीक है। और सत्ताधारी के हाथ में कहीं यह पूंजी आ जाये तो पता नहीं कि मनुष्य जाति के साथ क्या हो। इसलिये उसको मैंने भयानक कहा। लेकिन यह संभव है।

तो, इसी आधार पर हमारा 'कॉम्प्युटर ब्रेन' बना, 'इलेक्ट्रॉनिक ब्रेन' बना। हमारा जो मस्तिष्क है, जो 'ब्रेन' है उसमें यह सब संगृहीत होता है। आपको और हमको बड़ा घमण्ड रहता है न? मेरी भावना, मेरा विचार, मुझे यह अच्छा नहीं लगता, मुझे यह प्रिय है, वह अप्रिय है, यह अपमान हुआ यह सम्मान हुआ, यह प्रशंसा हुई, आनंद हुआ और इससे उठने वाली जो प्रतिक्रिया है, उसमें conditioned reflexes (अनुकूलित या प्रतिबन्धित प्रतिवर्त) we own them हम उन्हें अपनी समझते हैं। हम कहते हैं हम हिंदू हैं, हिंदू अलग, मुसलमान अलग है और यह सारी यांत्रिक क्रिया है। शतकानुशतक संस्कार के नाम पर, शिक्षा के नाम से आपके मस्तिष्क में यह भरा गया है! शिक्षण के द्वारा, जो परंपरा द्वारा आपके मस्तिष्क में वे 'कन्डीशनींग' (अनुकूलन या प्रतिबन्ध) के संस्कार भर दिये गये और धीरे से ज़रा 'स्विच' दबाने से जिस प्रकार यान्त्रिक मस्तिष्क चालू हो जाता है, वैसे ही हमारा मस्तिष्क प्रतिक्रिया करने लगता है। आप कह देते हैं कि मेरी भावना है—किन्तु यान्त्रिक प्रतिक्रिया ही है मनका रहस्य। आखिर हम गुलाम हैं, मन के गुलाम है, मन ही के गुलाम हैं या हमारे संस्कारों के, अपने शरीर के गुलाम हैं और गुलामी क्या है? लोग जिसको कहते हैं न कि 'बंधन में है, फँसे हैं, हमें मुक्त होना है।' तो यह है बंधन का स्वरूप। No barrier or bondage exists outside you; all that you call bondage or barrier; that is within you, बाहर नहीं, यह नितान्त तथ्य है। कोई बंधन बाहर नहीं, यह जिस दिन भारतवर्ष की जिज्ञासु जनता जानेगी उस दिन से पलायनवाद का अंत इस देश में होगा। यह कोई तुकाराम की गाथा नहीं है कि बहुत गर्व से पढ़ेंगे और कहेंगे कि उसने तो स्त्री-पुत्र की तरफ़

ध्यान नहीं दिया, रामदास शादी होने के समय भाग गये। श्री रामतीर्थ ने पत्नी का त्याग कर दिया तो बाद में उसका मुँह तक नहीं देखा। यह कोई गर्व का विषय है ? स्वामी रामतीर्थजी के सामने १०० बार मैं मस्तक नम्र करती हूँ, लेकिन संन्यास लेने के बाद पत्नी मिलने आती है तो मिलता नहीं, ऐसे संन्यास का मेरा पास कोई मूल्य नहीं, फिर वे स्वामी रामतीर्थ हों, तुकाराम हों, स्वामी रामदास हों या और कोई हों, कृष्णदास हो। यह तब समझ में आयेगा जब हम समझेंगे कि अध्यात्म में कोई बंधन बाहर नहीं है, स्त्री का त्याग, पुत्र का निषेध या अन्य किसी निषेध पर आधारित अध्यात्म है नहीं। यह मालूम हो जाय कि निषेध पर आधारित अध्यात्म जब तक है तब तक सच्चे धर्म का जन्म नहीं हो सकता, तब तक सच्चे मानव का जन्म नहीं हो सकता। इसलिये यह पहचानना बहुत जरूरी है कि हमारा हमारे मन के साथ क्या संबंध है, मन किस प्रकार बंधन निर्माण कर सकता है और उस बंधन से हम मुक्ति किस प्रकार पायेंगे। आखिर 'साधना-साधना' क्या है ? तो साधना में शरीर के साथ सहयोग और प्रेम-भाव, उसके बाद मन का परिचय और मन की मैत्री। यह मन के साथ मैत्री जब तक नहीं होगी मन से मुक्ति भी नहीं होगी।

तो यह दूसरी बात मैं आज आप के सामने रखना चाहती हूँ। हमने यह देखा कि मन और बुद्धि अलग-अलग नहीं हैं, हमने यह देखा कि जो स्मृति है, वह संगृहीत हो जाती है। हमारी जो स्मृति है वह स्मृति रस के रूप में मस्तिष्क में संगृहीत हो जाती है और कहीं भी बाहर से इन्द्रिय का विषय के साथ संबंध हो तो उसका जो आघात पहुँचता है उस आघात से 'ब्रेन' काम करने लगता है। उसकी प्रतिक्रिया पर हमारा कोई काबू नहीं, वह जो

प्रक्रिया भीतर पड़ी हुई है, conditioned reflex (अनुकूलित प्रतिवर्त) पड़े हुए हैं, विचार, विकार पड़े हुए हैं उनके स्वामी हम नहीं हैं। शरीर पर हमारा स्वामित्व कितना है, वह भी हमने देखा। जिस किसी भले आदमी से पूछिये तो, कहते हैं सिरदर्द है, 'सर दुखता क्यों है' ? तो कहते हैं मालूम नहीं। अन्न हमने खाया, और गले से नीचे रस कैसे बना ? भाई, हमें मालूम नहीं। पाचन क्यूँ नहीं हुआ ? मालूम नहीं। पेट में दर्द है, क्यूँ है ? मालूम नहीं। ऐसे तो हम शरीर के स्वामी हैं। यों ज़रा प्रामाणिकता से पाँच मिनट सोचेंगे तो पता चलेगा कि स्वामित्व दूर रहा, शरीर से दोस्ती तक नहीं है और शरीर से परिचय तक नहीं। तो ऐसे ख़तरनाक लोग हैं हम। जैसे कोई मोटर की जानकारी नहीं और 'ड्राइव' करने बैठा। सौंदर्य-रहित, रसरहित हैं, शुष्क हैं हम,—शरीर में रहते ज़रूर हैं, लेकिन उसे जानते नहीं।

यह मन का हाल है। मानसिक क्रिया यांत्रिक क्रिया है। जितने हमारे विचार हैं, विकार हैं, ये यांत्रिक क्रिया हैं—mechanistic actions, यह तत्त्व यदि समझ में आ जाय तो मनुष्य का सारा अहंकार दूर हो जायेगा, सारा अहंकार बिलीन हो जायेगा। आखिर होता क्या है ? सुबह उठते हैं। अच्छी नींद आई, बड़े प्रसन्न हैं, चित्त प्रसन्न है, दिल प्रसन्न है। इतने में पति ने कुछ कह दिया, अप्रिय लगा; सुबह बिगड़ गई कहते हैं। आज सुंदर प्रभात था, सुबह-सुबह उठकर देखो पति ने ऐसा कर दिया ? बच्चे ने ऐसा कहा, पति ने ऐसा कहा तो सुबह बिगड़ गई। सुबह बिगड़ी कैसे भाई ? सुबह तो वही है। अपनी प्रियता को, अप्रियता को इतना महत्त्व दिया कि सामने जो व्यक्ति हैं उसने व्यवहार क्यों ऐसा किया यह सोचने का समय नहीं। हम अपनी

प्रतिक्रियाओं में उलझे हुए हैं, इतने अहं-केन्द्रित हैं, अपनी प्रतिक्रियाओं से नापना चाहते हैं सामने जो मनुष्य है उसको, सामने जो व्यक्ति है उसकी प्रियता, अप्रियता, शुचिता, अशुचिता आदि को। हमारे मूल्य इसमें इतने उलझे हुये है कि, जब पता चलेगा कि ये यांत्रिक क्रियायें हैं, इनको इतना महत्त्व देकर जीवन का अपमान करता हूं, जीवन का अनादर करता हूं, यह जिस दिन ध्यान में आयेगा उस दिन अपनी प्रतिक्रियाओं की—आवेगों की गुलामी खत्म हो जायेगी। आज न तन के स्वामी है, न मन के स्वामी है। तन के भी गुलाम, मन के भी गुलाम। भाई, गुलामी का अर्थ क्या है? वह जान लेना चाहिये। विचार का मैं कर्ता नहीं हूं। जिस समाज में पैदा हुआ, जिस स्कूल में पैदा हुआ, जिस धर्म में पैदा हुआ, जिस परिस्थिति में पैदा हुआ, जिस शताब्दी में पैदा हुआ, उसका वातावरण मेरे विचारों को बनाता है, मैं उनका देखने वाला हूं, मैं द्रष्टा हूं—कर्ता नहीं। न मैं शरीर का कर्ता हूं, न स्वामी हूं, न अपने विचारों का भी कर्ता हूं। यह ध्यान में आने से कल जिस विनम्रता की बात मैंने कही थी, वह विनम्रता समृद्ध हो जाती है। फिर किसी ने कुछ कहा जो कि प्रिय नहीं है, या अन्याय की बात है, तो भीतर क्रोध उठा। लेकिन आप ऐसे स्तर पर प्रतिष्ठित होंगे कि यह सामने व्यक्ति है उसको भी देखेंगे, अपने क्रोध को भी देखेंगे। There will be a distance between your reaction and your self आप के और आप की प्रतिक्रिया के बीच दृश्य और द्रष्टा का संबंध स्थापित होगा। विचार के भीतर बाहर जो सृष्टि है, उसी को जो देखते हैं वे द्रष्टा हैं। द्रष्टा बन जाते हैं तब बड़ा आनंद आता है। यह काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है—इनके आवेगों को देखते

हैं जैसे समुद्र के तूफ़ान को देखते हैं। और कभी आप में से जो समुद्र में तैरने गये होंगे, और तैरना जानते होंगे, उनको पता होगा कि जब समुद्र में तैरते हैं तो, लहरों के साथ, मौजों के साथ लड़ना नहीं होता। उनके साथ संघर्ष नहीं करना पड़ता। ऐसी लहर आई तो उसके ऊपर आरूढ़ होना पड़ता है। वह लहर की जो गति है, मौज है—वह गति ही तो आप को आगे ले जाती है! आप अगर सागर की मौजों के साथ लड़ना शुरू करेंगे—काटना शुरू करेंगे तो आप कहीं के नहीं रहेंगे, तैर नहीं पायेंगे। यह सागर में तैरनेवालों का अनुभव है। सागर की मौज आई, मौज पर सवार हुए और आगे बढ़े। उसी प्रकार फिर अपने इस अचेतन मन में इतने विकार-संस्कार पड़े हैं, इतनी वासनायें पड़ी हैं, वे जो प्रतिक्रिया के रूप में ऊपर उठेंगी तो उस तूफ़ान को आप देखेंगे। उसकी उठती हुई गति के गुलाम बनकर निर्णय नहीं करेंगे। लेकिन उसके द्रष्टा बनेंगे। कहेंगे 'हां तुम को भी देख लिया, बाहर को भी देख लिया, भीतरवाले को भी देख लिया'। उसके क्रोध दिलाने से न हम क्रोधी बनेंगे न गुलाम बनेंगे। बस, एक पल भर का खेल है, यह सारा पल भर का खेल है। किसी ने तमाचा मारा, मुझे क्रोध आया, मैंने भी तमाचा मारा। या किसी ने मारा और मैंने देख लिया। ओहो, आज इतना सुन्दर प्रभात है, इस सुंदर प्रभात में यह भाई क्यूँ क्रोध में आ गया? प्रभात का सौन्दर्य इसने नष्ट कर दिया अरे, अरे. क्या हो गया इसको? या तो क्रोध का जवाब क्रोध से आयेगा, या उसका क्रोध देखकर उसके लिये करुणा उठेगी। हाथ पकड़ेंगे आप। ऐसा नहीं है कि मारनेवाले का हाथ न पकड़ें। पकड़ लें। लेकिन एक पकड़ेगा तो उसके मुँह से गाली निकलेगी, दूसरा पकड़ेगा तो उसकी आँखों से करुणा प्रगटेगी। यह क्या?

मन का परिचय होने से चेतन मन में जो प्रतिक्रियाएँ उठती हैं, इन्द्रियों का बाहर विषयों के साथ संबंध आने के बाद, उन्हें सही रूप में हम देख सकेंगे। इन्द्रियों का संबंध अनेक प्रकार से आता है। स्मृति का, शब्द का सम्बन्ध है, आँखों से देखते हैं तो रूप का, चक्षु का संबंध है, स्पर्श से देखते हैं तो त्वचा का और पदार्थ का संबंध है जिस में आप त्वचा के द्वारा देखते हैं। जब सुगंध है या दुर्गंध है, तो आप नाक से ग्रहण करते हैं। अपने इंद्रिय-विषय-संघात के बाद जो प्रतिक्रिया उठती है, वह कर्म नहीं, प्रतिक्रिया है। हम दिन-भर क्रियाओं में रहते हैं और अपने आपको कर्मयोगी कहते हैं। गलत क्रिया है वह, तात्कालिक है, और खंडित है वह खंडित प्रतिसाद है। Response के लिये प्रतिसाद शब्द का उपयोग कर रही हूँ। अपरिचित हों तो थोड़ा सा ध्यान दिया जाय। Reaction के लिये प्रतिक्रिया, और response के लिये प्रतिसाद।

कह रही थी कि जो क्रिया है वह reaction है, वह कर्म नहीं है। और जो प्रतिसाद है, वह कर्म है। जब तक मन की गुलामी है, तब तक हम प्रतिक्रिया में रत रहते हैं। उस गुलामी का जहाँ अंत होता है वहाँ कर्म का प्रारंभ होता है। कर्म करने का आनंद मिलता ही नहीं हमको; कहाँ से मिलेगा? दिनभर प्रतिक्रियाओं में चले। इसने ऐसा किया, उसने ऐसा किया. जो मैं चाहता था वह नहीं मिला, यह जो मिला है वह मुझे नहीं चाहिये, जो नहीं है वह चाहिये, जो आया है उसका स्वीकार नहीं। इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक प्रतिक्रियाओं में दिनभर उलझे हुए मन और तन को लेकर हम जीते हैं। जैसे पानी डाल-डालकर, फूलों को बेचने वाले—ताज़ा फूल तो हैं नहीं, पानी डालते हैं और फूलों में ताज़गी लाना

चाहते हैं। या कागज़ी फूल हैं, उनपर 'सेंट' छिड़कते हैं। ऐसे हमारे जीवन हैं। निकम्मे। फिर सत्संग का पानी 'स्प्रे' करते हैं (छिड़कते हैं) ताज़गी लाने के लिये। ऐसा पानी छिड़कने से ताज़गी नहीं आयेगी।

एक, प्रत्येक मानसिक क्रिया यांत्रिक क्रिया है और दूसरा ये जो यांत्रिक क्रियाएँ हैं उनके जो रसायन-रूप में संस्कार पड़े हैं उनके कर्ता हम नहीं हैं। प्रत्येक देश में विभिन्न संस्कार राशि है, भिन्न-भिन्न विचार-पद्धति है। पड़ी हुई हैं विचार-पद्धतियाँ, ये उच्च क़ौम, ये नीच क़ौम, कनिष्ठ क़ौम, कुछ भी। अब यह मन की क्रिया है, यांत्रिक है, यह पहचानने से बहुत बड़ी चीज़ होने वाली है। इस तथ्य का साक्षात्कार करने के लिये मन साधन नहीं हो सकता। यह तथ्य आप और हम समझें। क्या? 'मैं साक्षात्कार प्राप्त करूँगा।' I will acquire self-realisation–अरे, बाबा क्या बोल रहे हो? अपने ही जो शब्द हैं उनपर ज़रा ध्यान दो। यानी किसी न किसी मानसिक या बौद्धिक क्रिया के द्वारा साक्षात्कार होगा, मुक्ति का हम प्रत्यय करेंगे, यह सारा श्रम क्यों है? क्योंकि हमने नहीं पहिचाना है कि मानसिक क्रिया mechanistic action है, यांत्रिक क्रिया है, यह नहीं जाना है। हमने आध्यात्मिकता को भी अपने मन का एक कर्म बना लिया। हम जप करेंगे, ध्यान करेंगे, हम सत्संग करेंगे, हमारे करने का विषय हो गया है अध्यात्म। इसलिये संसार के विषयों को छोड़ दिया—ज़मीन मेरी, मकान मेरा, बंगला मेरा, दौलत मेरी, 'बैंक अकाऊन्ट' मेरा यह छूट गया। सत्संग मेरा, ध्यान मेरा, जप मेरा–यह रह गया। अहंकार तो उतना ही पुष्ट रह गया, विषय बदल गये। लेकिन चित्त नहीं बदला। और सवाल है चित्त को बदलने का, विषयों का नहीं। मैंने कहा कि मानसिक कर्म से

सत्य-साक्षात्कार करने के अहंकार में लोग पड़े हुए हैं। उनके अहंकार-पुष्टि के साधन, विषय, प्रक्रिया इतने ही बदले हैं। श्वेत वस्त्र के गेरुए हो गये, भगवे हो गये; घरों की दीवारें ईंट और चूने से बनती हैं तो मठों की, मंदिरों की किससे बनती हैं? इन्हीं से तो बनती हैं। और गृह-गृहस्थी चलाने वाले पैसा कमाके लाते हैं, तो मठ-आश्रम चलाने वाले मांग करके लाते हैं। यानी कमाने का पाप दूसरा करे और पुण्य हम आश्रम में बैठकर करें। कमाने वाले संसारी हो गये, और आपके पैसे लेकर जीने वाले संन्यासी हो गये। Simple contradiction (निरा विरोध) इसमें से इस देश में इतना confusion (भ्रम) हुआ, इतना बौद्धिक और भावनात्मक confusion (भ्रम) इस देश में है जिसका कोई अंत नहीं। बड़ा दुःख होता है, मैं किसी की आलोचना नहीं करती हूँ, लेकिन मेरे हृदय में इसकी बड़ी व्यथा है, पीड़ा है। जप करेंगे तो जप तो यांत्रिक क्रिया है। सिनेमा के गीत गायेंगे वह भी यांत्रिक क्रिया है और भजन गायेंगे तो वह भी यांत्रिक क्रिया है। आप कहेंगे 'नहीं जी हमने उसके साथ भावना जोड़ी, जो यांत्रिक क्रिया नहीं, हमने उसके साथ भावना जोड़ दी थी।' मैं इतना ही कहना चाहती हूं कि भावना भी यांत्रिक ही है। भाव सिर्फ़ जीवन का द्योतक है। भावनायें यांत्रिक ही हैं। भावजगत् जो है वहां जीवन का स्पर्श है, लेकिन जहां तक भावनाएँ हैं, संवेदनाएँ हैं, emotions (संवेग) feelings (भावना) sentimentality (भावुकता) ये सब यान्त्रिक क्रियाएँ हैं, किसी की crude (अनघड़) हैं और किसी की refined (परिष्कृत) हैं, बस, इतना ही फ़र्क है, और कुछ नहीं। तो, मानसिक कर्म से सत्य का साक्षात्कार नहीं होता है। यह आपको पहचानना है।

हां, यह हो सकता है कि एक लाख जप किया तो ये नादके जो स्पंदन हैं उनका biochemical (जैव-रासायनिक) असर आपके शरीर पर होगा, आपके शरीर पर परिणाम होगा। आपकी जो लय है, श्वासोच्छ्वास breathing उस पर परिणाम होगा और आपको ऐसा लगेगा कि एक शक्ति की अवस्था निर्मित हुई। तो स्पंदनों का असर रहता तो है। चार घण्टे बैठ कर जप करना, और आखिर action (क्रिया) तो है न, chemical (रासायनिक)। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने 'केमिकल एक्शन' के बदले 'डाइरेक्ट' (सीधी) पद्धति अपनाई। उससे एक अवस्था का निर्माण होता है। उस अवस्था का परिणाम शायद एक घण्टा, दो घण्टे, चार घण्टे, अड़तालीस घण्टे,—'सीलोसीजम' का अड़तालीस घण्टे रहता है, एल. एस. डी. का २५ से ३६ घण्टे रहता है। लेकिन उसमें आपकी growth नहीं है, विकास नहीं है। मैंने पहले ही कहा था कि समग्रता का विकास integrated, total growth यह अध्यात्म है। और प्रतिक्षण का, प्रतिकर्म का समग्रता के साथ सहज संबंध यह अध्यात्म है। लेकिन वह जप की यांत्रिक क्रिया से, या कोई आपने दवा ले ली, 'ड्रग' ले लिया, consciousness-expanding drug से artificial stimulated state of mind (कृत्रिम रूप से उत्तेजित मानसिक दशा) बना ली, दो-चार घंटे या दो-चार दिन उसमें रह भी गये तो वह कोई अध्यात्म नहीं है। आपको मालूम है कि एक आत्मविलोपन का आनंद होता है, self-forgetfulness. होने दो, सितार बजाने बैठे हैं तो दो घंटे अपने को भूल जायें। गाने के लिये बैठेंगे तो दो घंटे अपने-आपको भूल जायेंगे। अहंकार की कैद से बाहर निकलने का एक रास्ता है। लेकिन जहाँ उसका असर खत्म हो गया कि फिर आप अहंकार की कैद में आ गये—self-forgetfulness is not

elimination of ego (अपने को भूलने से अहंकार का निराकरण नहीं होता)। और ये अहं को भूलने के लिये जो रास्ते हैं, वैसे यह जप का भी होगा और दूसरा भी होगा। लेकिन मैं यह कहना चाहती थी कि मानसिक कर्म के द्वारा साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। यह विषम साधन है।

यह पहचानने पर हमारा जो अहंकार है—मानसिक कर्म को लेकर अध्यात्म में जो घुसना चाहते हैं—वह मिट जायेगा। आज तो धड़ाके के साथ कोई भी घुस जाता है; सो घुसेगा नहीं। वह समझेगा कि वहाँ जाने का रास्ता यह नहीं है। मानसिक कर्म ही अहंकार का आहार है। अहंकार जीता किस पर है? The movement of mind is the only nutrition of ego. तो अहंकार अपनी पुष्टि पाता है, मानसिक क्रियाओं में से। जब ध्यान में बात आयेगी कि मनको लेकर इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं हो सकता, समस्त मानसिक क्रियाओं की शांति में ही ध्यान के द्वार खुलते हैं, यह बात जब समझ में आयेगी, तो अहं के विलोपन का भी मार्ग प्रशस्त हो जायगा। इसलिये मैंने कहा मनके साथ मैत्री होनी चाहिये। मानसिक क्रियाओं को शांत होने देना है। उनका गला घोंटकर उनको शांत नहीं कर सकते। इस देश में, और ईसाइयों में 'केथोलिक' संप्रदाय है, उसमें बहुत कोशिशें की गई हैं कि मनसे लड़ें, उसका निग्रह करें, दमन करें, पीड़न करें। तो मनका दमन-पीड़न करने वाले हज़ारों वर्ष से करते आये हैं। लेकिन मन तो जिन्दा ही रहा। वह मरेगा कैसे? It is the very substance of your consciousness—यह आप की चेतना का ही सत्त्व है। उसको कैसे मारेंगे? कैसे वह मरेगा? गला घोंटेंगे तो बेभान-सा पड़ा रहेगा, ज़रा आपका अवधान इधर-उधर हुआ कि फिर से जिंदा, मनके साथ लड़ना

असम्भव है, चेतन या अवचेतन में,—चेतन मनके साथ फिर भी आप लड़ लेंगे और हरा कर बेचारे को कोने में आप बैठा देंगे। वह बैठा रहेगा, दुबक कर बैठा रहेगा। मौका देखेगा, कब निकलता हूँ, कब मौका मिलता है, आपका अवधान छूटा या वृद्धावस्था आई, आपके शरीर में ताक़त नहीं है, मनको 'कन्ट्रोल', में, नियन्त्रण में रखने की ताक़त नहीं है; फिर तो सवार होगा ही। इसलिये मैं कहती हूँ कि चेतन को आप कोने में बैठा भी सकेंगे, अचेतन मनको कोने में बैठाने की कोशिश व्यर्थ है। मानेगा ही नहीं। दिनभर नहीं निकलेगा तो स्वप्नों में निकलेगा। 'दिनभर दबाकर रखता है मुझको, रात को तेरा बदला लेता हूँ'। वह प्रतिशोध लेना चाहता है। फिर जो कर्म आप जागृति में करने जाते हैं उसमें, दलित, पीड़ित जिसे आपने कर रखा है, वह मन आपके हर कर्म में आड़े आता है, आपका कोई कर्म समग्र नहीं होने देता, क्योंकि वह तो बदला लेना चाहता है।

इसलिये मैंने कहा—मन से लड़ना यह रास्ता नहीं है। मानसिक क्रिया मात्र यांत्रिक क्रिया है, यह समझने से वह जो प्रतिक्रिया है, उसका घमंड हमारा समाप्त हो जायेगा। उसके साथ-साथ 'मैं कर्म करूंगा' 'मैं जप करूंगा', 'मैं मंदिर जाऊंगा', 'मैं अमुक करूंगा'—यह जो द्वन्द्वात्मक संबंध है, वह भी विगलित होगा। मानसिक क्रियाओं के शांत होने को रास्ता बनाना पड़ता है, अपने भीतर खोजना पड़ता है, बाहर नहीं खोजना पड़ता है। और इस खोजने की क्रिया का नाम है ज्ञान। इसलिये २४ घंटे में सिर्फ एक, कम से कम एक बार बैठो, इद्रियां शांत बैठ सकती हैं या नहीं देखो, मन शांत हो सकता है या नहीं देखो, मन दौड़ता है तो क्यों दौड़ता है, मन कहां-कहां अतृप्त रह गया है, क्यों अतृप्त रह गया है? उसको क्या-क्या अपेक्षा है, देखो तो सही। जिस बच्चे को ताड़ना मिलती है वह बच्चा घर में

मां-बाप के सामने बिलकुल सीधा है। लेकिन बाहर देखिये। ताड़ना, वह बालक के साथ मैत्री करने का रास्ता नहीं है और सिखाने का रास्ता भी नहीं है। वैसे ही मन को कुछ सिखाना है तो उसको दुश्मन मत मानिये, उसको शत्रु मान कर लड़िये नहीं। मन बहुत कोमल है। बहुत प्रेम से, प्यार से, करुणा के साथ पेश आइये। आप देखिये, आप मित्र बनेंगे तो आप की ताक़त बढ़ेगी और शत्रु मानेंगे तो पहले ही असमर्थ होंगे। फिर मदद के लिये कोई न कोई गुरु बाहर से चाहिये। जिन्होंने अपने तन-मन को दुश्मन बनाया और दुश्मन माना है, उन्हीं को बाहर से मदद की अपेक्षा रहेगी, सिर्फ़ अपेक्षा नहीं और मदद नहीं, किसी न किसी के आश्रित बन जाने की इच्छा होती है।

इसलिये यह दूसरी बात मैंने आप के सामने रखी कि समस्त मानसिक क्रियायें यांत्रिक क्रियायें है। अध्यात्म के क्षेत्र में क्या करें? यह करें—सुबह से रात तक जो प्रतिक्रियायें उठती हैं उनको देखना सीखें कि मेरे भीतर क्या होता है? क्या उठता है? और मुझसे वह क्या प्रतिक्रिया कराना चाहता है। यह अपने में देखना, यह बहुत कड़ा क़दम है। इसलिये साक्षित्व की भावना जागृत होती है, फिर अपने लिये तटस्थता बहुत बड़ी ताक़त है, उदासीनता नहीं। उदासीनता भी हमारे लिये तो कुछ भिन्न है; हमारे आप्त विनोबाजी 'उदासीन' का अर्थ करते हैं—उत्+आसीनः इति उदासीनः। यानी जिसका आसन ऊपर उठ गया, वह उदासीन। उस अर्थ में उदासीनता और तटस्थता एक ही भाव है। या मध्यस्थ भाव जिसको कहें वह है। सत्य दो हैं नहीं, अलग-अलग हैं नहीं। दूसरा शब्द कहां से लायेंगे? तटस्थता, मध्यस्थता, उदासीनता एक हैं—वह एक प्रकार की तटस्थता है। तटस्थता का जन्म कहां से आयेगा?

जिज्ञासा, उसमें से परिचय, मैत्री और मैत्री में से फिर जिज्ञासा। यह जो तटस्थता है न, जीवन की सरलता सहजता, समता रूप यह तटस्थता है। जो आप कहते हैं न ऋजुता है, फ़लाना व्यक्ति ऋजु है, उसका व्यवहार सहज है,—वही।

जो अपने ऊपर दमन करता है, पीड़न करता है, निग्रह करता है वही मौक़ा मिलने पर दूसरे पर आक्रमण करता है। Aggression is nothing but the reaction of self-suppression. जो व्यक्ति अपने साथ निग्रह नहीं करेगा, क्रूर नहीं होगा, और अपने तन और मन के साथ अन्याय नहीं करेगा, वह दूसरे पर अन्याय कर ही नहीं सकता, असंभव है। लेकिन धर्म और अध्यात्म के नाम पर तन-मन के साथ हम बहुत अन्याय करते आये हैं। और, इसलिये आप देखेंगे योगी है, संन्यासी है, साधु है, उनका शिष्यों के साथ व्यवहार देखिये। गालियाँ तो देते हैं। ये लोग कहते हैं गुरु की गाली से शिष्य अच्छे होते हैं। निकट का होगा, उसको बहुत गाली देंगे, मारेंगे, उठा-उठा के मारेंगे, पीटेंगे। सभ्य व्यक्ति और किसी के नाम पर बरदाश्त नहीं करेगा वह गुरु के नाम पर बरदाश्त करता है। उसके व्यक्तित्व का समग्र विकास नहीं होगा। समझ में नहीं आता ऐसे विरोध आध्यात्मिक जीवन में कैसे आये हैं। ये आप से कहने जाऊं तो तीन सभाओं में तो क्या तीस महीनों में भी पूरा नहीं हो सकता। देश-विदेश में नाना सम्प्रदायों के विविध केन्द्र देखे; भारत के कोने-कोने में गई। I have crossed this land from south to north and west to east many a times. क्यों ऐसा होता है? इसलिये होता है कि अपनी प्रतिक्रिया के गुलाम हम बने हैं। भाई, अपने स्त्री-पुत्रों के गुलाम होना बेहतर है। जो प्रतिक्रिया के गुलाम

है, वे तानाशाही (dictatorship) को जन्म देते हैं। घर में 'डिक्टेटरशिप' नहीं चली तो मठ-मंदिर बना लिया। संघ बना लिया, आश्रम बना लिया। सुनने में मेरी बातें कटु लगेंगी, लेकिन आश्रमों की धूल और खाक छानने के बाद कह रही हूं। यदि इसमें आलोचना है तो मेरी अपनी है क्योंकि सब मेरे स्वजन हैं, लेकिन करूं क्या? सत्य बड़ा कठोर है। सत्य की कटुता तलवार की तीक्ष्णता जैसी है। उसको कटुता आप और हम कहते हैं, वास्तव में उसमें कटुता कहाँ?

अध्यात्म जैसी सरल, सहज, सुलभ चीज़ नहीं। आत्म-साक्षात्कार जैसी सरल चीज़ है ही नहीं। उसको ऐसी निगूढ़ता में, और अतीन्द्रिय शक्तियों के चमत्कार में गाड़ दिया है हम लोगों ने। उसके साथ कुछ 'गूढ़' अनुभूतियों का रहस्य जोड़ दिया है। mysticism (रहस्यवाद) की सृष्टि की है। इस मन का जब परिचय होगा तब आप को पता चलेगा कि मन में जो चेतन और अचेतन स्तर हैं, उनमें अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं—जिनको आप अतीन्द्रिय शक्तियाँ कहते हैं occult powers, (आप की बंबई में तो बहुत लोग दौड़ते हैं 'ऑकल्ट पावर्स' के पीछे)—अँगूठी दे दी, नारियल दे दिया, किसी को मूर्ति निकाल कर दे दी—इन सब का अध्यात्म से कोई संबंध नहीं। अतीन्द्रिय शक्तियाँ हैं, दूरदर्शन (clairvoyance) है, दूरश्रवण (clair-audience) है; आप एकाग्रता का अभ्यास करेंगे, त्राटक का अभ्यास करेंगे, शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं; कभी-कभी खेल लिया उनके साथ, लेकिन वह अध्यात्म नहीं है। तंत्रशास्त्र की उपासना करने वालों को ऋद्धि-सिद्धि मिलती हैं—मिलती हैं, ऐसा नहीं। लेकिन ये सारी शक्तियाँ अपने भीतर पड़ी हैं। They are all latent in you and me. अब उसको साधना करके कोई

आगे बढ़ाता है, कोई नहीं बढ़ाता है। तो मानसिक क्रिया मात्र यांत्रिक क्रिया है, यह जानने के बाद अतीन्द्रिय शक्तियों का मोह निकल जायेगा, वह उसका तीसरा परिणाम है। और अतीन्द्रिय शक्ति के चमत्कार शिक्षित और अशिक्षित जनता को जो आज आकर्षित कर रहे हैं, उससे आप हट जायेंगे। 'मुझे अतीन्द्रिय शक्तियों से लाभ उठाना है, मैं उठा रहा हूँ, उस व्यक्ति के पास इसलिए मैं जा रहा हूँ' ईमानदारी से यह समझ कर जाएँ। Be honest with yourself. किसी के पास गये जो ज्योतिष जानता है, गणित-ज्योतिष जानता है, ज्योतिष उससे पूछ लिया। लेकिन इसका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं। अतीन्द्रिय शक्ति एक व्यक्ति के पास है; व्यवहार में उसका उपयोग करना चाहते हैं, आप गये, सीधा-सादा सौदा (pure and simple bargain) कर लीजिए। लेकिन इसको अध्यात्म समझकर इसके पीछे मत जाइये, इतना मैं कहती हूँ। जीवन में अनन्त वैचित्र्य है—नानारत्ना वसुंधरा है, सब प्रकार के लोग हैं। सरकस में जायेंगे तो शारीरिक शक्ति का विकास किये हुए लोग हैं और ये धर्म-अध्यात्म के क्षेत्र में मानसिक अतिशक्तियों का विकास किये हुए लोग हैं। जैसे वह कसरत (gymnastic) है, वैसे ही यह बौद्धिक, भावनात्मक कसरत (gymnastic) है। उसको करने वाले लोग हैं, इतना उसका स्तर समझ लें—keep it at that level; तब फिर मनुष्य ग़लत रास्ते में नहीं जाता है। लेकिन जो उसी को अध्यात्म समझकर बैठते हैं, वे उसको क्यों अध्यात्म मानते हैं,—क्योंकि उसका कार्यकारण-भाव मालूम नहीं, कार्यकारण-संबंध मालूम नहीं। उसको चमत्कार क्यों कहते हैं? हमारी बुद्धि उसे उपस्थित नहीं कर सकती, इसलिये हम चमत्कार कहते हैं और जो कार्य घटित दीखता है उसके कारण हमें मालूम नहीं, कारण-राशि मालूम नहीं, इसलिये हम इसको प्रारब्ध कहते

हैं। अज्ञात कारण-राशि में से जितने अधिक कारण ज्ञात होते जायेंगे, उतना-उतना प्रारब्ध का चमत्कार लोग समझेंगे। तो मैं तीसरी चीज़ की ओर आप का ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ। अतीन्द्रिय शक्तियों का अध्यात्मिकता से कोई भी संबंध नहीं है। उनका उपयोग जिसको करना होगा, भले करे; लेकिन उसको आध्यात्मिक न मानें और कोई उसको आध्यात्मिक के नाम पर चलाना चाहे, तो उसका शिकार न बनें।

मुझे आप के सामने साधना की भूमिका और साधना का दृष्टिकोण आज रखना है। इसलिये आत्मपरिचय का प्रारंभ शरीर से कैसा होता है, तन से कैसे होता है, मन तक कैसे पहुँचते हैं, बुद्धि तक पहुँचते हैं, 'यह बात अभी मैंने आप के सामने रखी।

तो यह मानसिक क्रियाओं के शांत होने का जो रास्ता है, उसके बारे में और थोड़ी देर हम सोचें। मैंने यह कहा कि मानसिक क्रियाओं को शांत किया नहीं जा सकता। मन ऊपर उठने का क्षेत्र बदलेगा, अपने स्थान बदलेगा, समय बदलेगा। लेकिन मनके साथ लड़कर उसे हरा नहीं सकते। 'किसी के पास जायें, उनकी कृपा होगी तो मन शांत होगा'। अब इस मामले में भी अनाग्रही बुद्धि से आपके सामने कुछ बातें मैं रखूंगी। मेरे मनमें 'गुरु' शब्द से या 'गुरु' की जो परंपरा है, उससे न कोई दुश्मनी है, (उसके लिये मेरे मनमें कोई निषेध नहीं है) और उसके लिये कोई अनुकूलता भी नहीं है। क्योंकि मैं आजके मानव के लिये उसको अनावश्यक मानती हूँ। लोग समझते हैं कि किसी संत के पास जायेंगे, किसी ज्ञानी के पास जायेंगे, तो हमारा मन शांत होगा। इसीलिये सत्संग है, और तो कोई प्रयोजन उसका है नहीं। दिन-रात हमारा मन 'agitated

(क्षुब्ध) रहता है, क्षोभित रहता है, चंचल रहता है, अस्वस्थ रहता है, तो शांति के वातावरण में जाने से वह शांत होगा, इसमें वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्य है, क्योंकि आप यदि शांत स्थान में चले जाते हैं, सागर के किनारे तो आपके मनमें उद्वेग, क्षोभ जितने हैं, वे शांत होते हैं। आप घने जंगल में चले गये हों, आप हिमालय में चले गये हों, तो आप देखेंगे कि जितने तरंग यहां बंबई में बैठने से, घर में बैठने से, दफ्तर में बैठने से उठते हैं, उतने तरंग वहाँ नहीं उठते। क्योंकि उसके लिये वहां कारण नहीं। बाह्य कारण, परिस्थिति-गत कारण वहाँ हैं नहीं; इसलिये कुछ शांति का अनुभव होता है यानी वातावरण की मदद होती है अशांति को हटाने में; इसमें दो राय नहीं हो सकती। जो कहेंगे गुरु की आवश्यकता नहीं, वे भी यह तो कहेंगे कि कोई एकांत का स्थान होना चाहिये जहां शांति से आप बैठ सकें। कोई distraction (विक्षेप) न हो, relaxed state (विश्राम की, तनाव-रहित स्थिति) में बैठ सकें। इतनी मात्रा में तो उन्होंने वातावरण के सहयोग की बात मान ही ली। तो सत्संग का हेतु, सत्संग की अभिसंधि जो है वह यदि यह हो तो ठीक है कि वहां जाते हैं तो शांति के स्पंदन वातावरण में हैं, शांत व्यक्ति के पास आप बैठते हैं तो आपकी जो अशांति है, वह कुछ समय के लिये हट जाती है। प्रेमी व्यक्ति है तो उसके वातावरण में आप के भीतर छिपा हुआ जो प्रेम है वह ऊपर उठता है। क्यों ऊपर उठता है? बहुत सरल और बहुत ही सुस्पष्ट कारण है। हम कमरे में यदि कोई फूल रखें तो फूल की सुगंध आयेगी या नहीं? गुलाब के फूल हों, रजनीगन्धा हो, चमेली हो, फूल रहेंगे कोने में, आप का और फूल का शारीरिक कोई संबंध नहीं है, सारे कमरे में सुगंध आती है। सुगंध के जो 'पार्टिक्ल्स' हैं वे आप की आंखों से दिखते तो हैं नहीं, लेकिन ज़रूर हवा में

तैरते हुए कोई न कोई सूक्ष्म परमाणु सुगंध के आते होंगे, जिनका आप प्राण से सेवन करते हैं। तो आप कहते हैं इस कमरे में फूल की महक, इत्र की महक हवा में तैरती हुई सूक्ष्म परमाणु से आती है। तो, फूलों की जो सुगंध है उसके सूक्ष्म परमाणु आप मान सकते हैं और जो जीवित व्यक्ति है, उसके भीतर यदि शांति है, समाधान है, और प्रेममय उसका व्यक्तित्व बन गया है तो प्रेम के सूक्ष्म परमाणु तैरते होंगे हवा में, यह मानने में आप को क्या ऐतराज़ है ?

प्रेम के स्पन्दनों तक अभी विज्ञान पहुँचा नहीं है। अभी तो उष्णता के स्पन्दनों तक ही विज्ञान की पहुँच हुई है। लेकिन मेरे जैसा व्यक्ति आप के सामने यह बात रखेगा कि भाई आप शांत व्यक्ति के पास पहुँचे जिसके भीतर तनाव नहीं, संघर्ष नहीं हैं; तनाव, संघर्ष हट जाय तो फिर परमात्मा का जो रूप है वही रहेगा। लगेगा कि उसकी अंगुली काटें तो हाड़-मांस में से खून नहीं, प्रेम बहेगा। ऐसे प्रेम से सराबोर हों, तर-बतर हों तो ऐसे व्यक्ति के पास यदि आप बैठे हैं और उसके सहवास में हैं तो उसके शरीर से प्रेम 'रेडियेट' (प्रेम का विकिरण) होता है, particles of love या vibrations of love—प्रेम के परमाणु या स्पन्दन ऐसी भाषा यदि में रखूं तो आप क्या करेंगे ? मेरे लिये सत्संग का महत्त्व यह है कि ऐसे व्यक्ति के सहवास में उस के शरीर से स्फूर्त जो प्रेम के, स्नेह के स्पंदन हैं, वे स्पंदन आप के साथ सहयोग कर सकते हैं, आप जिज्ञासु हों तो। जिज्ञासु के लिये ऐसे स्पंदनों का उपयोग हो सकता है, होता है ऐसा हमने देखा है। लेकिन जिस व्यक्ति के पास गये उसके भीतर जो प्रेम की अवस्था, शांति की अवस्था, सदेह ब्रह्म अवस्था

है, उसको तो छोड़ दिया, व्यक्ति में ही फँस गये तो बस उसकी नाक, उसकी आखें, उसका शरीर मुग्ध करने लगा। पुत्रके मोह में नहीं गये तो गुरु के मोह में फँसे। तो भाई, गुरु का शरीर पार्थिव नहीं है तो आपके बेटे का भी पार्थिव नहीं। गुरु का शरीर चिन्मय और आपके बेटे का पार्थिव, अच्छा है आपका वर्गीकरण। पुत्र का मोह बाँधता है, पत्नी का मोह बाँधता है और गुरु का बाँधता नहीं। कहाँ से rationalisation (बुद्धिसंगत व्याख्या) लाते हैं, मेरी समझ में नहीं आता, लेकिन लोग फँस जाते हैं। यदि फिर दुर्भाग्य से कोई भी सुन्दर आदमी हो, कोई सुन्दर पुरुष हो, स्त्री हो तो गया, सत्सङ्ग किनारे रह गया। उनकी वाणी सुनी, बातों का पहली बार प्रभाव पड़ा, दूसरी बार आँखों का, तीसरी बार गये तो उसकी चेहरे की जो सुंदरता है उसका—तो उसी में फँसे। अरे, हाड़ माँस तो सब का है भाई, हाड़-मांस, है तो सबका पार्थिव है, चिन्मय है तो सब चिन्मय है। लेकिन समग्रता को खंडित कर दिया वहाँ। इसका शरीर चिन्मय है और हमारा पार्थिव है। इसलिये वह पूजार्ह और हमारा निषेधार्ह। भाई, यह भी आपका नहीं, वह भी उस का नहीं। वैश्विक चेतना के विकास में वह भी एक तरंग है और यह भी है एक तरंग, इससे अधिक कुछ नहीं। सत्संग होता नहीं है। थोड़े से अधिक संवेदनशील हों तो रूप में नहीं अटकेंगे, लेकिन उसके विचार की शैली में अटक जायेंगे। तर्कशुद्ध निर्दोष विचार उसके पास हों और दुर्भाग्य से वह अच्छा वक्ता भी हो तो उसकी विचारशैली, आवाज़ की मधुरता हो तो वह भी फँसाने लगेगी। स्थूल की ओर से सूक्ष्म की ओर चलकर अटकेंगे। स्थूल में अटकने वाले कभी बाहर भी निकलेंगे, मगर सूक्ष्म में फँसने वाले कभी नहीं निकलते। क्योंकि उनको पता चलते-चलते जिन्दगी निकल जाती है कि हम इसमें अटक

जायेंगे, उसमें अटक जायेंगे। विचारशैली, उसकी मधुरता, उसका काव्य, उसकी आवाज़ का संगीत, उसके प्रवचन में लय (लय बहता है presentation—प्रस्तुतीकरण में) है, उसमें अटक गये। सत्संग रह गया, उसके व्यक्तित्व से जो निकलते हैं स्पंदन उनसे लाभ उठाना और अपने जीवन में समृद्धता या ऐश्वर्य उपलब्ध करना वह रह जाता है, वहाँ जाकर एक प्रकार का नशा आने लगता है। शराब के अड्डे पर जानेवाले शराबियों को जो नशा आता है, और सत्संग को चलाने वाले को जो नशा चढ़ता है उसमें बहुत ज्यादा अन्तर नहीं, दोनों ही अपने आप को भूल पाते हैं—both of them mange to indulge in forgetfulness. और वह forgetfulness—विस्मृति अध्यात्म नहीं है, वह सत्संग नहीं है। यह हाथ जोड़ कर मैं कहना चाहती हूँ। इसकी बड़ी वेदना है मेरे चितमें।

भाई, गुरु यह कोई व्यक्ति नहीं है; गुरु एक अवस्था है व्यक्तित्व की। जिनके जीवन में समग्रता का संचार अणु-रेणुमें होता है, जिनकी चेतना समग्रता में प्रतिष्ठित हो जाती है, जिनकी वाणी में और व्यवहार में तटस्थता का सौरभ है, प्रेममय ही जिनका जीवन बन गया है, ऐसे व्यक्ति को आप गुरु-पद में पहुँचा हुआ व्यक्ति कहेंगे। वह एक अवस्था है,—it is a phase of being, लेकिन उसका आप identification (तादात्म्य) मत कीजिये उस व्यक्ति के शरीर के साथ। कहीं गुलाब का आपने पौधा लगाया, इतना बड़ा फूल आया और दूसरी तरफ़ लगाया वह धरती इतनी संपन्न नहीं है, उसको खाद न मिला हो, उसको इतनी सूर्य-किरण न मिली हों, विटामिन 'डी' न मिला हो, उसको स्वच्छ सुंदर जल न मिला हो और जहां पौधा लगाया है, वहां उसको प्यार करने वाले कोई नहीं हो। तो उसको छोटा फूल आयेगा और

बहुत प्यार से जो रखता है अपने पौधे को, समृद्ध धरती जहां है, वहाँ बड़ा फूल आयेगा। तो आप के व्यक्तित्व में जो चैतन्यमय शक्ति है, उसको वह प्यार नहीं मिला, उसको निषेध मिला। उसको संघर्ष मिला, उसको उपेक्षा मिली, अपमानित है, उपेक्षित है वह शरीर, वह मन; फूल खिला नहीं। वैसे संयोग हों तो खिलेगा। अच्छे फूल से व्यक्ति क्यों नहीं प्रसन्न होगा, ज़रूर होगा, उस पर प्रेम भी होगा, बार-बार देखने की इच्छा भी होगी। लेकिन समझना चाहिये कि गुलाब का पौधा वह है तो गुलाब का पौधा यह भी है जिसकी संभावनाओं का विकास नहीं हो पाया है। लेकिन हम तो पहले पौधे को authority (प्रभुत्व) में और दूसरे को inferiority complex (लघु-ग्रन्थि या हीन भावना) में जकड़ देते हैं। जो व्यक्ति गुरु पद में या अवस्था में प्रतिष्ठित हो गया है, संयोग से, उसके लिये उच्च पद की कल्पना इसमें से 'आँथोरिटी' (प्रभुत्व-भावना) का जन्म होता है। इसमें से बांधने वाली, संकोच की जो चीज़ है, वह क्या है? उस व्यक्ति के प्रति बांधने वाली 'आँथोरिटी' और क्या है? उस व्यक्ति के प्रति आसक्ति है, उसके विचारों के प्रति आसक्ति है। जो कोई बँध गया, इसके लिये कहा जाता है he has accepted authority—उसने प्रभुत्व स्वीकार कर लिया है। 'आँथोरिटी' शब्द से मैं घबराती हूँ। हम लोग उपनिषद् उठा लेते हैं, श्वेताश्वतर उपनिषद् उठा लिया, बृहदाण्यक उठाया या वेद पढ़ लिये। अब वेद पढ़ लिये, अर्थ समझ लिया, वेद की पोथी बांधकर रखी, बहुत प्रेम से रखी। लेकिन कोई यह नहीं कहता है कि वेद का अर्थ समझने पर पोथी बाँधकर क्यों रखी? और किसी (विकसित) व्यक्ति की बात समझ में आ गई उसके बाद उस व्यक्ति के पास बार-बार नहीं जायेंगे तो कहते हैं कि, 'अरे! ओह! उससे उसे ज्ञान प्राप्त हुआ, फिर भी उसको गुरु नहीं

मानता है'। अरे भाई! दीपक जलाते हैं उसके प्रकाश में काम करने के लिये, जीने के लिये, कदम उठाने के लिये, दीपकों को आलिंगन देकर बैठने के लिये नहीं। लेकिन हम तो दीपक के प्रकाश में, उसकी लौ में, ज्योति में इतने आकर्षित हो जाते हैं कि तत्त्वतः ही मूल ज्योति को भूल जाते हैं। इसलिये इस देश में सत्संग का अवसर होने पर भी, सत्संग करने लायक व्यक्तियों के उपलब्ध होने पर भी सत्संग होता नहीं, संप्रदाय बनते हैं।

चौथी बात, मनको शांत करने के लिये वातावरण का सहयोग मिलता है, उसी प्रकार व्यक्तियों का सहयोग मिल सकता है, उनसे लाभ भी उठायें, लेकिन व्यक्तियों से सहयोग लेने के बदले उनके आश्रित होकर और उनमें आसक्त होकर उनको बंधन में जकड़ना और खुद भी जकड़े जाना ठीक नहीं है। इस पाप से हमें इस देश को बचाना है। इस देश में यह बहुत चलता है। When you possess a thing, the thing also possesses you—जब आप किसी पर ममत्व का अधिकार जमाते हैं तो वह भी आप पर अधिकार जमाएगा। भारतवर्ष में पहली बार मुंह खोला है मैंने। इस विषय पर यहाँ जो कोई बोलता है उसे तुरन्त एक संत-साधु बना छोड़ते हैं लोग, खत्म कर देते हैं उसे। फिर वह कितना ही कहे कि मैं कोई गुरु नहीं और मेरे पास कोई शिष्य नहीं है, फिर भी उसके पास आने वाले भावनात्मक संबन्ध गुरु-शिष्य का बना लेंगे, उसे बाद में उसका पता चलेगा, लेकिन लोग तो बना ही लेंगे; खत्म कर देंगे, उसका सामान्यत्व का ऐश्वर्य लूट कर ये लोग चले जायेंगे। इसलिये मैं बहुत सावधान रहती हूँ। इस विषय पर बोलती नहीं हूँ। सामाजिक, आर्थिक प्रश्नों पर बोलती हूँ। क्योंकि अध्यात्म पर मुँह खोला इस देश में तो मैं खत्म हो जाऊँगी। फिर तो सामान्य मानव नहीं रहना

पड़ेगा। संत नाम की जो जाति है, उसमें जिसे डाल दिया जाता है, उसके जो मानवीय संबंध हैं वे सब qualified हो जाते हैं, मर्यादित हो जाते हैं। फिर उसे जो लोग मिलने के लिये आते हैं, वे या तो आध्यात्मिक समस्या की चर्चा के लिये आते हैं और या 'दर्शन' के लिये। अच्छा भाई, जो आया है उसी के आंखें हैं, और 'सन्त' को आंखें नहीं हैं क्या? सन्त तो 'दर्शन' करता नहीं, तो यह one way traffic (इकतरफ़ा व्यापार) शुरू होता है। मानवीय संबंध मर्यादित हो जाते हैं, आगे चलकर खण्डित हो जाते हैं। और जो आध्यात्मिक अनुभूति का रस प्रेम से लोगों के सामने रखा जाता है; वह कैद हो जाता है। उसके सुनने वाले, जो श्रोता हैं, admirers (प्रशंसक हैं), उनकी जो admiration (प्रशंसा) है, यह जो सुवर्ण वेड़ी है (यह लोहे की नहीं, यह सुवर्ण वेड़ी है), वह अपने बहुत ही नाजुक, कोमल धागे से बाँध लेती है। जिसे ऐसा बन्धन नहीं चाहिये, उसे बोलने में बहुत सावधान रहना पड़ता है।

तो 'गुरु' व्यक्ति का नाम नहीं है। 'गुरु' यह एक पद है, अवस्था है। उस अवस्था या state of total integration of personality (व्यक्तित्व की समग्रता) के लिए 'गुरु' शब्द का प्रयोग इस देश में चला आया है, चाहे जो भारतीय भाषा लीजिये, उसमें यही शब्द मिलेगा। इसलिए कहा कि मुझे निषेध करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी अनिवार्यता भी मुझे प्रतीत नहीं होती है। लेकिन उसका निषेध करना और उसकी अनिवार्यता का प्रतिपादन करना, दोनों मेरे लिए एक ही बात है, एक ही सिक्के के दो पहलू—adverse and converse हैं।

तो आज सुबह की सभा हम यहाँ पर समाप्त करेंगे। ऐसा कोई सत्य को उपलब्ध, प्रेम को उपलब्ध व्यक्ति अपने भाग्य से,

अनुकूलता से यदि देखने में आये, तो उसके पास जाना, उसके स्पंदनों से लाभ उठाना। क्योंकि जब आप शांत वातावरण में बैठते हैं तो अशांति के कारणों की खोज भी आप कर सकते हैं। व्यग्रता में संशोधन कार्य नहीं होता। आपने देखा होगा जितने 'रिसर्च स्कॉलर' (शोध-छात्र) होंगे उनको सबसे ज्यादा सुविधा मिलती है, दी जाती है। इसलिए दी जाती है कि 'रिसर्च' करने वालों को व्यग्रता नहीं होनी चाहिए। 'लेबोरेटरी' (प्रयोगशाला) में देखिए। साधना अपने जीवन में 'लेबोरेटरी' (प्रयोगशाला) खोलने का काम है। इसलिए यदि ऐसे व्यक्तियों के सहवास में जाते हैं तो अपने भीतर छिपी हुई अशांति के जो कारण हैं, वे शांति और स्नेह की किरणों में स्पष्ट हो उठते हैं—They are exposed to the rays of peace and love. इसलिए इस दृष्टि से सहयोग लेने की किसी को आवश्यकता मालूम होगी तो वह लेगा। जिसको आवश्यकता मालूम न होगी नहीं लेगा। उसमें क्या है? जिसको विवाह की ज़रूरत हुई उसने विवाह किया, ज़रूरत नहीं हुई उसने नहीं किया। उसका ब्रह्मचर्याश्रम श्रेष्ठ है, या उसका गृहस्थाश्रम? उसमें झगड़ा इस देश में चलता है। भगवान् को भी हमने अपने झगड़े का कारण बना लिया। जो अपने हाथ में आया वह कलह का कारण बना, जो अपने मन में और हाथ में आया उसको ही संघर्ष का कारण बनाया। ऐसे तो हम कुशल हैं। लेकिन हम प्रभु पर दया करें; उसको संघर्ष का कारण न बनायें और गुरु करना है या नहीं करना है, इसको भी किसी संघर्ष का कारण बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

———

दिनांक १७–३–६८

सहाय और आश्रय में जो अन्तर है वह हमने देखा। वातावरण का सहयोग लेना, वातावरण से मदद लेना, और वातावरण पर निर्भर हो जाना, उसके आश्रित बन जाना ये तीनों चीजें भिन्न हैं। अनुभूति-संपन्न, सत्य-उपलब्धि-संपन्न किसी व्यक्ति का सहयोग लेना, उसका जीवन, उसका सहवास, इनसे मदद लेना और उस व्यक्ति पर निर्भर होना, उस व्यक्ति के भावनात्मक आश्रित बनना या बौद्धिक आश्रित बनना, उन तीनों में जो अन्तर है वह आज सुबह हम ने देखा। मनुष्य को जीवन से सीखना होता है। हरेक व्यक्ति हरेक व्यक्ति से सीख सकता है। स्लेट, पेन्सिल हाथ में लेकर 'अ, आ, इ, ई' सीख लिया; उसके बाद 'स्लेट' को तिजोरी में या 'सेफ' में बंद करके कोई नहीं रखता। पहली कक्षा में विद्यार्थी गया, किताबें लीं, पढ़ कर ज्ञान प्राप्त किया, वर्ष के अन्त में परीक्षा दी; बाद किताबें संजो कर कोई नहीं रखता। इस देश में सहयोग, सहाय और आश्रय इन तीनों में से विवेक छूट गया है। इसलिये अध्यात्म के क्षेत्र में एक तरफ़ तो, वातावरण के बिना कुछ भी हो नहीं सकता ऐसा कहनेवाला आग्रही वर्ग, और वातावरण की आवश्यकता नहीं है, इस बात का आग्रह रखनेवाला दूसरा वर्ग। ये दो वर्ग हैं, conformist और non-conformist—परंपरावादी, रूढ़िवादी लोग हैं और परंपराओं को तोड़ने में गर्व अनुभव करनेवाला दूसरा वर्ग है। वैज्ञानिक दृष्टि से इन दोनों वर्गों में मुझे कोई अन्तर दिखाई नहीं देता है। गुरु की आवश्यकता, अनिवार्यता प्रतिपादन करनेवाला वर्ग और गुरु की आवश्यकता है ही नहीं, इतना ही

नहीं, उसका निषेध करनेवाला वर्ग, दोनों में मुझे कोई अन्तर नज़र नहीं आता। ये दोनों extremes ('अति' के दो छोर) हैं और फिर non-conformism (परम्परा-भंग) भी एक प्रकार का conformism (परम्पराग्रह) बन जाता है। वह भी एक परम्परा बन जाती है। इसलिये इन दोनों के बीच से गुज़रना है। इन दोनों के बीच गुज़रते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से जहाँ से जो सीख सकते हैं सीखना है। जहाँ से जो उपलब्ध होता है, वह लेना है, लेकिन उसके गुलाम नहीं बनना है।

घर में बैठते हैं तो मन नहीं लगता, बाहर हो जाते हैं; इसलिये उठ कर मन्दिर में या सिनेमा-थियेटर में जानेवाले व्यक्ति में—दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वह तो अपने से दूर भागना चाहता है। एक भाग कर सिनेमा-थियेटर जाता है, दूसरा मन्दिर या गिरजाघर जाता है। लेकिन दोनों के कार्य के पीछे, दोनों घटनाओं के पीछे जो हेतु है, जो वृत्ति है, वह एक ही है। अपने से भागना है। To escape from oneself—एकांत में जो अपना सहवास है अपने आप सहन नहीं होता है; इसलिये रेडियो का 'स्वीच ऑन' करनेवाले और भजन गाने वाले इनमें कोई अन्तर नहीं है। सवाल इतना ही है कि एकांत सहन नहीं होता यदि यही उसका अधिष्ठान है रेडियो खोलने की क्रिया का या भजन का, तो फिर दोनों में अन्तर क्या ? 'स्वान्तःसुखाय' जीनेवालों को उसका आनन्द अलग है, लेकिन अपने से दूर भागने के लिये, जीवन से दूर भागने के लिए, जीवन-विमुखता में से जिस कर्म का निर्माण होता है वह कभी साधन नहीं बन सकता। तो आज सुबह से हम यह देख रहे हैं कि, (और इस पर मैं और ज़ोर देना चाहती हूँ क्योंकि इस देश में दो प्रवाह चल पड़े हैं) सनातनी परम्परावादी रूढ़ि का एक

वर्ग और रूढ़ियों को, परम्पराओं को तोड़नेवाला दूसरा वर्ग—ये दो आज चल रहे हैं। मेरी दृष्टि से दोनों शक्तियाँ ग़लत रास्ते पर जा रही हैं; जैसे कोई कहेगा कि ब्रह्मचर्य यह मुक्ति के लिये अनिवार्य है और कोई कहेगा कि नहीं गृहस्थाश्रम अनिवार्य है। अब गृहस्थाश्रम और ब्रह्मचर्याश्रय का मुक्ति से क्या सम्बन्ध है भाई ? जिसकी जैसी रुचि। विवाह कर लिया, रुचि है, नहीं किया, रुचि है। उससे, एक नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य उसके साथ जोड़ देना मेरी दृष्टि से अनावश्यक है, unessential (अमौलिक) को essential (मौलिक) स्थान दिया जा रहा है।

यह मदद मिल सकती है वातावरण से और व्यक्तियों से, इस का इन्कार नहीं हो सकता। जिस प्रकार फूलों के बगीचे में जाते हैं, चित प्रसन्न होता है; यह सहज परिणाम है, नदी के किनारे जाते हैं, कल-कल-धारा दिखती है, पहाड़ों पर जाते हैं तो उनकी भव्यता से, दिव्यता से भीतर की भव्यता जाग उठती है। यह तो स्वाभाविक संबंध है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के भीतर के सभी संघर्ष शांत हुए हैं, जिस व्यक्ति के भीतर संकल्प-विकल्प के तरंग भी शांत हो गये हैं, जिस व्यक्ति के भीतर वाणी और मन एक ही अवस्था के पर्याय बन गये हैं, जिस व्यक्ति के भीतर व्यग्रता, व्यस्तता और एकाग्रता एक ही अवस्था के प्रकार हो गये हैं, ऐसे प्रेममय व्यक्ति के सहवास में यदि कोई बैठते हैं तो उसकी indirect help, अप्रत्यक्ष मदद होती है।

आमूलाग्र क्रन्ति या total transformation का यह जो तीसरा प्रवचन है, इसमें एक बात और रखना चाहती हूं। क्योंकि गुरुपद और 'गुरु' अवस्था यह विषय हम ने सुबह ले लिया था, इसलिये इसका आगे का आवश्यक अंग लेना चाहती हूं कि शरणागति, प्रपत्ति के नाम पर, इन सब चीज़ों के नाम पर इस देश में

जैसी juvenile delinquency (बचकानी अपचारिता) होती है वैसी ही spiritual delinquency (आध्यात्मिक अपचारिता) चलती है। शरणागति और प्रपत्ति, किसी के अनुग्रह के याचक बनना, यह जो अध्यात्म के लिये अनिवार्य अंग माना जाता है, इस में से एक प्रकार का inferiority complex (हीनता-ग्रन्थि) इस देश में बहुत चला आया है। भक्तियोग के नाम पर जो कुछ चला है, चाहे वह देश के किसी कोने का कोई भी मत हो—भक्ति के नाम पर इतनी अन्धाधुन्ध चलती है कि मुझे बड़ी दया आती है। बड़ा दुःख भी होता है। भक्ति यह कमज़ोरों का काम है भी नहीं, शरणागति कायरों का काम है नहीं, वह तो समर्थ की लीला है, वह तो स्वाश्रय और स्वायत्त जीवन जिस का है, उस की प्रेमलीला है। जिसको आप भक्ति कहेंगे, अनुग्रह कहेंगे, यह वहां का व्यवहार है उस level (स्तर) पर, लेकिन हम समझते हैं कि सदेह हम को कुछ अध्यात्म में करना नहीं पड़ता। हम भक्ति करेंगे, कोई देनेवाला दाता देगा, चाहे वह प्रभु देगा, चाहे वह गुरु देगा। मुझे लगता है it is a sign of immaturity—यह तो अपरिपक्वता की भाषा है। प्रत्येक मनुष्य में वह शक्ति निहित है, जो एक मनुष्य कर सकता है, वह सभी मनुष्य कर सकते हैं। एक species के, जाति के सब लोग हैं। तो मनुष्य मात्र में वह शक्ति निहित है कि जो उसको सभी बंधनों से परे स्वयं ले जाती है। यदि अपने ही हाथों वह अपना रास्ता न रोके तो संसार में उस को रोकने वाली कोई शक्ति नहीं है। लेकिन जब तक यह मान बैठेंगे कि हम कुछ नहीं कर सकते, हम क्या कर सकते हैं, हम हीन, दीन हैं—"मो सम कौन कुटिल खल कामी"—हमसे कुछ होगा ही नहीं। गुरु करेंगे, प्रभु करेंगे तो होगा। उसका नाम शरणागति नहीं, उसका नाम भक्ति नहीं। जैसे बाज़ार में 'रेडीमेड' चीजें

मिलती हैं। 'रेडीमेड' कपड़े लायें तो 'टेलरिंग' की, सिलाई की ज़रूरत नहीं। उसी प्रकार अध्यात्म में 'रेडीमेड' चीजें खरीदने की इच्छा हो तो, इस सौदे में, यह भक्ति-मुक्ति खरीदी नहीं जा सकती। अपनी तंद्रा, अपना आलस, अपना प्रमाद—इनको पहचानना चाहिये। और साधना करने के कठोर परिश्रम से बच कर हम भक्तिमार्ग की तरफ़ तो कहीं नहीं जा रहे हैं, यह देखना चाहिये। पता नहीं क्यों, इस देश में ऐसा ही है। कौटुम्बिक संबंध, सामाजिक संबंध में आप देखेंगे कि यहाँ स्वायत्त जीवन का गर्व और महिमा बहुत कम है। Domination, वात्सल्य के नाम पर जो (प्रभुत्व) 'डोमिनेशन' परिवार में चलता है और गुरु-शिष्यों के संबंधों के नाम पर धर्म-क्षेत्र में जो प्रभुत्ववाद चलता है और लोकशाही के नाम पर नेताओं का, नेतृत्व के नाम पर प्रभुत्ववाद चलता है—इस देश में यह एक अभिशाप है। धार्मिक जीवन से इस प्रभुत्ववादी चीज़ को और न्यूनगंडी को हटाना चाहिये, आध्यात्मिक जीवन से इन चीज़ों को हटाना चाहिये। Man has become matured enough to grow into total transformation of himself. अपने ही परिश्रम से वह ख़ुद वहां तक पहुंच सकता है। पहुंचना तो कोई बाहर है ही नहीं। यह तो भीतर ही भीतर है। बल्कि वहाँ बाहर-भीतर शब्द ही वैसे निरर्थक हैं।

तो इस चीज़ की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहती हूं क्यों कि याचना, भीख मांगना—मेरे शब्द कटु लगेंगे, किन्तु यही व्यवहार मठों में, मंदिरों में, आश्रमों में चलता है, गुरु-शिष्यों के संबंधों में चलता है। छोटे-छोटे जो संकेत हैं उन संकेतों की ओर आप ध्यान दें तो आप भी जानेंगे कि उसी तरफ़ बढ़नेवाले मनुष्य स्वाश्रयी कभी बन नहीं पाते, आत्मनिर्भर बन नहीं पाते। अंत

तक वे यह समझते हैं कि यह नम्रता है। 'मैं कुछ नहीं कर सकती, वह जो करता है वही है'—यह नम्रता थोड़े ही है? नम्रता वीरों का शृंगार है। असमर्थों की वाणी और व्यवहार में नम्रता की गंध कहां से आयेगी? यह तो escapism (पलायनवाद) है।

इसलिये समझ लेना चाहिये कि अध्यात्म के लिये भी कीमत चुकानी पड़ती है, इसके लिये परिश्रम करना पड़ता है, लेने-देने की चीज़ नहीं है। कल मैंने कहा था कि माता का कितना ही प्रेम हो, बालक के लिये वह स्वयं भोजन नहीं कर सकती; बालक को ही स्वयं भोजन करना पड़ेगा और स्वयं ही हजम करना पड़ेगा। तब उसको पुष्टि और शांति मिलेगी। उसी प्रकार एक व्यक्ति अगर आप को संयोग से मिल भी जाय तो मार्गदर्शन कर सकता है, लेकिन वह व्यक्ति आप के लिये रास्ता चल नहीं सकता। चलना आप को ही होगा। उस व्यक्ति के कंधे पर बैठकर आप चल नहीं सकते, क्योंकि एक व्यक्ति की अनुभूति दूसरे के काम की नहीं है। हरेक की अनुभूति उसके साथ है, उसके संस्कार के कारण, उसके जीवन के कारण, उसके माता-पिता के कारण आधार मिलता है। आखिर शरीर क्या है? चेतना का आधार-मात्र है। हरेक का आधार भिन्न है, इसलिये एक की अनुभूति दूसरे के काम में नहीं आती। वह सूचक बन सकती है, वह मार्गदर्शक बन सकती है। लेकिन वह वाहन बन कर आप को उठा कर ले नहीं जा सकती। और इस देश के भले-से-भले शिक्षित और अशिक्षित आदमी भी इतनी सरल चीज़ नहीं समझ सकते। एक संत को छोड़कर, दूसरा, फिर तीसरा संत पकड़ते हैं, छोड़ते हैं। जो latest fashion (हाल में चालू फैशन) होगी उसके पीछे

जाते हैं, लेकिन मन में यह वासना रहती है कि वही हमारी नाव उस पार लगा देगा, खिवैय्या बनेगा, हमारी नाव पार लगा देगा। कोई किसी की नाव नहीं खेता। मेरे मित्रों! अपनी नाव अपने आप खेना पड़ती है। उससे बचने का रास्ता नहीं है। काम में भी 'शॉर्टकट', अध्यात्म में भी 'शार्टकट', व्यवहार में 'रेडिमेड' चीजें और अध्यात्म में भी 'रेडीमेड' चीजें। यह आत्मवंचना है। और जिस राष्ट्र में सामुदायिक आत्मवंचना चलती है, उस देश का भविष्य कोई उज्ज्वल नहीं। इसलिये यह चीज़ आपके सामने रख रही हूँ।

मैंने कहा कि हरेक व्यक्ति वहाँ तक जा सकता है। यह क्यों कहा? इसलिये कहा कि इस वैश्विक चेतना की उत्क्रान्ति में यह मानव वेश में जो अवगुंठित चेतना है यह consummation of evolution (विकास का चरमोत्कर्ष) है। वनस्पति, पशु, पक्षी इन सब में संवेदना है, इन सब में चिंतन की शक्ति है। वनस्पति तक प्रतिक्रिया करती है; आप प्यार से स्पर्श करेंगे तो फूल की पंखुड़ी काँप उठेगी और प्रतिसाद देगी। आपके प्यार से एक-एक पंखुड़ी क्यों काँप रही है, क्यों स्पंदित हो रही है, यह फूल समझ नहीं सकते और मनुष्य में भी वैसा होता है। आप किसी के हाथ को स्पर्श कीजिये प्यार से, वह भी रोमांचित हो जाता है। एक चैतन्य के साथ दूसरे चैतन्य का आलिंगन है, यह सिर्फ़ हाथों का स्पर्श नहीं है। तो वह जो रोमांचित होता है तो क्यों रोमांचित होता है, साथ-साथ यह भी जानता है। यह स्वसंवेदना जो है, self-consciousness (स्व-चेतना) जो है, मनुष्य के रूप में वैश्विक चेतना में स्वसंवेदना खिल उठती है, वह पशु पक्षी में नहीं है। हाथी सोच सकता है, कुत्ता सोच सकता है, कुत्ते के आँसू आ सकते हैं और घोड़े को आँसू आ

सकते हैं, लेकिन मेरे आँसू क्यों आ रहे हैं, यह थोड़ा समझ नहीं सकता। तो सोचना, क्यों सोच रहे हैं यह समझना और यह जो सोच रहा हूँ इसकी जड़ में कारण क्या है, इसको भी देखना; ज्ञान, जो बाह्य परिस्थिति है उसको समझना, चित्त की प्रतिक्रिया को समझना, और प्रतिक्रिया की जड़ों को भी समझना—ये तीनों काम मनुष्य एक समय कर सकता है। पशु पक्षियों में यह संभव नहीं। They are not gifted with the quality of self-consciousness—(पशु-पक्षियों को स्व-चेतना की यह देन नहीं मिली है)। तो, मनुष्य की चेतना में यह दोहरा काम है, it works double उसका काम (function) है एक तो इन्द्रियों का विषयों के साथ संबंध आने पर उनका ज्ञान प्राप्त करना, उससे चित्त में प्रतिक्रिया का होना, और साथ ही प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया की जड़ दोनों को देखना और जोड़ना। यह शक्ति मनुष्य मात्र में है, इसी में निहित उसकी यह जो संभावना है, अपने मूल तत्त्व को, मूल स्वरूप को पहचानने की, जानने की संभावना जो है वही मानवता की महिमा है। 'नहि मनुष्यात् परतरं हि किंचित्'। भाई, मनुष्य से कोई श्रेष्ठ नहीं, यह क्यों कहा? यह मनुष्य की इतनी महिमा क्यों गायी? इसलिए कि स्वसंवेद्यता और सर्जनशीलता मानवीय जीवन के ये दो गौरवभूत, तत्त्व हैं और ये प्रत्येक मनुष्य में पड़े हैं। प्रत्येक मनुष्य में यह होने के कारण उसमें संभावना है, चाहे तो दिव्यता की ओर बढ़ने की, या चाहे तो पशुता की ओर झुकने की। इन दोनों में से एक, जो रास्ता चाहता हो, वह ले सकता है। पशुओं के लिए जीवन भर पशु ही रहना पड़ता है, लेकिन मनुष्य के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह जिस हालत में पैदा हुआ है उसी प्रकार की चेतना को लेकर इस दुनिया को

छोड़े। वह अपनी सारी संभावनाओं को, समग्र संभावनाओं को खिलाने में, उनका विकास करने में समर्थ है।

तो मानव मात्र मुक्ति का अधिकारी है; स्त्री हो चाहे पुरुष हो, चाहे जिस वर्ण का हो, चाहे जिस देश का हो। यह मुक्ति कहिये, सत्य की उपलब्धि कहिये, कैवल्य कहिये या निर्वाण कहिये प्रत्येक मनुष्य मात्र को यह जन्म सिद्ध अधिकार है और यह सुलभ है और सर्वसुलभ है। लोगों ने इसे दुर्लभ मान लिया। जैसे कि धर्म के पुरोहितों ने और ठेकेदारों ने भगवान् और मनुष्य के बीच एक बहुत बड़ा पर्दा खड़ा कर दिया है और इस तंत्र में जायेंगे तो प्रभु मिलेगा और उस तंत्र को संभालने वाला, आपके लिए 'काम' करने वाला फिर एक वर्ग पुरोहितों का खड़ा हो गया। इसी पुरोहित-वर्ग की चेष्टा भारत में या यूरोप में देखी गई तो क्रान्तिकारी आतमा तड़प उठी। लेकिन मुझे आज इसमें जाना नहीं है। मैं इतना ही कह रही हूँ कि प्रभु और मनुष्य के बीच पुरोहितों की जिस प्रकार दीवार खड़ी हुई, उसी प्रकार अध्यात्म में सत्य-उपलब्धि और मनुष्य के बीच दीवार खड़ी की गई। वह दीवार आवश्यक नहीं है। इतना ही मैं कहना चाहती हूँ। आत्मसाक्षात्कार प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। लेकिन, लोगों ने आत्मसाक्षात्कार को बहुत मुश्किल, बहुत कठिन माना। जिन पर प्रभु का अनुग्रह होगा वही थोड़े लोग जो संसार में नहीं है, एकान्त में रहते हैं, उन्हीं के लिए आत्मसाक्षात्कार और आत्मरत जीवन संभव है। इस प्रकार के भ्रम पैदा कर दिये गये हैं और यह भ्रम इतने सार्वत्रिक हो गये हैं कि भारत का मनुष्य यह समझता है कि यह हमारा काम नहीं, हम संसारी हैं। ओहो, क्या संसारी होना बहुत बड़ा पाप है? भाई, मनुष्य हो न? फिर एक मनुष्य ने जो किया, वह तुम भी कर सकते हो। तो यह

न्यूनग्रन्थि (Inferiority complex) निकल जाना चाहिये। यह एक विशिष्ट वर्ग का, विशिष्ट कक्षा का अधिकार नहीं है। आपके और मेरे लिये, सर्व-सामान्य के लिये यह सुलभ है, यह कहने के लिये मैं आई हूँ। आप लोगों में से बहुत से तो १०, १२ या १५ वर्षों से मुझे जानते हैं। कोई मठों-मंडलों में मैं रही नहीं, सत्य की उपलब्धि के बाद, एक व्यक्ति के नाते आई हूँ। आप में से एक व्यक्ति जो कर सकता है, वह आप भी कर सकते हैं। दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है इस प्रवचन के लिये। There is nothing mysterious and mystical about self-realisation—आत्मसाक्षात्कार में रहस्यात्मकता कुछ भी नहीं है।

अतीन्द्रिय शक्ति के बारे में हमने आज सुबह चर्चा चलाई। उसका और अध्यात्म का कोई संबंध नहीं है। वह तो रास्ते में खेलते-कूदते कुछ शक्तियाँ खिल उठती हैं, उसका प्रदर्शन (demonstration) कुछ लोग करते हैं, कुछ नहीं करते। उनका संबंध नहीं है। तो आत्मसाक्षात्कार कोई निगूढ़, रहस्यमय वस्तु है ऐसा भूल करके भी मत समझिये। घर-घर बैठे-बैठे रसोई बनानेवाली, कपड़ा धोने वाली, बच्चों का पालन-पोषण करने वाली माँ हो गृहिणी हो, या दफ्तर में बैठनेवाला, नौकरी करनेवाला व्यापार में काम करने वाला हो—सबके लिये संभव है, यह पहला प्रत्यय और आत्मविश्वास होना चाहिये। It is one's own capacity और यह जब तक नहीं होता है तब तक मैं नहीं समझती कि किसी भी प्रकार की साधना से कोई ओज और तेज मनुष्य को मिलेगा। समय अपने पास अधिक नहीं है, इसकी भी गहराई में मैं जाती कि यह Inferiority complex या obsession (हीन ग्रन्थि या न्यूनगण्डी और अभिभूतावस्था)

किस प्रकार बढ़ायी जाती है, किस प्रकार उसका भरण-पोषण होता है समाज में, इस सबके विस्तार में हम जाते, लेकिन आज अपने पास समय नहीं है। तो वह आत्मविश्वास की मूल भित्ति चाहिये, अब यह आत्मविश्वास होने के बाद और हम में से प्रत्येक व्यक्ति को यह उपलब्धि हो सकती है यह जानने के बाद क्या ?

हरेक विचार, आचार और व्यवहार को समग्रता के साथ संबंधित बनाने का काम धर्म है—पुण्य है और अध्यात्म है और उसको समग्रता से तोड़ना ही पाप है, अधर्म है। तो यह समग्रता के साथ जोड़ते कैसे हैं ? या total transformation आमूलाग्र (क्रान्ति) के रास्ते पर चलते कैसे हैं ? इस चीज़ को हम अभी लेंगे।

जहाँ से प्रारंभ किया था वहीं फिर चलें—कि अपने मन के साथ, अपने शरीर के साथ परिचय हो और मैत्री हो। इस देह की कुछ आवश्यकता है, अन्न चाहिये, वस्त्र चाहिये, मकान चाहिये। एकांत जीवन की शक्ति नहीं है तो परिवार बनाना चाहते हैं। अकेला रहने का साहस नहीं, परिवार बनाना चाहते हैं। चार मिलकर रहेंगे तो जीवनयात्रा करेंगे। अब इस तरफ़ खंडित दर्शन कौन-सा और समग्रता का कौन सा ? एक उदाहरण लें। एक तो यह है कि भाई देह के लिये वस्त्र चाहिए, अन्न चाहिये। समाज में बैठा हूँ। चाहे जिस धंधे में जायें, चाहे किसी उद्योग में जायें, सत्य-निष्ठा, न्याय-निष्ठा, धर्म-निष्ठा को हम सुरक्षित नहीं रख पाते। हमें असत्य का आश्रय लेना पड़ता है, न्याय से जी नहीं सकते, यह जानते हैं। यह होते हुए भी इस समाज में रहना है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है। मुझे मालूम नहीं कितने व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं

को वैज्ञानिक ढंग से देखते हैं। भाई, हम कुल ४ आदमी हैं, ४ या ५ आदमी हैं तो हमें ५०० रुपये चाहिये या १००० चाहिये और इतना कमाना है, इसलिये यह जो अर्थ-व्यवस्था है इसके लिये उतने पाप का मुझे सहभागी होना पड़ेगा, इससे आगे मुझे नहीं बढ़ना है। लेकिन यहाँ किसी आदमी को स्थिर पाया है? यह मेरी आवश्यकता है, यह परिवार की आवश्यकता है, इतना मैं कमाऊँगा ऐसी मर्यादा कोई बाँधता है? लेकिन हम आवश्यकता के लिये कमाते ही नहीं हैं। हम तो कमाते हैं social recognition (सामाजिक प्रतिष्ठा) के लिये, तो फिर स्पर्धा चलती है उसमें हम शामिल होते हैं। अब यह जो स्पर्धा में शामिल होने की प्रवृत्ति है यह आवश्यकता की परिपूर्ति नहीं है। यह तो महत्त्वाकांक्षा है, यह तो अहंकार है। लेकिन लोग मुझे कहते हैं कि 'हम क्या करें? हम तो संसारी आदमी ठहरे, हमें तो दिन-रात खटना पड़ता है'। नहीं भाई, आवश्यकता की वैज्ञानिक पूर्ति के लिये आप खटते नहीं हैं। आप अपने अहंकार के gratification (परितोषण) के लिये सामाजिक स्पर्धा में उतरते हैं। आवश्यकता की परिपूर्ति के लिये एक मर्यादा और सीमा है, लेकिन महत्त्वाकांक्षा का कभी अंत नहीं है। और फिर यह सत्ता की जो महत्त्वाकांक्षा है, उसमें संघर्ष है। यह विद्या-संग्रह, धन-संग्रह की है, या प्रतिष्ठा की है, या अध्यात्म-संस्था के संग्रह की है या अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की है— महत्त्वाकांक्षा का अन्त नहीं है। और महत्त्वाकांक्षा की छाया में हमेशा frustration (आशाभंग) पलता है। अहंकार की छाया ही निराशा है। सफलता और विफलता के झूले में झूलने वाली जिंदगी बीती जाती है और शांति और समाधान से कभी भेंट नहीं होती। अहंकार को समग्रता के साथ जोड़ने का मतलब क्या है? मैं और मेरा परिवार, एक पीढ़ी नहीं, दो

पीढ़ियों की व्यवस्था करना चाहोगे तो करो। अर्थसंग्रह के बारे में यह वैज्ञानिक दृष्टि अपनाएँ, जहां लक्ष्मण-रेखा खींची जायेगी वहां आप साल भर की आवश्यकता कमायें मुझे कुछ कहना नहीं है। मैं यह कहनेवालों में से नहीं हूँ, Stoicism (विरक्तिवाद) का प्रचार नहीं करना चाहती और sadist (पीड़नरतिक) भी मैं नहीं हूँ, और asceticism (तपश्चर्या) का भी प्रचार करना नहीं चाहती हूँ। मैं इतना ही कहना चाहती हूँ कि कहीं लक्ष्मणरेखा खींचें। आर्थिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये झूठ मत बोलिये, जो नियम तोड़ेंगे, जो इन्कम-टेक्स बचायेंगे वह न करें। कहीं न कहीं लक्ष्मण-रेखा हो कि भाई इतना मेरा compromise (समझौता) है। समाज में जीना है, समाज के साथ मुझे रहना है तो इतनी मेरी आवश्यकता है, उसके लिये इतना कर रहा हूँ। बस, इसके आगे नहीं। कभी-कभी तो सोचें और सोचते ही नहीं। बढ़ते ही जाते हैं। शारीरिक सुविधाओं के सामान जुटाते-जुटाते जिंदगी निकल जाती है। सुख की छाया भी नहीं छू सकती। सुख तो किनारे रह गया। क्योंकि सुविधा का सामान जुटाने में और फिर उसको सँभालने में शक्ति खर्च करते हैं, उसमें समय जाता है। और फिर सुख, शान्ति, समाधान, संतोष इसमें से होता नहीं है यह देखकर तड़पते हुए, चिढ़े हुए जीते चले जाते हैं। कभी सट्टा लग गया तो खुश हैं, कभी नहीं लगा, खिन्न हैं— इसी में जिंदगी निकल जाती है। फिर कहते हैं 'भाई इतना सब किया, सत्संग किया, शिविर में गये, कुछ भी नहीं हुआ।' कैसे होगा भाई? तेरा तो अर्थ के बारे में, आजीविका के बारे में जो दर्शन है वह समग्रता के साथ सम्बन्धित है नहीं।

शरीर मेरा साधना का वाहन है। मोटर की भाँति शरीर एक साधन है, वाहन है। इसकी आवश्यकता की पूर्ति करना है, वही

तो चाहते हैं। पशुओं को पेट भरने पर भोजन जमा करने की जगह नहीं रहती; मोटर की टंकी में पेट्रोल भरने के बाद यदि और भरने की इच्छा हो तो मोटर नहीं चलेगी। उपयोग नहीं ज्यादा पेट्रोल का। मनुष्य का अहंकार एक ऐसा संग्रहस्थान है, ऐसा भंडार है जिसके तल है ही नहीं। वह अतल है। भरते, भरते, भरते ही जायें, भरता ही नहीं है। Bottomless pit. Your vanity, your ego, however and how much you may try to gratify, the ego is not going to be gratified. It may always demand more and more. तो समग्रता से जहाँ से सम्बन्ध आयेगा वहाँ पारिवारिक आवश्यकताओं की वैज्ञानिक पूर्ति के बाद मनुष्य आगे संग्रह की लालसा में, महत्त्वाकांक्षा की अभिलाषा में बढ़ेगा नहीं। बस यहाँ तक और आगे नहीं। Thus and no further. वह वहाँ स्थिर हो जाता है। दूसरा उदाहरण देती हूँ। परिवार है, परिवार में १० व्यक्ति हैं। १० व्यक्तियों के १० temperament (स्वभाव) हैं, १० व्यक्तियों के १० प्रकार के संस्कार हैं, और उनको अभिव्यक्त करने के लिये १० अलग पद्धतियाँ है। मैं चाहूँ कि मुझे जो पद्धति प्रिय है उस पर सब चलें। आखिर परिवार में दुःख किस बात का है? इसीका है न कि यह कहते हैं कि बेटा मेरी बात नहीं मानता, बहन मेरी बात नहीं मानती। पत्नी पति के बारे में और पति पत्नी के बारे में कहता है। दुःख होता है। मेरी जो पद्धति, उपाय है, उसकी अपेक्षा सब से रखते हैं और उस अपेक्षा को धक्का लगने वाली चीज़ हुई तो मेरे अहंकार का नाग जो है वह क्रोध से फुफकार उठता है। तो फिर तनाव पैदा होता है। मैं खुद अपने क्रोध से परेशान हूँ और उस क्रोध के तनाव से दूसरे परेशान होते हैं। यदि समग्रता के साथ जोड़ देंगे, तो क्या होगा? क्रोध तो उठा है, भाई, आदत है तो क्रोध

उठता है, आदत है तो मन दुःखी हुआ। लेकिन मेरे मनका महत्त्व सारे परिवार की सुख-शान्ति के वातावरण से ज्यादा नहीं। यह ध्यान में आयेगा कि मेरी प्रतिक्रिया का महत्त्व परिवार की जो इकाई है, उससे ज्यादा नहीं। यह मेरी समझ में आयेगा तो फिर उस प्रतिक्रिया का संयम अपने आप हो जाता है। निग्रह नहीं करना पड़ता है। समग्रता के साथ अपने आपको जोड़ते ही, थोड़ा एक घण्टा जोड़ते ही हो क्या जाता है? यह मनुष्य का जो अहंकार फुफकार कर बाहर निकलता है वह पीछे हो जाता है।

मैं यह कह रही थी कि प्रत्येक कर्म को, प्रत्येक विचार को समग्रता के साथ, अपनी अखिलाई के साथ जोड़ना है। शुरू-शुरू में अखंड जागृत रहना पड़ता है। सुबह से रात तक व्यवहार में एक प्रकार के कठोर आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण की साधना करनी पड़ती है। और यह साधना न हो तो क्या कमरा बन्द कर लें और एक घण्टा बैठें? तो ज़रूर बैठिये। मनुष्य स्नान करता है तो relaxation (विश्रान्ति) उसको मिलती है, उसी प्रकार २४ घण्टों में एक घण्टा बैठना चाहिये। आँखों को देखना नहीं पड़े, कानों को सुनना नहीं पड़े, मनको काम नहीं करना पड़े, प्राण विश्राम करें, इस प्रकार सामूहिक विश्राम में २४ घण्टों में एक घण्टा एकांत में चले जायें, take a dive deep into the silence of solitude. उससे आपको ताज़गी आती है, जैसे स्नान से आती है। इसलिये वह तो करें, लेकिन सत्य-उपलब्धि की जिसमें आकांक्षा हो उस व्यक्ति के लिये साधना तो २४ घण्टे में प्रतिपल में है। जहाँ खड़े होंगे, जहाँ बैठे होंगे वहीं पर उसे आत्मपरीक्षण और निरीक्षण प्रारम्भ करना पड़ता है। आत्मनिरीक्षण और परीक्षण करते हुए, प्रतिक्रिया का गुलाम होकर तो मैं नहीं चल

रहा हूँ, यह देखना पड़ता है। जब प्रतिक्रिया के बारे में तटस्थता स्वाभाविक बन जाती है तब प्रतिक्रिया नहीं होगी। उस तटस्थता में से एक प्रकार की ताकत आती है। प्रतिक्रिया क्या है, प्रतिसाद क्या है difference between reaction and response—यह हम देख चुके हैं। तो मैं यह कह रही थी कि २४ घण्टे, अहर्निश जागृति न हो तो हम जागृति में हैं इस भ्रम में हम न रहें। हमको न जागृति का पता है, न निद्रा का पता है। हम तो मूर्छा में जीते चले जाते हैं, एक प्रकार की बेहोशी में जीते चले जाते हैं। दिन के पीछे रात आती है और रात के पीछे दिन दौड़ते हैं। हमारी श्वासों की माला चलती है, थोड़े हाथ-पाँव घूमते हैं। मरते नहीं हैं तो जीते हैं। यह जिन्दगी नहीं, यह जीवन नहीं। इसमें समाधान, शान्ति और प्रसाद नहीं। तो अखंड जागृति है साधना। मैंने कहा था कि साधना शब्द का उपयोग मैं बहुत झिझक के साथ संकोच के साथ, कर रही हूँ। इसके साथ हज़ारों ग़लत भाव जुड़ गये हैं। साधना यानी एकांत में जाकर बैठकर ही करनी पड़ती है ऐसा नहीं। उसके लिये, आपको अभ्यास नहीं है तो, आवृत्ति करनी पड़ती है। तो एकान्त में बैठ कर आवृत्ति करना। लेकिन मेरा अभिप्राय साधना शब्द से यह है कि अखंड आत्मनिरीक्षण की जब तक आदत न हो जाये तब तक वह साधना है। जब वह स्वाभाविक बन जाती है तो साधना समाप्त हो जाती है और सिद्धि उपलब्ध होती है।

अब एक और बात। आत्मनिरीक्षण यह introspection नहीं। आत्मनिरीक्षण और परीक्षण दोनों भिन्न हैं। परीक्षण में आती है आलोचना और परीक्षण में आता है निर्णय। उसमें आता है judgement यानी परीक्षक बनकर हम एक निर्णय दे देते हैं और निरीक्षण में कुछ नहीं है। देखना, तटस्थ होकर

साक्षी भाव से देखना कि क्या हो रहा है। और यह देखना जब सीखते हैं तब बड़ा आनंद आता है। शीशे में मुँह देखना तो हम सब जानते हैं—लेकिन आत्मनिरीक्षण के शीशे में अपना व्यवहार देखना, तटस्थता से व्यवहार देखना, इसमें फिर इतनी ग़लतियाँ, इतनी त्रुटियाँ, इतनी खामियां तटस्थता के आलोक में नज़र आती हैं जो आज नहीं आतीं। तो मैं आपके सामने introspection या आत्मपरीक्षा नहीं रख रही हूं। नहीं तो लोग क्या करते हैं, क्रोध आया, बहुत बुरा हुआ, क्यों क्रोध आया, इतना जप किया, इतना सत्संग किया फिर भी इतना गुस्सा आता है, मुझसे तो कुछ नहीं होगा, मैं कभी अध्यात्म में आगे नहीं बढ़ूंगा। दे दिया निर्णय—judgement यानी अपने भीतर छिपी हुई सभी संभावना जैसे उस आदमी ने देख ली हों, उसमें से आती है आत्मग्लानि, आत्मधिक्कार, विषाद, उस तरफ़ नहीं जाना। आपको आश्चर्य होगा कि यह जो अवलोकन है, यह जो निरीक्षण है महा कठिन कर्म है। कोई किसी प्रकार का पूर्वग्रह नहीं, किसी प्रकार के परीक्षण की आकांक्षा नहीं, किसी प्रकार के मूल्यों का चश्मा लगाया नहीं, देख रहे हैं, ऐसा जो देखना है उसको आप कह सकते हैं observation—अवलोकन। लेकिन वह देखना हमें आता ही नहीं।

हम देखते हैं तो हमारी आंखों में विकार भर कर देखते हैं, विचारों को भर कर देखते हैं, मूल्यों का चश्मा लगाकर देखते हैं। पता नहीं कि हम लोगों में से कभी किसी ने एक दूसरे की तरफ़ तटस्थ होकर देखा भी है। एक बार आप मिले, आपने कुछ बातें कीं। उस बार शायद आपने कुछ विशिष्ट प्रकार के कपड़े पहने हों, तो आपके कपड़े, आपका चलना, बैठना, आपका देखना, बोलना, आपका बातें करने का

ढंग, आपकी शब्द-प्रणाली, आपकी संवाद करने की पद्धति— इन सब का मैंने मूल्यांकन कर लिया, यह sophisticated (परिष्कृत) है, यह जंगली है, यह मराठी है, यह गुजराती है, यह जैन है, यह हिंदू है; फिर ४ या ८ दिन के बाद किसी ने कहा है कि श्री. 'अ ब क' ने ऐसा किया तो मैं कहूंगी कि वह मराठी है, इसलिये ऐसा नहीं करेगा तो और क्या करेगा ? जो एक बार आप मिले उसकी छाप मुझ पर पड़ी I reduced you to some abstract evaluation—उसका निष्कर्ष मैंने अपने लिये बना लिया और then I put you under some category—फिर मैंने आप को किसी श्रेणी में डाल दिया। यह अच्छा है, यह बुरा है, यह साधु है, यह संत है। यह पापी है --और फिर उस श्रेणी में आपको रख दिया, जैसे किसी चित्र को एक फ्रेम में मढ़ देते हैं। अपने पास बहुत सारी 'केटेगरी' (श्रेणी) पड़ी हैं, बहुत से 'लेबल' हैं, उनमें अब आदमियों को जड़ देते हैं, चौखट में उस आदमी को जड़ देते हैं और कभी भी इसके बाद मिलना हुआ तो कहेंगे, "अरे, यह तो वही है"। हो सकता है वह व्यक्ति पहले जब मिला था, उसके बाद ८ दिन में अपने जीवन में ऐसा परिवर्तन लाया हो जिसकी मुझे कुछ जानकारी भी नहीं है, लेकिन मेरा तो पहली बार का पूर्वग्रह है। उसी के चश्मे से मैं आपकी तरफ़ देखती हूँ। अगर आपने कभी मेरी तारीफ़ की होगी तो मुझे कुछ गुदगुदी हुई होगी। तो उस अनुकूलता की स्मृति जाग उठती है और आपको देखकर बहुत हर्ष होता है। और आपने कुछ आलोचना की होगी मेरी, कुछ अहंकार को ठेस पहुँची है तो मुझे याद रहेगा कि यह तो ऐसा व्यक्ति है। पता नहीं कि मैं कितने शीशे चढ़ा-चढ़ा कर देखती हूँ। यह आया है, पता नहीं क्या-क्या कहेगा यानी आपको मिलने से पहले ही आपके और मेरे बीच पूर्वग्रह के झीने-झीने

पर्दे लग जाते हैं। इसलिये एक दूसरे से मिल नहीं पाते। और तो और पति-पत्नी, माता-पुत्र, भाई भाई इनके बीच भी पूर्वग्रह के बहुत ही नाजुक delicate curtains झीने-झीने पर्दे हैं, जिनकी बनावट में व्याख्या, विकार, विचार चले गये हैं ताने और बाने में। झीनी चादर कहते हैं न, तो ऐसी झिरझिरी चादर ओढ़कर घूँघट में से ही देखते हैं। घूंघट का पट खुलता ही नहीं हमारा। इसलिये एक दूसरे की आंखों में झांक कर उन आंखों में से जो चैतन्य दिखता है उसका दर्शन हम कर नहीं पाते, एक दूसरे के रुदन और स्मित के पीछे जो ऊर्जा का स्पंदन है, उसका स्पर्श हमें हो नहीं पाता। न सान्निध्य है, न सहवास है, न संवाद है, न सहजीवन है। एक दूसरे से टूटे हुए, बिखरे हुए, रेलवे कम्पार्टमेंट में बैठे हुए मुसाफिरों की भांति जीते चले जाते हैं। भले ही एक छप्पर के नीचे क्यों न २४ घण्टे रहते हों। यह हमारा जीवन है।

तो जब पता चलेगा कि तटस्थ होकर देखने का कर्म निरीक्षण है तब समझ में आएगा कि यह निरीक्षण एक बहुत बड़ा आयाम है जीवन का। A state of observation is a dimension of life by itself तटस्थ निरीक्षण की अवस्था में या साक्षित्व में चैतन्य का प्रतिष्ठान होना जीवन का एक नया आयाम है It is a new dimension of life। Criticism (आलोचना) नहीं करते, चैतन्य की प्रतिष्ठा है, आलोचना नहीं, judgement (निर्णय) नहीं है। जागते हैं, समझते हैं, ऐसी जड़ता नहीं है कि किसी ने गाली दी तो गाली नहीं समझेंगे। तटस्थता में और जड़ता में बहुत अंतर है। समझते हैं सब कुछ, लेकिन समझने के बाद उसका आवेग भीतर उठता नहीं है और उन आवेगों के गुलाम बनकर हम व्यवहार

नहीं करते हैं। इतना अन्तर रह जाता है इसलिये कि the very quality of consciousness goes through radical revolution। जो हमारा मन है वह मन ही एक प्रकार की आमूलाग्र क्रान्ति में से चला जाता है, जिसके लिये मैंने total transformation नाम दिया। तो यह निरीक्षण की अवस्था जो है, यह निरीक्षण का जो 'सर्च लाइट' है वह 'सर्च लाइट' of the act of observation बाहर और भीतर दोनों तरफ़ घूमता रहता है। बाहर-भीतर कहने का तात्पर्य है कि यह घूमता रहता है। उसके आलोक में हम जीवन को देखते हैं। इसके लिये बड़ा साहस चाहिये मेरे मित्रों, क्योंकि, तटस्थता के आलोक में अपना जो स्वरूप दिखता है, अपना व्यवहार कितना क्षुद्र है, छोटी-छोटी चीज़ों को लेकर कितने प्रकार की ईर्ष्या भरी पड़ी है, कितना व्यवहार अहंकार से प्रेरित होकर करते हैं, कितना व्यवहार कुल और परंपरा के अभिमान में से, अभिनिवेश में से आता है, कितना व्यवहार प्रान्तीयता के प्रेम से, अभिनिवेश में से आता है, कितना व्यवहार हमारे सम्प्रदाय और धार्मिक अभिनिवेश में से आता है, आसक्ति में से आता है, यह सब देखेंगे तो पता चलेगा कि मानवता दब गई है, यह तो ऊपर की परत (layer), स्तर है।

अब यह तो सीखने में कुछ मुश्किल नहीं है, जिसको आप साधना कहते हैं यह मुश्किल तो नहीं है, और यह साधना दूसरा व्यक्ति मेरे लिये नहीं कर सकता। आप के भीतर और मेरे भीतर में क्या चल रहा है यह तो आप ही जान सकते हैं, या मैं ही जान सकती हूँ। यह ठीक है कि दूसरे के विचार पढ़ने की शक्ति जिसको है वह यह जान सकता है, लेकिन वह बात अलग है। लेकिन २४ घंटे में आप के व्यवहार का स्वरूप क्या है,

उसकी जड़ें कहाँ हैं यह तो आप ही देख सकते हैं, दूसरा कोई नहीं देख सकता। इसलिए मैंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में न केवल शक्ति है, क्षमता है, बल्कि उसका साधना-पथ जो भीतर है, वह उसी को खोजना पड़ता है, बरदाश्त करना पड़ता है, कदम उसको चलाने पड़ते हैं, बढ़ाने पड़ते हैं। तो व्यवहार में समग्रता को लाने के लिए निरीक्षण की साधना का अभ्यास करना चाहिये। आपने पढ़ा होगा, सुना होगा कि कई ऐसे यंत्रों के साथ प्रयोग किये हैं, पश्चिम में, magnifying glasses (आवर्धक काँच) होते हैं न, इस मशीन में कोई चीज़ आपने रख दी और आप आँख लगाकर देखते रहें। मान लीजिये कि कोई पत्ती रखी हुई है उसमें, या कोई पंखुड़ी रखी हो तो आप यदि गुस्से में हैं, तनाव में हैं, तनाव हो आपके दिल में, संघर्ष की बात हो तो आपकी आँखों में से संघर्ष के किरण जाकर पत्ती को छूते हैं तो पत्ती काँप उठती है। आपके देखने में, निरीक्षण में तटस्थता न हो तो बाह्य परिस्थिति पर भी उसका परिणाम होता है, और उसके साथ किसी 'कोम्प्यूटर ब्रेन' को लगा दिया जाय और उसका 'ग्राफ़' (चित्र) लीजिये तो अलग आयेगा। मनुष्य की आँख को 'मेग्निफाइंग ग्लास' (आवर्धक काँच) के पास लगा कर के देखिये, watch the behaviour of the petals or the leaves, you will find the difference; यह देख लिया। इसलिये मैं कहती हूँ कि देखना, निरीक्षण, यह कोई आसान काम नहीं। इसके लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता है। अखंड जागृति रखनी पड़ती है, दिन भर। तो यह साहस हो, यह कीमत चुकाने की तैयारी हो तो आत्मनिरीक्षण की कला और विज्ञान हम ज़रूर सीखें।

इन दो-तीन दिनों में, सभी विषयों की गहराइयों में मैं उतर नहीं सकी। सूचित इतना ही करना था कि आत्मनिरीक्षण का

विज्ञान है, और यह कला भी है,—the science and art of observation. मेरे लिए ध्यान का द्वार यह निरीक्षण का कर्म ही खोलता है। ध्यान में जो प्रवेश होता है वह आत्मनिरीक्षण की कला द्वारा होता है, तटस्थता के द्वारा होता है, क्योंकि ध्यान तो करना नहीं पड़ता मित्रो, ध्यान कोई क्रिया का विषय तो है नहीं, हमने उसको भी मानसिक क्रिया का विषय मान लिया है। हम ध्यान करेंगे, अरे भाई, ध्यान करना नहीं पड़ता और करना पड़ता हो तो वह ध्यान नहीं, और कुछ हो सकता है। ध्यान तो एक चित्त की अवस्था है जिसमें किसी प्रकार की व्यग्रता नहीं, किसी प्रकार की व्यस्तता नहीं, निष्कम्प, निस्तरंग ऐसी जो चित्त की अवस्था है, वह ध्यान की अवस्था है। उसको आप क्या करेंगे? लेकिन इस देश में ध्यान को भी लोग करना चाहते हैं, उसको भी, अकर्म को भी कर्म ही बनाते हैं और अक्रिया को क्रिया बनाना चाहते हैं; ऐसे हम शूर, वीर, महावीर हैं। क्या करें? एकाग्रता करने की चीज़ है—concentration और वह की भी जाती है। सब विषय में से चित्त को हटाकर एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देना to focus your attention on one point उसको concentration (एकाग्रता) कहते हैं। वह परिश्रम का विषय है, वह करने का विषय है, लेकिन ध्यान में तो होना पड़ता है, ध्यान करना नहीं पड़ता।

इसलिये मैंने कहा कि ध्यान की अवस्था के द्वार खुलते हैं तटस्थता और आत्मनिरीक्षण से। तो यह सीखना पड़ेगा कि एक दूसरे की तरफ़ हम देखें, विकार-रहित हो कर। विकार शब्द भी बड़ा मजे का शब्द है। हम समझते हैं कि विकार यानी काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि ६ ही विकार हैं, मगर शास्त्रीय दृष्टि से विचार भी विकार है। चित्त में उठनेवाले हर



तरंगों को विकार कहते हैं, तो हमने जो षड्विकार गिने हैं, उसी में exhaustive list (पूर्ण तालिका) मान ली, वास्तव में वह पूर्ण तालिका नहीं है, केवल सूचक है। तो विकार-रहित दृष्टि से देखना यानी निरीक्षण करना यह मतलब है। किसी भी प्रकार के विचार नहीं उठते, और ऐसी चित्त की अवस्था हमारी एक मिनट भी नहीं रहती। हम तो जब आपकी तरफ़ देखते हैं और आप हमारी तरफ़ देखते हैं तो हमें पता नहीं कि आप के भीतर कितनी स्मृतियां उठती होंगी, या तो भूतकाल की स्मृतियों की झलक है और आगे के स्वप्नों का नशा है। ऐसे व्यक्ति मैंने बहुत कम देखे हैं जिनकी आंखों में स्मृतियों का नशा नहीं है और भविष्य के स्वप्नों का नशा नहीं है, जिनकी आंखें बिलकुल निर्मल हैं। ऐसे व्यक्ति देखने में बहुत ही कम आये, क्योंकि बौद्धिक स्मृति खेलती रहती है, चित्त खेलता रहता है और अब उसमें से आप बाहर देखते हैं तो? यह act of observation जो कर्म है, देखने का; देखना बड़ा सुन्दर शब्द है, दृष्टि, दर्शन—यह देखने का जो कर्म है, इसकी साधना करनी पड़ती है। और क्या साधना करनी पड़ती है कि प्रतिक्षण हमारा व्यवहार होता है तो भूतकाल की स्मृति से प्रेरित है, भविष्य के स्वप्न से प्रेरित हैं या सामने जो वर्तमान के क्षण उपस्थित है उसके प्रतिसाद के रूप में व्यवहार है। यह आत्म-निरीक्षण, तटस्थ निरीक्षण, किसी के लिये भी बहुत मुश्किल है, ऐसा मैं नहीं मानती हूं, यदि कोशिश की जाये तो। लेकिन हम क्या करते हैं? एक घंटा यदि मंदिर में बैठना है तो, उसमें जागृत रहना पड़ता है और उसकी हमें थकान लगती है, रहने की आदत नहीं। सत्संग में बैठते हैं सावधान रहना पड़ता है, घर जाते हैं तो थकान आती है, क्योंकि हमें सावधान रहने की आदत नहीं है, हमें तटस्थता का अभ्यास नहीं हैं, किसी भी

विकार के ऊपर सवार होंगे तो फिर चलती है गाड़ी, अब तटस्थता में कुछ आधार नहीं, कुछ नहीं, विचारों का नहीं, विकारों का नही। इसलिये उसमें, निरालंब अवस्था में रहना हमारे लिये एक बहुत बड़ी थकान देने वाली चीज़ है। इसलिये मैंने कहा कि कुछ समय तो कठोर परिश्रम करके इस विज्ञान को साधना पड़ता है। संगीत में ७ स्वर हैं न। सा. रि. ग. म. प. ध. नि.। लेकिन प्रत्येक को सीखना पड़ता है। आजकल के संगीत विद्यालय की बात नहीं करती हूँ, जिसमें १ महीने में आप १० राग भी सीख सकते हैं। यहाँ तो राग बेचारे रोते होंगे। इसमें राग का व्यक्तित्व क्या है, षड्ज क्या है, ऋषभ क्या कहता है, गांधार के कितने प्रकार हैं ऐसा सीखना हो तो एक षड्ज सीखने के लिये भी १२ महीने लग जाते हैं। स्वरों के बीच जो अंतर है मौन का और शून्यता का, जिसमें संगीत का सही मर्म है, दो स्वरों के बीच जो अन्तर है, उस अन्तर का मज़ा जो पहचान सकता है, लूट सकता है, वही संगीत का मज़ा लूटता है। तो हैं तो ७ स्वर—उसी पर आप जानते हैं कि कितना बड़ा संगीत का शास्त्र, संगीत की कला आधारित है। उसी प्रकार यह जो तटस्थ निरीक्षण का विज्ञान है और कला है, इसके आधार पर ही आगे जो मौन और शून्यता का साम्राज्य है, उसका आनन्द निर्भर है। कोई यदि कहेगा कि विद्यालय में जाकर शिक्षक ने कह दिया कि संगीत में ७ स्वर हैं, इनके विभिन्न संयोजनों से थाट और थाट में से राग आता है, तो उससे क्या होगा? तालिकायें बनाने से भी क्या होगा? जब तक वह घर जाकर बैठेगा नहीं, सुर को साधेगा नहीं, कंठ में से वह सुर जब तक निकलता नहीं तब तक उसको संगीत का आनंद नहीं। वैसे ही हम और आपने यह निरीक्षण क्या है, तटस्थता क्या है, समग्रता क्या है, शब्द सुन लिया, शब्द-कोष में देख



लिया, कोई मतलब होता है ? परन्तु कर्म को समग्रता के साथ जोड़ने से क्या होता है, तटस्थता से क्या होता है, विनम्रता से क्या होता है ? घर जाकर एक भी स्वर साधने की जिसकी तैयारी नहीं वह संगीत क्या सीखेगा ? कोई सुन्दर कमरा हो, गद्दा बिछाया हो, और यदि किसी ने कहा कि तैरना ऐसा है ये इसके विभिन्न ढंग हैं अंग-संचालन के—ऐसे हैं—वैसे हैं—तो उसने चलाया गद्दे पर हाथ-पांव, पानी में उतरने को कहा तो कहता है कि पानी में नहीं उतरूँगा, पानी ठंढा है, सर्दी हो हो जायेगी। अध्यात्म में यही पानी के प्रवाह में कूदना है।

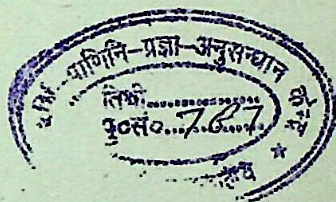
तो हम सिर्फ किनारे पर बैठने वाले यदि हों, अपना मापदण्ड (yardstick) लेकर दूसरों की अनुभूतियों के स्तर जाँचने, घर बैठकर नापने का ही यदि हमें शौक़ हो तो ठीक है, कुछ सस्ता बौद्धिक मनोरंजन cheap and vulgar entertainment for the inlelleot मिल जायेगा, कुछ सनसनीखेज मिल जायेगा जीवन के ढर्रे (routine life) में, लेकिन अध्यात्म-जीवन का आनन्द उसमें से नहीं आता।

आज यह विषय रखा गया कि सहाय, सहयोग और आश्रय, उसमें क्या अन्तर है ? वातावरण से या किसी व्यक्ति से सहयोग और सहाय लेने में हर्ज नहीं है, इतना ही नहीं, एक-दूसरे की मदद, सहाय लेते हुए मनुष्य आगे बढ़ता है। कोई व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि मैंने किसी से किसी प्रकार की मदद नहीं ली। कम से कम मैं तो नहीं कह सकती हूँ। ५ साल की उम्र से इस विश्व से, मैं सीखती आई हूँ, बच्चों से, बच्ची से, वृद्धों से, भिखारी से, राजा से, नेताओं से, अनुयायिओं से, मूर्खों से, पापियों से, सन्तों से, साधुओं से। ऐसा कोई व्यक्ति आज तक मुझे नहीं मिला जिससे मैं कुछ नहीं सीख सकी हूँ। क्योंकि एक-एक व्यक्ति अद्वितीय है। एक जैसा दूसरा नहीं। भगवान् के

घर तो कोई कारखाना नहीं जिसमें स्तरीकृत एक समान उत्पादन (standardised regimentation on the man scale) कर दे। उसमें एक-एक व्यक्ति अद्वितीय बना है। इसलिये एक व्यक्ति से जब मैं मिलती हूँ तो एक वैश्विक चेतना का ऐसा पन्ना सामने आता है कि जो पहिले कभी नहीं पढ़ा था। बड़ा आनन्द आता है मनुष्यों से मिलने में, मनुष्य के सहवास में ऐसा आनन्द आता है, अद्भुत आनन्द आता है जो किसी को मन्दिर में जाकर मूर्ति के दर्शन में आता है। हरेक की आँखों में झाँकती हूँ और देखती हूँ; उसका जीवन-चरित्र उसके चेहरे की रेखाओं पर अंकित रहता है, उसको देखती हूँ और प्रभु की लीला देखते-देखते आनन्द-मग्न हो जाती हूँ, आनन्द-विभोर।

तो, सहयोग, और सहवास लेना वैज्ञानिक तरीका है सीखने का, the art of learning, लेकिन आश्रित बन जाना, निर्भर हो जाना, किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में कैद हो जाना, किसी व्यक्ति के पथ, प्रणाली में गिरफ्तार हो जाना यह अपनी मानवता का अपमान करना है। यहाँ से प्रारम्भ किया और हम आगे बढ़े और हमने कहा कि यह निरीक्षण जो है, उसकी कला और विज्ञान सीखना चाहिये। निरीक्षण की कला के लिये तटस्थता की आवश्यकता है, यह बात कही गई। तटस्थता का मतलब है अपनी प्रतिक्रियाओं का भान और प्रतिक्रियाओं की गुलामी का भान, गुलाम बनने से इन्कार; इसकी साधना २४ घण्टे, एक घंटा नहीं, दो घण्टा नहीं, २४ घण्टे करनी पड़ती है। जब वह स्वभाव बन जाता है तो फिर जिसको आप ध्यानावस्था कहते हैं वह उसमें से निष्पन्न होती है।यहाँ तक आज लाया गया।

———


पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथि.........
क्र०सं०...787